सोहनलाल द्विवेदी ग्रंथावली

संपादक
राकेशगुप्त

श्री सोहनलाल द्विवेदी की लिखी हुई रचनाएँ मैंने सुनीं। वे मुझे बहुत पसन्द आयीं। इनसे जनता में अच्छे भाव पैदा होंगे। —**जवाहरलाल नेहरू**

तुम्हारी कविताओं ने देश में सम्मान पाया है। मुझे विश्वास है कि इनका और भी अधिक प्रचार होगा। राष्ट्र के उत्थान और अभ्युदय में ये सहायक हों, ऐसी मेरी कामना है। —**(महामना) मदनमोहन मालवीय**

श्री सोहनलाल द्विवेदी की साहित्यिक और सामाजिक सेवाओं के लिये उनका अभिनन्दन करना उचित ही है।

—**इन्दिरा गाँधी**

ये सभी रचनाएँ भाषा, भावोच्छ्वास, छन्दविन्यास और जन-साहित्य की दृष्टि से उत्तम सृष्टि हैं।

—**श्री सुमित्रानन्दन पन्त**

श्री सोहनलाल जी द्विवेदी हिन्दी-साहित्य के एक सफल तथा सुप्रसिद्ध कवि हैं, और उनकी कविताएँ बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुई हैं। —**भक्त दर्शन**

द्विवेदी जी की कविताएँ केवल कलाकारों के लिए ही नहीं हैं। उनमें रस तो होता ही है, पर साथ में कुछ जीवन उपयोगी सार भी रहता है। कविता केवल विलास के लिए हो और सार न हो तो फिर वह निर्जीव सी बन जाती है। इस दृष्टि से 'सेवाग्राम' की रचनाएँ अत्यन्त उपयोगी और पठन-पाठन के योग्य हैं। —**घनश्यामदास बिड़ला**

आज के कवियों में श्री सोहनलाल जी द्विवेदी की कविताओं की राष्ट्रीयता तथा प्रभावोत्पादकता से साहित्य-मर्मज्ञ बहुत प्रभावित हैं।......सत्काव्य का लक्षण यह है कि वह सद्यः हृदयग्राही हो। अतः सोहनलाल जी की कविता अवश्य उच्चकोटि की है। इसमें प्रत्येक रुचि को सन्तुष्ट करने की सामग्री है।......द्विवेदी जी की कृति शिष्ट है, रसपूर्ण तथा शक्तिपूर्ण है।

—**(प्रोफेसर) अमरनाथ झा**

सोहनलाल द्विवेदी ग्रन्थावली

वंदना

हे भगवान !
दया - निधान !
मुझको दो इतना वरदान,
चाहे दुख हो,
चाहे सुख हो,
रहे देश का हरदम ध्यान !
बाधाओं में,
विपदाओं में,
धीरज धरूँ, बनूँ बलवान !
तन - मन वारूँ,
जीवन वारूँ,
भारत पर होउँ कुरबान !

—सोहनलाल द्विवेदी

सोहनलाल द्विवेदी ग्रन्थावली

सम्पादक

राकेश गुप्त
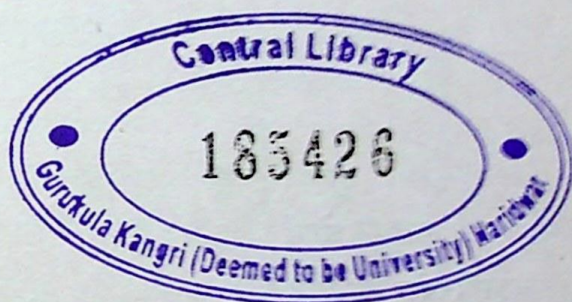
ग्रन्थायन
सर्वोदय नगर, सासनी गेट
अलीगढ़-202001

प्रकाशक :
ग्रन्थायन,
सर्वोदय नगर, सासनीगेट,
अलीगढ़–202001

संस्करण : 1996

मूल्य : दो सौ पचास रुपए मात्र
(250.00)

मुद्रक :
नवयुग प्रेस,
महावीरगंज, अलीगढ़

SOHAN LAL DWIVEDI GRANTHAVALI

(Complete Works of Pandit Sohan Lal Dwivedi)

Edited by Dr. RAKESHGUPTA

Published by
GRANTHAYAN
Sarvoday Nagar, Sasni Gate,
ALIGARH-202001

प्राक्कथन

पं० सोहनलाल द्विवेदी स्वतंत्रता-पूर्व एवं स्वातंत्र्योत्तर युगों के सर्वाधिक लोकप्रिय राष्ट्रकवि हैं। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पहले देश का राष्ट्रीय रंगमंच जिन महत्वपूर्ण विभूतियों के तेज से आलोकित था, द्विवेदी जी उन सबके आत्मीय तथा प्रीतिभाजन थे, और वे सब द्विवेदी जी के परम प्रशंसक थे। महात्मा गांधी की वाणी को दूर-दूर तक काव्य के सरस माध्यम से पहुँचाने का महनीय कार्य द्विवेदी जी ने पूरी सफलता के साथ सम्पन्न किया। उनकी रचनाओं से किशोरों को प्रेरणा और नवयुवकों को मातृभूमि पर मर-मिटने का उत्साह मिला है। उन्होंने किसी 'प्राकृत जन' का गुणगान नहीं किया। उनके परमाराध्य हैं विश्ववंद्य बापू और अभिनंद्य हैं पं० मदनमोहन मालवीय, पं० जवाहरलाल नेहरू, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, सरदार वल्लभ भाई पटेल, संत विनोवा भावे, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन, श्री लाल बहादुर शास्त्री, महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर एवं राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त। श्रीमती इन्दिरा गांधी के व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य को द्विवेदी जी की ये दो पंक्तियाँ कितने शक्त रूप में उजागर करती हैं—

भारत का सौभाग्य ! मिली जननी को बेटी मरदानी,
जिसने किसी चुनौती में है जानी नहीं हार खानी।

द्विवेदी जी ने स्वतंत्रता के बाद की मोहभंग-जन्य निराशा को भी पूरी ईमानदारी से अभिव्यक्त किया है। उनकी वाणी में जनता की आशा-आकांक्षा, निराशा-आक्रोश आदि भाव मूर्त हुए हैं। उनकी रचना व्यक्तिगत कुंठा और संत्रास से मुक्त है। वे सच्चे अर्थों में आम आदमी के प्रतिनिधि हैं। उनकी अपनी कोई व्यथा नहीं है, वे तो आम आदमी की व्यथा से ही व्यथित हैं। बीमारी का सही निदान भी वे कर सके हैं और उपयुक्त उपचार का विधान भी—

व्यथा दूर हो सभी देश की, इतना आज अगर कर पाओ,
सिंहासन का मोह छोड़कर जनता के साथी बन जाओ ।।

पर न जाने, हमारे शासक और नेता इतना कब कर पाएंगे ? जिस शुभ दिन वे जनता के सच्चे साथी बन सके, हमारा 'गणतंत्र' उसी दिन सफल और सार्थक होगा ।

हृदय की कोमल भावनाओं से भी हमारा कवि अनजान नहीं है । कोई भी सहृदय कवि हृदय के कोमल पक्ष की उपेक्षा कर भी कैसे सकता है ? द्विवेदी जी ने 'वासंती' और 'चित्रा' में इन्हीं भावनाओं की सहज, सरस एव अकुंठ अभिव्यक्ति की है । उन्होंने अपनी रचना को प्रतीकों और अलंकारों के भार से बोझिल नहीं बनाया । उनकी प्रसन्न-प्रांजल वाणी ऋजुता से मर्म का स्पर्श करती हुई हृदय को गुदगुदा देती है, यथा —

नयनों की रेशम डोरी से--
मत गूँथो मेरा हीरक-मन अपनी कोमल बरजोरी से ।

अथवा

आज आतुरता बढ़ी इतनी कि टूटा अमर संयम ।

कवि ने अपने कथा-काव्यों में भारत के गौरवपूर्ण अतीत की, हमारी सांस्कृतिक एवं नैतिक धरोहर की, मनोरम झाँकी प्रस्तुत की है । लेकिन कथा कहना मात्र कवि का उद्देश्य नहीं है । किसी उदार तथा महत् चरित्र को मूर्त करना ही उसका प्रधान लक्ष्य है । 'वासवदत्ता' में गौतम का अपूर्व संयम, 'कुणाल' में नायक का प्रतिशोध की भावना से सर्वथा मुक्त असाधारण औदार्य, 'विषपान' में देव और दानवों के कल्याण के लिए शिवशंकर का स्वयं को संकट में डालने का अद्भुत साहस तथा 'संजीवनी' में मानव-मन मे घटित सत् और असत् का संघर्ष मुखरित हैं :

कच ब्रह्मचर्य संकल्प-शक्ति का बल है,
कामना देवयानी का मन दुर्बल है ।

तथा

हममें ही सुर हैं, असुर, देव-दानव भी,
है सबका मूलाधार एक मानव ही ।

निष्कर्ष रूप में यह कहना पर्याप्त होगा कि द्विवेदी जी की रचना के केन्द्र में, वह रचना चाहे राष्ट्रीय हो, चाहे सांस्कृतिक हो, चाहे प्रेम-संबंधी हो,

केवल मानव है, और 'मानव' में उसका त्याग और बलिदान, उसका तेज और ओज, उसकी आशा-अकांक्षा सभी समाहित हैं। मानव का चारित्रिक उत्थान और कल्याण ही कवि का इष्ट है।

जब तक भारतवासियों के मन में मातृभूमि के प्रति अनुराग की भावना है, जब तक महात्मा गांधी के प्रति हमारे मन में श्रद्धा है, तब तक कवि की ये पंक्तियाँ कोटि-कोटि कंठों में निरंतर गूँजती रहेंगी—

वंदना के इन स्वरों में एक स्वर मेरा मिला लो।

तथा

चल पड़े जिधर दो डग मग में, चल पड़े कोटि पग उसी ओर।

स्वतन्त्रता दिवस, १९८६ —**राकेशगुप्त**

प्रकाशकीय

हिन्दी के श्रेष्ठ एवं लोकप्रिय राष्ट्रकवि पद्मश्री सोहनलाल द्विवेदी, डी० लिट्० की समस्त काव्य-रचनाओं का यह संकलन राष्ट्रभाषा-प्रेमियों को समर्पित करते हुए हमें परम संतोष का अनुभव हो रहा है। हिन्दी में अनेक बड़े-बड़े प्रकाशकों के रहते हुए महाकवि ने यह अवसर प्रदान करके हमें गौरवान्वित किया, एतदर्थ हम उनके आभारी हैं। ग्रंथावली के संपादक का यह प्रयत्न रहा है कि कवि की रचनाएँ यथासंभव शुद्ध रूप में पाठकों के सामने आ सकें।

इस ग्रंथावली में कवि का बाल-साहित्य समाविष्ट नहीं है। **भैरवी** से लेकर **संजीवनी** तक लेखक की बारह कृतियाँ इसमें संगृहीत हैं। **सेवाग्राम** और **गान्ध्ययन** संकलन-ग्रंथ हैं। इनकी कविताएँ कवि के अन्य ग्रंथों में आ चुकी हैं केवल एक रचना को छोड़कर, जिसे पृष्ठ ५०२ पर दे दिया गया है। कवि द्वारा डॉ० राकेशगुप्त को व्यक्तिगत पत्रों के रूप में लिखित कुछ रचनाएँ आरंभ में ही उद्धृत हैं। संभव है, कवि ने अपने अन्य मित्रों को भी इसी प्रकार के काव्यमय पत्र लिखे हों। पर खेद है, हमें ऐसे कोई पत्र प्राप्त न हो सके।

हमारा विश्वास है कि हिन्दी के एक मात्र विद्यमान राष्ट्रकवि की ग्रंथावली का हिन्दी जगत् हार्दिक स्वागत करेगा।

—अभयकुमार गुप्त,
स्वत्वाधिकारी, ग्रंथायन

अनुक्रम

राष्ट्रकवि के संपादक के नाम कुछ काव्यमय पत्र

(१)

भूल गए इतना कैसे,
जैसे कोई पहचान न हो,
फिर मिलने - जुलने का जैसे
मन में कुछ अरमान न हो ?
इतने निर्मम बनो नहीं.
मुझ पर करुणा करनेवाले !
बरसो, सहज स्नेह के निर्झर !
मुझे विरह का ज्ञान न हो।
फिर मुखरित संगीत करो
जो दे विस्मृति में डुबा हमें,
तुम हो और, और मैं हूँ,
जिससे यह मन में भान न हो।
यह जीवन है भार, प्यार का
संबल जब तक साथ न हो;
इतनी करुणा करो कि अब
यों दूर तुम्हारा ध्यान न हो।
संचित पुण्यों का फल था जो
मिला मुझे तुम सा सहृदय;
करो प्रतीति-दीप को जगमग,
जिसका फिर अवसान न हो।

(१०-६-१९५१)

(२)

आया हूँ मैं द्वार तुम्हारे
जी में सकुचाते - सकुचाते।
शंकित मन, झंकृत उर-वीणा,
हो न तुम्हारी ममता क्षीणा,
वंचित रह जाऊँ न कहीं मैं
संचित निधि को पाते-पाते।
(२-८-१९५२)

(३)

बंधु, तुम्हारे अतुल स्नेह का
अधिकारी मैं हो न सकूँगा।
जब भी तुमने अवसर पाया,
मेरा मुरझा मन विकसाया,
मधु - सौरभ भर सरस बनाया,
मैं लघु मधुप, विपुल वसंत का
श्री-सुख-वैभव ढो न सकूँगा।
बंधु, तुम्हारे अतुल स्नेह का,
अधिकारी मैं हो न सकूँगा।
(४-८-१९५३)

(४)

बंधनों को तोड़कर
आऊँ तुम्हारे पास;
सफल हो यह साधना,
दो शक्ति, पुण्यप्रयास!
स्नेह यह बन जाय अपना
स्वर्णमय इतिहास।
खेलने दो, बंधु, अपने
अधर पर मृदु हास!
(१०-१-१९५४)

[शेष पृष्ठ सोलह पर]

वंदना

हे सरस्वती के अमर पुत्र! हे तपःपूत! हे पुण्यकाम!
जन-जन के मन पर समासीन! तुमको मेरे शत-शत प्रणाम।
तुमने बच्चों के लिखे गीत मन भारत-मा की लिए पीर;
वे बनें राष्ट्र के तेजस्वी, सच्चरित, धीर, नवयुवक वीर।

नवयुवकों में फूँका तुमने वह उद्‌बोधन का मंत्र सबल,
जिससे बापू की रणभेरी का स्वर शतधा हो उठा प्रबल।
मज़दूर - किसानों की पीड़ा हो सकी मूर्त तेरे स्वर में;
युग की आशा - आकांक्षाएँ अभिव्यक्त हुई तेरे स्वर में।

युगनायक गाँधी की वाणी उन महामना ऋषि की पुकार,
हे राष्ट्रकवे! बन अग्रदूत तुमने पहुँचाई द्वार - द्वार।
'वासवदत्ता' में पहचाने तुमने मन की धड़कन के स्वर;
स्वर्णिम अतीत की दीप्ति दिखा रच दिया मधुरतम काव्य अमर।

कविता - धारा को चिर - अजस्र करते नव - रचना-दीप-दान —
तुम जियो शताधिक शरद, नित्य वाणी का जिससे बढ़े मान।
हे कोटि-कोटि जनता के कवि! हे राष्ट्र - भारती के जीवन!
हे अमर 'भैरवी' के गायक! तुमको मेरे शत - शत वंदन।

—राकेशगुप्त

राष्ट्रकवि पं० सोहनलाल द्विवेदी

बधाई

मिली पद्मश्री तुम्हें, बंधुवर !
मेरी तुम्हें बधाई।
आज राष्ट्र ने अपने कवि की
फिर आरती सजाई।
दिग् - दिगंत में फिर से गूँजें,
कविवर ! गीत तुम्हारे;
सोया राष्ट्र जगे यह फिर से
सुनकर गीत तुम्हारे।
बापू के पवित्र आदर्शों—
को यदि जग अपनाए,
यही अर्चना, यही वंदना
तो तेरे मन भाए।

—राकेशगुप्त
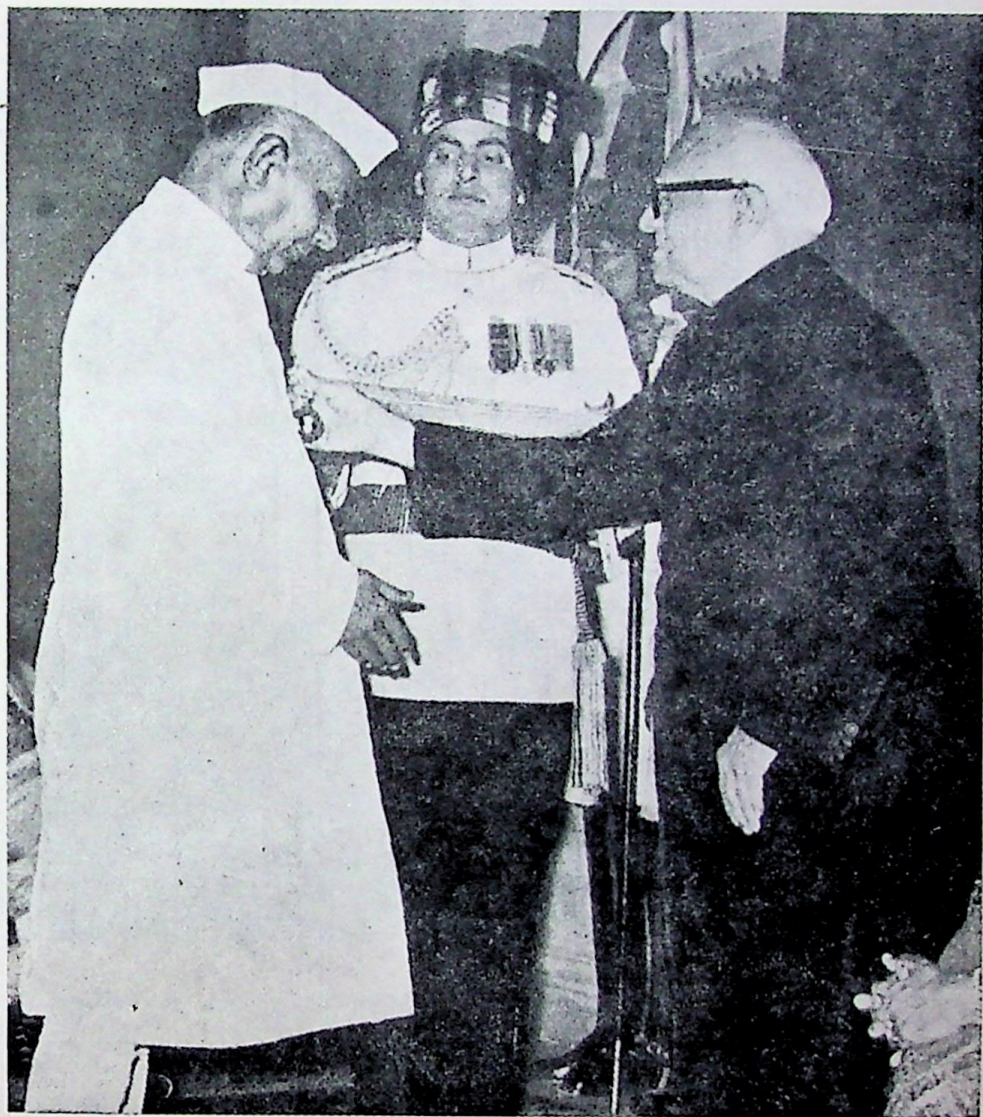
राष्ट्रपति से 'पद्मश्री' का अलंकरण ग्रहण करते हुए

(५)

मैं मौन रहूँ, तुम गाओ;
यह मेरा सौभाग्य,
भावनाएँ मेरी दुलराओ।
युग - युग मैंने तुम्हें मनाया,
मानस के मोती बिखराया;
ए मेरे राकेश,
आज जलनिधि में उतर समाओ।
ऐसी कोई कथा नहीं है,
इधर, उधर तो व्यथा नहीं है;
मेरे मौन प्रेम,
मुखरित हो मुझको मौन बनाओ।
मैं मौन रहूँ, तुम गाओ।

× × ×

प्रीति की यह पीर
देती ही रही जो यहाँ फेरे,
तो तुम्हारे पास
आऊँगा कभी मैं मुँह अँधेरे।
जान पाओगे नहीं,
यह कौन पथ में खड़ी छाया;
मौन मुखरित हो कहेगा :
यह तुम्हारा प्यार आया।

पुनश्च :

तुम मिलो भले ही युगों नहीं,
यों ही स्मृति में पर आओ तुम;
शत - शत सहस्र नव रूप धरे
आँखों में रास रचाओ तुम।
मेरे प्राणों के तारों में
वह विरह-मिलन झंकार उठे,
राकेश मिले आ सागर से,
लहरों में ऐसा ज्वार उठे।

(११-२-१९५४)

[शेष पृष्ठ अठारह पर]

महावीर जयन्ती की अध्यक्षता करते हुए, उद्घाटनकर्ता डा० कर्णसिंह के साथ

(६)

जीवन पतझर बना रहेगा,
क्या न कभी मिल पाएँगे ?
मधुर - मिलन - मधुऋतु के क्या फिर
फूल नहीं खिल पाएँगे ?
मेरे मधुवन के कोकिल ! मत
मौन रहो, कुछ बोलो तो;
द्वार बन्द, कब से मैं आया,
मुसकाकर तुम खोलो तो।

(२६-६-१९५४)

(७)

नया वर्ष नित मंगलमय हो,
चिर नूतन सौभाग्य उदय हो;
सुधा - स्नात हों अवनी - अंबर,
ताप - पाप क्षय, राष्ट्र अभय हो !

(२८-१२-१९८३)

राष्ट्रीय लेखक मंच, फ़रवरी १९७६

भैरवी

समर्पण

बापू !

आज से एक युग पहले अपनी प्राथमिक रचना 'खादी-गीत'
आपके हाथों में अर्पित की थी । इसे मैं आपके पावन-स्पर्श
का प्रसाद ही मानता हूँ कि वह इतनी लोकप्रिय हुई ।
आज फिर खादी-गीत तथा अन्य कविताओं के
संकलन 'भैरवी' को आपके पुण्य-पाणि में
समर्पित करता हूँ । यदि एक भी गीत
अच्छा बन पड़ा हो, तो
यह प्रयास सफल
मानूँगा ।

—सोहनलाल द्विवेदी

निवेदन

मुझे आज इन कविताओं के संबंध में कुछ नहीं कहना, जो कुछ कहना है, वह ये कविताएँ स्वयं कहेंगी।

—सोहनलाल द्विवेदी

'अधिकार'-आफिस,
लखनऊ
१-१-४१

आभार

भैरवी का हाथोंहाथ इतना स्वागत होगा, इसकी मुझे आशा नहीं थी। दूसरे ही वर्ष भैरवी का दूसरा संस्करण प्रकाशित हो रहा है, इसका श्रेय इसके उन्नतमना पाठकों को है।

समीक्षा एवं सम्मतियाँ लिखकर, जिन उदारमना विद्वानों ने भैरवी का गौरव बढ़ाया है, उनके प्रति कृतज्ञता से मस्तक नत है।

जिस आदर और स्नेह से बापू ने भैरवी को अपनाया, पढ़ा और प्रसन्नता प्रकट की, उसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ।

बापू ने तो कुछ वाक्यों से ही मुझे आत्मीयता के धागे में बाँध लिया। उन्होंने भैरवी पर सम्मति लिखकर भी देने को कहा था, किन्तु आज, जब यह दूसरा संस्करण प्रकाशित हो रहा है, तब तो बापू जेल में बन्द हैं।

सम्मति कैसे भेजें, और मैं मँगाऊँ भी तो किस प्रकार?

अतः यह संस्करण बापू के मौन आशीर्वाद के साथ प्रकाशित किया जा रहा है।

१ दिसम्बर, ४२
प्रयाग

—सोहनलाल द्विवेदी

पूजा-गीत

स्वतंत्रता पूर्व

वंदना के इन स्वरों में, एक स्वर मेरा मिला लो। — चि०

वंदिनी मा को न भूलो,
राग में जब मत्त झूलो;
अर्चना के रत्नकण में एक कण मेरा मिला लो।

जब हृदय का तार बोले,
शृङ्खला के बंद खोले,
हों जहाँ बलि शीश अगणित, एक शिर मेरा मिला लो।

युगावतार गांधी

चल पड़े जिधर दो डग, मग में, चल पड़े कोटि पग उसी ओर ;
पड़ गई जिधर भी एक दृष्टि, पड़ गये कोटि दृग उसी ओर ;
जिसके शिर पर निज धरा हाथ, उसके शिर-रक्षक कोटि हाथ ;
जिस पर निज मस्तक झुका दिया, झुक गये उसी पर कोटि माथ ।

हे कोटिचरण, हे कोटिबाहु ! हे कोटिरूप, हे कोटिनाम !
तुम एकमूर्ति, प्रतिमूर्ति कोटि ! हे कोटिमूर्ति, तुमको प्रणाम !
युग बढ़ा तुम्हारी हँसी देख, युग हटा तुम्हारी भृकुटि देख ;
तुम अचल मेखला बन भू की, खींचते काल पर अमिट रेख ।

तुम बोल उठे, युग बोल उठा, तुम मौन बने, युग मौन बना ;
कुछ कर्म तुम्हारे संचित कर, युगकर्म जगा, युगधर्म तना ।
युग-परिवर्त्तक, युग-संस्थापक, युग-संचालक, हे युगाधार !
युग-निर्माता, युग-मूर्त्ति ! तुम्हें, युग-युग तक युग का नमस्कार !

तुम युग-युग की रूढ़ियाँ तोड़, रचते रहते नित नई सृष्टि ;
उठती नवजीवन की नींवें, ले नवचेतन की दिव्य-दृष्टि ।
धर्माडंबर, के खँडहर पर, कर पद-प्रहार, कर धराध्वस्त ;
मानवता का पावन मंदिर, निर्माण कर रहे सृजनव्यस्त !

बढ़ते ही जाते दिग्विजयी, गढ़ते तुम अपना रामराज ;
आत्माहुति के मणिमाणिक से मढ़ते जननी का स्वर्णताज !
तुम कालचक्र के रक्त सने दशनों को कर से पकड़ सुदृढ़ ;
मानव को दानव के मुँह से ला रहे खींच बाहर बढ़ बढ़ ।

पिसती कराहती जगती के प्राणों में भरते अभय दान;
अधमरे देखते हैं तुमको, किसने आकर यह किया त्राण?
दृढ़ चरण, सुदृढ़ करसंपुट से तुम कालचक्र की चाल रोक,
नित महाकाल की छाती पर लिखते करुणा के पुण्य श्लोक!

कँपता असत्य, कँपती मिथ्या, बर्बरता कँपती है थरथर!
कँपते सिंहासन, राजमुकुट, कँपते खिसके आते भू पर।
है अस्त्र-शस्त्र कुंठित, लुंठित, सेनायें करती गृह-प्रयाण!
रणभेरी तेरी बजती है, उड़ता है तेरा ध्वज निशान!

हे युग-द्रष्टा, हे युग-स्रष्टा,
पढ़ते कैसा यह मोक्ष-मंत्र?
इस राजतंत्र के खँडहर में
उगता अभिनव भारत स्वतंत्र!

खादी-गीत

खादी के धागे – धागे में अपनेपन का अभिमान भरा;
माता का इसमें मान भरा, अन्यायी का अपमान भरा।
खादी के रेशे रेशे में अपने भाई का प्यार भरा;
माँ-बहिनों का सत्कार भरा, बच्चों का मधुर दुलार भरा।

खादी की रजत चंद्रिका जब आकर तन पर मुसकाती है,
तब नवजीवन की नई ज्योति अन्तस्तल में जग जाती है।
खादी से दीन-विपन्नों की उत्तप्त उसास निकलती है,
जिससे मानव क्या, पत्थर की भी छाती कड़ी पिघलती है।

खादी में कितने ही दलितों के दग्ध हृदय की दाह छिपी;
कितनों की कसक कराह छिपी, कितनों की आहत आह छिपी!
खादी में कितने ही नंगों, भिखमंगों की है आस छिपी;
कितनों की इसमें भूख छिपी, कितनों की इसमें प्यास छिपी!

खादी तो कोई लड़ने का है जोशीला रणगान नहीं;
खादी है तीर कमान नहीं, खादी है खड्ग-कृपाण नहीं।
खादी को देख देख तो भी दुश्मन का दल थहराता है;
खादी का झंडा सत्य शुभ्र अब सभी ओर फहराता है!

खादी की गंगा जब सिर से, पैरों तक बह लहराती है,
जीवन के कोने-कोने की तब सब कालिख धुल जाती है!
खादी का ताज चाँद-सा जब मस्तक पर चमक दिखाता है;
कितने ही अत्याचार-ग्रस्त दीनों के त्रास मिटाता है।

× × ×

खादी ही भर-भर देश-प्रेम का प्याला मधुर पिलायेगी;
खादी ही दे-दे संजीवन, मुर्दों को पुनः जिलायेगी;
खादी ही बढ़, चरणों पर पड़, नूपुर-सी लिपट मनायेगी,
खादी ही भारत से रूठी आज़ादी को घर लायेगी।

गाँवों में

(ग्राम-जीवन का एक रेखाचित्र)

जगमग नगरों से दूर-दूर, हैं जहाँ न ऊँचे खड़े महल
टूटे-फूटे कुछ कच्चे घर, दिखते खेतों में चलते हल;
पुरई – पालों, खपरैलों में, रहिमा – रमुआ के नावों में।
है अपना हिन्दुस्तान कहाँ ? वह बसा हमारे गाँवों में !

नित फटे चीथड़े पहने जो, हड्डी-पसली के पुतलों में,
असली भारत है दिखलाता नर-कंकालों की शकलों में;
पैरों की फटी बिवाई में, अन्तस् के गहरे घावों में।
है अपना हिन्दुस्तान कहाँ ? वह बसा हमारे गाँवों में !

दिन-रात सदा पिसते रहते कृषकों में औ' मज़दूरों में,
जिनको न नसीब नमक-रोटी, जीते रहते उन शूरों में;
भूखे ही जो हैं सो रहते, विधना के निठुर नियावों में।
है अपना हिन्दुस्तान कहाँ ? वह बसा हमारे गाँवों में !

उन रात-रात भर, दिन-दिन भर खेतों में चलते दोलों में,
दुपहर की चना-चबेनी में, बिरहा के सूखे बोलों में;
फिर भी, ओठों पर हँसी लिये मस्ती के मधुर भुलावों में,
है अपना हिन्दुस्तान कहाँ ? वह बसा हमारे गाँवों में !

अपनी उन रूप – कुमारी में, जिनके नित रूखे रहें केश,
अपने उन राजकुमारों में, जिनके चिथड़ों से सजे वेश;
अंजन को तेल नहीं घर में, कोरी आँखों के हावों में,
है अपना हिन्दुस्तान कहाँ ? वह बसा हमारे गाँवों में !

उस एक कुएँ के पनघट पर, जिसका टूटा है अर्ध भाग;
सब सँभल-सँभलकर जल भरते, गिर जाय न कोई कहीं भाग;
है जहाँ गड़ारी जुड़ न सकी युग-युग के द्रव्य - अभावों में,
है अपना हिन्दुस्तान कहाँ ? वह बसा हमारे गाँवों में !

है जिनके पास एक धोती, है वही दरी, उनकी चादर,
जिससे वह लाज सँभाल सदा निकला करतीं घर से बाहर।
पुर-वधुओं का क्या हो सिंगार ? जो बिका रईसों-रावों में !
है अपना हिन्दुस्तान कहाँ ? वह बसा हमारे गाँवों में !

सोने-चाँदी का नाम न लो, पीतल-काँसे के कड़े-छड़े
मिल जायँ बहूरानी को तो समझो उनके सौभाग्य बड़े !
राँगे की काली बिछियों में, पति के सुहाग के भावों में।
है अपना हिन्दुस्तान कहाँ ? वह बसा हमारे गाँवों में !

ऋण-भार चढ़ा जिनके सिर पर, बढ़ता ही जाता सूद-व्याज,
घर लाने के पहले कर से छिन जाता है जिनका अनाज,
उन टूटे दिल की साधों में, उन टूटे हुए हियाओं में,
है अपना हिन्दुस्तान कहाँ ? वह बसा हमारे गाँवों में !

खुरपी ले-ले छीलते घास, भरते कोछों की कोरों में,
लकड़ी का बोझ लदा सिर पर, जो कसा मूँज की डोरों में;
उनका अर्जन-व्यापार यही, क्या करें गरीब उपायों में ?
है अपना हिन्दुस्तान कहाँ ? वह बसा हमारे गाँवों में !

आजीवन श्रम करते रहना, मुँह से न किंतु कुछ भी कहना,
नित विपदा पर विपदा सहना, मन की मन में साधें ढहना;
ये आहें वे, ये आँसू वे, जो लिखे न कहीं किताबों में।
है अपना हिन्दुस्तान कहाँ ? वह बसा हमारे गाँवों में !

रामायण के दो-चार ग्रन्थ, जिनके ग्रन्थालय ज्ञान-धाम,
पढ़-सुन लेते जो कभी-कभी हो भक्ति-भाव-वश रामनाम,
जगपति-युगपति जिनको न ज्ञात, उन अपढ़ अनारी भावों में।
है अपना हिन्दुस्तान कहाँ? वह बसा हमारे गाँवों में।

चूती जिनकी खपरल सदा वर्षा की मूसलधारों में,
ढह जाती है कच्ची दिवार पुरवाई की बोछारों में,
उन ठिठुर रहे, उन सिकुड़ रहे थरथर हाथों में, पाँवों में।
है अपना हिन्दुस्तान कहाँ? वह बसा हमारे गाँवों में!

जो जनम आसरे औरों के, युग-युग आश्रित जिनकी सीढ़ी,
जिनकी न कभी अपनी ज़मीन, मर-मिट जाये पीढ़ी-पीढ़ी;
मज़दूर सदा दो पैसे के, मालिक के चतुर दुरावों में
है अपना हिन्दुस्तान कहाँ? वह बसा हमारे गाँवों में!

दो कौर न मुँह में अन्न पड़े, तब भूल जायँ सारी तानें;
कवि पहचानेंगे रूप-परी, नर-कंकालों को क्या जानें?
कल्पना सहम जाती उनकी जाते इन ठौर-कुठाँवों में
है अपना हिन्दुस्तान कहाँ? वह बसा हमारे गाँवों में!

हड्डी - हड्डी, पसली - पसली निकली है जिनकी एक-एक,
पढ़ लो मानव, किस दानव ने ये नर-हत्या के लिखे लेख!
पी गया रक्त, खा गया मांस, रे! कौन स्वार्थ के दाँवों में!
है अपना हिन्दुस्तान कहाँ? वह बसा हमारे गाँवों में!

आँखें भीतर जा रही धँसी, किस रौरव का बन रहीं कूप?
लग गया पेट जा पीठी से, मानव? हड्डी का खड़ा स्तूप!
क्यों जला न देते मरघट पर? शव रखा द्वार किन भावों में?
है अपना हिन्दुस्तान कहाँ? वह बसा हमारे गाँवों में!

जो एक प्रहर ही खा करके देते हैं काट दीर्घ जीवन,
जीवन भर फटी लँगोटी ही जिनका पीतांबर दिव्य वसन,
उन विश्व-भरण पोषणकर्त्ता नर-नारायण के चावों में।
है अपना हिन्दुस्तान कहाँ? वह बसा हमारे गाँवों में!

सेगाँव बनें सब गाँव आज, हममें से मोहन बने एक;
उजड़ा वृन्दावन बस जावे, फिर सुख की वंशी बजे नेक;
गूँजें स्वतंत्रता की तानें गंगा के मधुर बहावों में।
है अपना हिन्दुस्तान कहाँ? वह बसा हमारे गाँवों में!

झोंपड़ियों की ओर

जिनके अस्थि-पंजरों की नीवों पर ये प्रासाद खड़े,
जिनके उष्ण रक्त के गारे से गढ़ डाले भवन बड़े।
जिनकी भूखों की होली पर मना रहे तुम दीवाली,
जिनसे तुम उज्ज्वल! देखो, उनकी देहें काली-काली।
उन भोले-भाले कृषकों की करुण कथाओं पर पिघलो!
महलों को भूलो प्यारे! अब झोंपड़ियों की ओर चलो!

उनके फटे चीथड़े देखो, अपने वस्त्र विभवशाली;
उनका रोटी-नमक निहारो, अपनी खीर-भरी थाली।
उनके छूँछे टेंट निहारो, अपनी बसनी धनवाली;
उनके सूखे खेत निहारो, अपनी उपवन - हरियाली!
यह अन्याय अनीति मिटाओ, युग-युग का दुख दैन्य दलो।
महलों को भूलो प्यारे! अब झोंपड़ियों की ओर चलो!

किसान

ये नभ-चुम्बी प्रासाद, भवन, जिनमें मंडित मोहक कंचन,
ये चित्रकला-कौशल-दर्शन, ये सिंह-पौर, तोरन, बन्दन,
गृह—टकराते जिनसे विमान, गृह—जिनका सब आतंक मान,
सिर झुका समझते धन्य प्राण, ये आन-बान, ये सभी शान,

वह तेरी दौलत पर किसान !
वह तेरी मेहनत पर किसान !
वह तेरी हिम्मत पर किसान !
वह तेरी ताक़त पर किसान !

ये रंग-महल, ये मान-भवन, ये लीलागृह, ये गृह-उपवन,
ये क्रीड़ागृह, अन्तर प्रांगण, रनिवास खास, ये राज-सदन,
ये उच्च शिखर पर ध्वज निशान, ड्योढ़ी पर शहनाई सुतान,
पहरेदारों के खर कृपाण, ये आन-बान, ये सभी शान,

वह तेरी दौलत पर किसान !
वह तेरी मेहनत पर किसान !
वह तेरी हिम्मत पर किसान !
वह तेरी ताक़त पर किसान !

ये नूपुर की रुनझुन-रुनझुन, ये पायल की छम-छम-छम धुन,
ये गमक, मीड़, मीठी गुनगुन, ये जन-समूह की गति सुनमुन,
ये मेहमान, ये मेज़बान, साकी, सूराही का समान,
ये जलसा, महफ़िल, समाँ, तान, ये करते हैं किस पर गुमान ?

वह तेरी दौलत पर किसान !
वह तेरी मेहनत पर किसान !
वह तेरी रहमत पर किसान !
वह तेरी ताक़त पर किसान !

चलती शोभा का भार लिये, अंगों का तरुण उभार लिये,
नखशिख सोलह श्रृङ्गार किये, रसिकों के मन का प्यार लिये,
वह रूप, देख जिसको अजान जग सुध-बुध खोता, हृदय-प्राण,
विधि की सुन्दरता का बखान, प्राणों का अर्पण, प्रणय-गान,

वह तेरी दौलत पर किसान !
वह तेरी मेहनत पर किसान !
वह तेरी हिकमत पर किसान !
वह तेरी किस्मत पर किसान !

सभ्यता तीन बल खाती है, इठलाती है, इतराती है,
शिष्टता लंक लचकाती है, झुक झूम भूमि-रज लाती है,
नम्रता, विनय, अनुनय महान, सज्जनता, मधुर स्वभाव-बान,
आगत-स्वागत, सम्मान-मान, सरलता, शील के विशद गान,

वह तेरी दौलत पर किसान !
वह तेरी मेहनत पर किसान !
वह तेरी रहमत पर किसान !
वह तेरी क़ुव्वत पर किसान !

शूरों-वीरों के बाहुदंड, जिनमें अक्षय बल है प्रचंड,
ये प्रणवीरों के प्रण अखंड, जो करते भूतल खंड-खंड,
ये योधाओं के धनुष-बाण, ये वीरों के चमचम कृपाण,
ये शूरों के विक्रम महान, ये रणवीरों की विजय-तान,

वह तेरी दौलत पर किसान !
वह तेरी मेहनत पर किसान !
वह तेरी रहमत पर किसान !
वह तेरी ताक़त पर किसान !

ये बड़े-बड़े प्राचीन किले, जो महाकाल से नहीं हिले,
ये यशःस्तम्भ जो लौह ढले, जिनमें वीरों के नाम लिखे,
ये आर्यों के आदर्श गान, ये गुप्त-वंश की विजय तान,
ये रजपूती जौहर गुमान, ये मुगल-मराठों के बखान,

वह तेरी दौलत पर किसान !
वह तेरी मेहनत पर किसान !
वह तेरी हिम्मत पर किसान !
वह तेरी जुरअत पर किसान !

ये इन्द्रप्रस्थ के राज्य-सदन, पाटलीपुत्र के भव्य भवन,
ये मगध, अयोध्या, ऋषिपत्तन, उज्जैन, अवन्ती के प्रांगण,
वैशाली का वैभव महान, काशी-प्रयाग के कीर्ति-गान,
लखनवी नवाबों के वितान, मथुरा की सुख-सम्पत्ति महान,

वह तेरी दौलत पर किसान !
वह तेरी मेहनत पर किसान !
वह तेरी हिम्मत पर किसान !
वह तेरी ताक़त पर किसान !

इस भारत का सुखमय अतीत, जिसकी सुधि अब भी है पुनीत,
इस वर्तमान के विभव गीत, जिनमें मन का मधु संगृहीत,
आशाओं का सुख मूर्त्तिमान, अरमानों का स्वर्णिम विहान,
प्रतिदिन.प्रतिपल की क्रिया,ध्यान, उज्ज्वल भविष्य के तान बान,

वह तेरी दौलत पर किसान !
वह तेरी मेहनत पर किसान !
वह तेरी हिम्मत पर किसान !
वह तेरी ताक़त पर किसान !

कल्पना पङ्ख फलाती है, छ छोर क्षितिज के आती हैं,
भावना डूबकियाँ खाती है, सागर मथ अमृत लाती है,
ये शब्द विहग से गीतमान, ये छन्द मलय से धावमान,
प्रतिभा की डाली पुष्पमान, तनता मृदु कविता का वितान,

वह तेरी दौलत पर किसान !
वह तेरी मेहनत पर किसान !
वह तेरी हिम्मत पर किसान !
वह तेरी ताक़त पर किसान !

निर्णय देते हैं न्यायालय, स्नातक बिखेरते विद्यालय;
कौशल दिखलाते यन्त्रालय; श्रद्धा समेटते देवालय;
ग्रन्थालय के ये गहन ज्ञान, संगीतालय के तान-गान,
शस्त्रालय के खनखन कृपाण, शास्त्रालय के गौरव महान,

वह तेरी दौलत पर किसान !
वह तेरी मेहनत पर किसान !
वह तेरी हिम्मत पर किसान !
वह तेरी क़ुव्वत पर किसान !

ये साधु, सती, ये यती, सन्त, ये तपसी-योगी, ये महन्त,
ये धनी-गुनी, पण्डित अनन्त, ये नेता, वक्ता, कलावन्त,
ज्ञानी-ध्यानी का ज्ञान-ध्यान, दानी-मानी का दान-मान,
साधना, तपस्या के विधान, ये मानव के बलिदान-गान,

वह तेरी दौलत पर किसान !
वह तेरी मेहनत पर किसान !
वह तेरी हिम्मत पर किसान !
वह तेरी ताक़त पर किसान !

ये घनन-घनन घन घंटारव, ये झाँझ-मृदंग-नाद भैरव,
ये स्वर्ण-थाल-आरती-विभव, ये शङ्ख-ध्वनि, पूजन – गौरव,
ये जन-समूह सागर समान, जो उमड़ रहा तज धैर्य्य-ध्यान,
केसर, कस्तूरी, धूप-दान, ये भक्ति-भाव के मत्त गान,

वह तेरी दौलत पर किसान !
वह तेरी मेहनत पर किसान !
वह तेरी गफ़लत पर किसान !
वह तेरी हिम्मत पर किसान !

ये मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर, पादरी, मौलवी, पण्डितवर,
ये मठ, विहार, गद्दी, गुरुवर, भिक्षुक, संन्यासी, यतीप्रवर,
जप-तप, व्रत-पूजा, ज्ञान-ध्यान, रोज़ा-नमाज़, वहदत - अजान,
ये धर्म-कर्म, दीनो-इमान, पोथी पुराण, कलमा-कुरान

वह तेरी दौलत पर किसान !
वह तेरी मेहनत पर किसान !
वह तेरी नेमत पर किसान !
वह तेरी बरकत पर किसान !

ये बड़े-बड़े साम्राज्य-राज, युग-युग से आते चले आज,
ये सिंहासन, ये तख्त-ताज, ये किले - दुर्ग, गढ़शस्त्र-साज,
इन राज्यों की ईंटें महान, इन राज्यों की नीवें महान,
इनकी दीवारों की उठान, इनके प्राचीरों की उड़ान,

वह तेरी हड्डी पर किसान !
वह तेरी पसली पर किसान !
वह तेरी आँतों पर किसान !
नस की ताँतों पर रे किसान !

यदि हिल उठ तू ओ शेषनाग ! हो ध्वस्त पलक में राज्य-भाग,
सम्राट् निहारें नींद त्याग, है कहीं मुकुट, तो कहीं पाग !
सामन्त भग रहे बचा जान, सन्तरी भयाकुल, लुप्तज्ञान,
सेनायें हैं ढूँढती त्राण; उड़ गये हवा में ध्वज-निशान !

साम्राज्यवाद का यह विधान,
शासन-सत्ता का यह गुमान,
वह तेरी रहमत पर किसान !
वह तेरी गफ़लत पर किसान !

मा ने तुझ पर आशा बाँधी, तू दे अपने बल की काँधी;
ओ मलय पवन ! बन जा आँधी, तुझसे ही गांधी है गांधी,
तुझसे सुभाष है भासमान, तुझसे मोती का बढ़ा मान;
तू ज्योति जवाहर की महान, उड़ता नभ पर अपना निशान,

वह तेरी ताक़त पर किसान !
वह तेरी क़ुव्वत पर किसान !
वह तेरी जुरअत पर किसान !
वह तेरी हिम्मत पर किसान !

तू मदवालों से भाग-भाग, सोये किसान, उठ ! जाग-जाग !
निष्ठुर शासन में लगा आग, गा महाक्रान्ति का अभय-राग !
लख जननी का मुख आज म्लान, वह तेरा ही धर रही ध्यान,
माने तेरा लोहा न जान, किसमें इतना बल है महान ?

रे ! मर मिटने की ठान-ठान;
हो स्वतन्त्रता का शुभ विहान ।
गूँजे दिशि-दिशि में एक तान—
जय जन्मभूमि ! जय-जय किसान !

कणिका

उदय हुआ जीवन में ऐसे
परवशता का प्रात !
आज न ये दिन ही अपने हैं,
आज न अपनी रात !

पतन ? पतन की सीमा का भी
होता है कुछ अन्त !
उठने के प्रयत्न में
लगते हैं अपराध अनन्त !

यहीं छिपे हैं धन्वा मेरे,
यहीं छिपे हैं तीर,
मेरे आँगन के कण-कण में
सोये अगणित वीर !

हल्दीघाटी

बैरागन-सी बीहड़ वन में कहाँ छिपी बैठी एकान्त ?
मातः ! आज तुम्हारे दर्शन को मैं हूँ व्याकुल उद्भ्रान्त ?
तपस्विनी, नीरव निर्जन में कौन साधना में तल्लीन ?
बीते युग की मधुर स्मृति में क्या तुम रहती हो लवलीन ?

जगतीतल की समर-भूमि में तुम पावन हो लाखों में;
दर्शन दो, तव चरणधूलि ले लूँ मस्तक में, आँखों में।
तुममें ही हो गये वतन के लिए अनेकों वीर शहीद,
तुम-सा तीर्थ-स्थान कौन हम मतवालों के लिए पुनीत !

आज़ादी के दीवानों को क्या जग के उपकरणों में ?
मन्दिर, मसजिद, गिरजा, सब तो बसे तुम्हारे चरणों में !
कहाँ तुम्हारे आँगन में खेला था वह माई का लाल,
वह भाई का लाल, जिसे पा करके तुम हो गईं निहाल।

वह माई का लाल, जिसे दुनिया कहती है वीर प्रताप,
कहाँ तुम्हारे आँगन में उसके पवित्र चरणों की छाप ?
उसके पद-रज की क़ीमत क्या हो सकता है यह जीवन ?
स्वीकृत हो, वरदान मिले, लो चढ़ा रहा अपना कण-कण !

तुमने स्वतन्त्रता के स्वर में गाया प्रथम - प्रथम रणगान;
दौड़ पड़े रजपूत बाँकुरे सुन-सुनकर आतुर आह्वान !
हल्दीघाटी, मचा तुम्हारे आँगन में भीषण संग्राम,
रज में लीन हो गये पल में अगणित राजमुकुट अभिराम !

युग-युग बीत गये, तब तुमने खेला था अद्भुत रण-रंग;
एक बार फिर भरो हमारे हृदयों में मा ! वही उमंग।
गाओ, माँ, फिर एक बार तुम वे मरने के मीठे गान,
हम मतवाले हों स्वदेश के चरणों में हँस - हँस बलिदान !

राणा प्रताप के प्रति

कल हुआ तुम्हारा राजतिलक, बन गये आज ही बैरागी ?
उत्फुल्ल मधु-मदिर सरसिज में यह कैसी तरुण अरुण आगी ?

क्या कहा कि—
'तब तक तुम न कभी वैभव – सिंचित सिंगार करो';
क्या कहा कि—
'जब तक तुम न विगत गौरव स्वदेश उद्धार करो !'

माणिक मणिमय सिंहासन को कंकड़ पत्थर के कोनों पर,
सोने-चाँदी के पात्रों को पत्तों के पीले दोनों पर,
वैभव से विह्वल महलों को काँटों की कटु झोंपड़ियों पर,
मधु से मतवाली बेलायें भूखी बिलखाती घड़ियों पर,
रानी, कुमार-सी निधियों को माँ के आँसू की लड़ियों पर,
तुमने अपने को लुटा दिया आज़ादी की फुलझड़ियों पर !

निर्वासन के निष्ठुर प्रण में धुँधुवाती रक्त-चिता रण में,
बाणों के भीषण वर्षण में फ़ौवारे-से बहते व्रण में,
बेटे की भूखी आहों में, बेटी की प्यासी दाहों में,
तुमने आज़ादी को देखा मरने की मीठी चाहों में !

किस अमर शक्ति आराधन में, किस मुक्ति युक्ति के साधन में,
मेरे बैरागी वीर ! व्यग्र किस तपबल के उत्पादन में ?
हम कसे कवच, सज अस्त्र-शस्त्र, व्याकुल हैं रण में जाने को,
मेरे सेनापति ! कहाँ छिपे ? तुम आओ शंख बजाने को;

जागो ! प्रताप, मेवाड़ देश के लक्ष्यभेद हैं जगा रहे;
जागो ! प्रताप, मा-बहनों के अममान-छेद हैं जगा रहे;
जागो प्रताप, मदवालों के मतवाले सेना सजा रहे;
जागो प्रताप, हल्दीघाटी में वैरी भेरी बजा रहे !

मेरे प्रताप, तुम फूट पड़ो मेरे आँसू की धारों से;
मेरे प्रताप, तुम गूँज उठो मेरी संतप्त पुकारों से;
मेरे प्रताप तुम बिखर पड़ो मेरे उत्पीड़न-भारों से;
मेरे प्रताप, तुम निखर पड़ो मेरे बलि के उपहारों से।

बुद्धदेव के प्रति

आओ फिर से करुणावतार !

वट-तट पर हृदय अधीर लिये,
है खड़ी सुजाता खीर लिये,
खोले कुटिया के बंद द्वार।
आओ फिर से करुणावतार !

फिर बैठे हैं चिंतित अशोक,
शिर छत्र, किंतु है हृदय-शोक !
रण की जयश्री बन रही हार !
आओ फिर से करुणावतार !

मानव दानव का धरे रूप,
भर रहे रक्त से समर-कूप,
डूबती धरा को लो उबार !
आओ फिर से करुणावतार !

महर्षि मालवीय

(हीरक जयन्ती के अवसर पर)

तुम्हें स्नेह की मूर्त्ति कहूँ, या नवजीवन की स्फूर्ति कहूँ,
या अपने निर्धन भारत की निधि की अनुपम मूर्त्ति कहूँ ?
तुम्हें दया-अवतार कहूँ, या दुखियों की पतवार कहूँ,
नई सृष्टि रचनेवाले ! या तुम्हें नया करतार कहूँ ?

तुम्हें कहूँ सच्चा अनुरागी, या कि कहूँ सच्चा त्यागी ?
सर्व - विभव - संपन्न कहूँ, या कहूँ तप-निरत बैरागी ?
तुम्हें कहूँ मैं वयोवृद्ध, या बाँका तरुण जवान कहूँ ?
तुम इतने महान्, जी होता मैं तुमको अनजान कहूँ !

कह सकता हूँ तो कहने दो, मैं तुमको श्रद्धेय कहूँ;
निर्बल का बल कहूँ, अनाथों का तुमको आश्रेय कहूँ;
श्रेय कहूँ, या प्रेय कहूँ, या मैं तुमको ध्रुव-ध्येय कहूँ ?
तुम इतने महान्, जी होता मैं तुमको अज्ञेय कहूँ !

वीरों का अभिमान कहूँ, या शूरों का सम्मान कहूँ ?
मृदु मुरली की तान कहूँ, या रणभेरी का गान कहूँ ?
शरणागत का त्राण कहूँ, मानव-जीवन-कल्याण कहूँ ?
जी होता, सब कुछ कह तुमको भक्तों का भगवान कहूँ !

जी होता है, मातृ-भूमि का तुम्हें अचल अनुराग कहूँ;
जी होता है, परम तपस्वी का मैं तुमको त्याग कहूँ;
जी होता है, प्राण फूँकने वाली तुमको आग कहूँ;
इस अभागिनी भारत - जननी का तुमको सौभाग्य कहूँ !

विमल विश्वविद्यालय विस्तृत, क्या गाऊँ मैं गौरव-गान ?
ईंट - ईंट के उर से पूछो, किसका है कितना बलिदान !
हैं कालेज अनेकों निर्मित, फिर भी नित नूतन निर्माण।
कौन गिन सकेगा कितने हैं मन में छिपे हुए अरमान ?

तुम्हें आजकल नहीं और धुन, केवल आज़ादी की चाह।
रह-रह कसक – कसक उठ्ठा करती है उर में आह कराह!
गला दिया तुमने तन को रो-रो आँसू के पानी में;
मातृभूमि की व्यथा हाय सहते हम भरी जवानी में!

मिले तुम्हारी भक्ति देश को, हम जननी-जय-गान करें;
मिले तुम्हारी शक्ति देश को हम नित नव उत्थान करें!
मिले तुम्हारी आग देश को, आज़ादी आह्वान करें,
मिले तुम्हारा त्याग देश को, तन-मन-धन बलिदान करें!

जियो, देश के दलित अभागों के ही नाते तुम सौ वर्ष!
जियो, वृद्ध माता के उर में धैर्य बँधाते तुम सौ वर्ष!
जियो. पिता, पुत्रों को अपना प्यार लुटाते तुम सौ वर्ष!
जियो, राष्ट्र की स्वतन्त्रता के आते-आते तुम सौ वर्ष!

तरुण तपस्वी

शुद्धोदन के सिंहासन के सुख की ममता त्याग,
किस गौतम के यौवन में जागा यह परम विराग?
बोधिवृक्ष है नहीं, हिमांचल की छाया के नीचे
कौन तपस्वी तप करता है करुणा - लोचन मीचे?

बोल उठीं गंगा की लहरें, यह है वह नरनाहर,
जिसकी जग में विमल ज्योति, जननी का लाल जवाहर!
ग्राम-ग्राम में, नगर-नगर में, गृह-गृह में जा-जाकर,
आज़ादी की अलख जगाता तन में भस्म रमाकर!

यह नेता है कोटि-कोटि तरुणों के उर का स्वामी;
सारा भारतवर्ष आज है इसका ही अनुगामी!
ओ भारत के तरुण तपस्वी! तुम प्रतिपल जन-जन में
स्वतन्त्रता की ज्वाला बनकर धधक उठो मन-मन में।
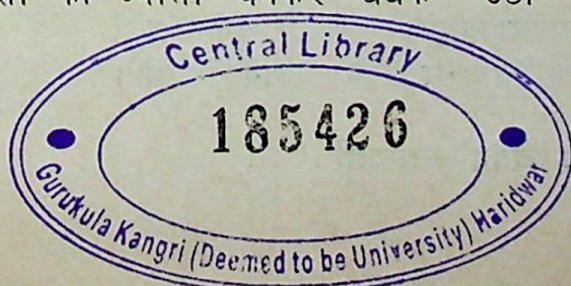
सेगाँव का सन्त

विभु का पावन आदेश लिये, देवों का अनुपम वेश लिये,
यह कौन चला जाता पथ पर नवयुग का नव संदेश लिये ?

युग-युग का घनतम है भगता;
प्राची में नव प्रकाश जगता।

एशिया खंड की दिव्य भूमि शोभित है दिव्य प्रवेश लिये;
यह कौन चला जाता पथ पर नवयुग का नव संदेश लिये ?

पग-पग में जगमग उजियाली;
वन-वन लहराती हरियाली।

क्या आया फिर करुणावतार करुणा का दान अशेष लिये ?
यह कौन चला जाता पथ पर नवयुग का नव संदेश लिये ?

क्या ग्राम-ग्राम, क्या नगर-नगर,
नवजीवन फैला डगर-डगर।

ये कोटि-कोटि चल पड़े किधर नवयौवन का आदेश लिये ?
यह कौन चला जाता पथ पर नवयुग का नव संदेश लिये ?

कर में रण-कंकण हथकड़ियाँ;
पहनीं हमने मणिक-मणियाँ।

बैकुंठ बन गया बन्दीगृह, जो था रौरव के क्लेश लिए।
यह कौन चला जाता पथ पर नवयुग का नव संदेश लिये ?

किसने स्वतन्त्रता की आगी
पग-पग मग-मग में सुलगा दी ?

नस-नस में धधक उठी ज्वाला मर मिटने का उन्मेष लिये !
यह कौन चला जाता पथ पर नवयुग का नव संदेश लिये ?

साम्राज्यवाद के दुर्ग ढहे;
शासन-सत्ता के गर्व वहे।

जनसत्ता है जग पड़ी आज किसका वरदान विशेष लिये ?
यह कौन चला जाता पथ पर नवयुग का नव संदेश लिये ?
रच आत्माहुति का महायज्ञ,
प्रण पूर्ण कर रहा कौन प्रज्ञ ?

फहरा अंबर में सत्यकेतु, दिशि दिशि के छोर प्रदेश लिये;
यह कौन चला जाता पथ पर नवयुग का नव संदेश लिये ?
वह मलय पवन, वह है आँधी,
वह मनमोहन, वह है गांधी।

झुकता हिमाद्रि जिसके पदतल अपना गौरव निःशेष लिये,
वह आज चला जाता पथ पर नवयुग का नव संदेश लिये ?

तुलसीदास

जब मुगल महीपों के बादल छाये जीवन नभ में अपार,
दासता, पराजय, गृह-विग्रह से गहराया तम का प्रसार,
तब रामनाम का अमृत ले, आये गौरव गाते अमंद्र;
मृत हत जनता को मिले प्राण, चमके तुम बन सौभाग्य-चंद्र !

हिन्दूकुल का जब महापोत था इस जग-जलनिधि में अधीर,
तुम बने अचल आकाशदीप, दिखलाया प्रतिपल सुगम तीर।
अंधड़ वैभव के बहे घोर, लहरें विलास की उठीं रोर,
तुम सुदृढ़ पाल बन लोकपाल ! तब ले आये निज धर्म ओर।

गाते यदुपति के रूपगीत आये थे प्रेमी सूरदास;
जर्जरित धमनियों में हमने पाया नवयौवन का विलास;
पर, वह पौरुष, वह बलविक्रम, जिससे जय मिलती अनायास,
दी शक्ति, तुम्हीं ने शक्तिमूर्त्ति, तब उठे पुनः हम गिरे दास।

पा रामनाम का विजयमंत्र हम भूल गये निज देशकाल;
उत्साह जगा, साहस फूटा, फिर से उन्नत नत हुए भाल;
हम अड़े अचल होनिज पथ पर, हम खड़े हुए निज पग सँभाल,
हम गड़े धर्म-हित पर अपने, हम लड़े कर्म-हित ठोंक ताल।

उपनिषद्, वेद, दर्शन, पुराण, शत सद्ग्रंथों का खींच सार,
प्रतिपल जप के संपुट दे-दे, सुलगा तप की ज्वाला अपार,
फिर निज मन के मुक्ताकण दे, औ' लोकवेद की धातु ढार,
यह राम रसायन रचा विमल नश्वर तन को अमृतोऽपहार!

हे वाल्मीकि के पुनर्जन्म, क्या नगर-नगर, क्या ग्राम-ग्राम,
बज रही भक्ति की मधुर बीन, क्या भवन-भवन, क्या धाम-धाम।
आबालवृद्ध, नारी-नर में, क्या प्रात-प्रात, क्या शाम-शाम,
तुलसी तुम गूँज रहे रह-रह गृह-गृह में बनकर रामनाम!

क्या राजभवन, क्या रंकद्वार, सब ओर समादृत तुम समान;
क्या ज्ञानीगृह, विज्ञानीगृह, युगवाणी के तुम बने गान।
क्या यती, व्रती, क्या गृही, रती, करते सबको गतिमति प्रदान,
नंदित स्वदेश, वंदित विदेश, हे तुलसी तुम युग-युग महान!

किस कुल में कब उत्पन्न हुए, किस देश-भूमि को किया कांत,
कब कहाँ रहे, किस भाँति रहे, किससे पाये क्या वर नितांत,
हम खोज-खोज कर गये हार, हम जान-जान कर हुए भ्रांत;
तुम एक समस्या, एक प्रश्न, तुम एक कुतूहल, चिर अशांत!

कामी, प्रताड़ना थी कैसी ? बन गये एक क्षण में अकाम;
निष्काम रहे आजीवन ही फिर जगा न मन में कभी काम;
फिर कब तुम राजापुर लौटे, जब चले छोड़कर धराधाम ?
सब भूमि बन गई जन्मभूमि, जब रसना में रम गया राम !

वह कौन निशा थी, कौन प्रहर, जब एकाकीपन बना भार ?
तुम डगमग हुए, अडिग न रहे, चल पड़े अचानक दुर्निवार !
कब कहाँ चले ? किस ओर चले ? कितने वन उपवन किये पार ?
क्या जान सके, कुछ जान सके, आँखों में तो थी छवि अपार !

क्या क्या आये मन में विचार ? कैसा था अन्तर्द्वंद्व घोर !
कह सकता, तुमको, छोड़ कौन ? तुम चले प्रणय की बँधे डोर ?
यह मन का मधु, यह अधरामृत, लहरेगा बन विष की हिलोर,
आभास तुम्हें मिल सकता, तो फिर भी जाते क्या उसी ओर ?

इस पार तुम्हारा पुर-गृह था, उस पार प्रिया का रत्नधाम,
थी बीच बढ़ी गङ्गा अथाह, श्रावण घन से प्लावित प्रकाम;
तरणी न कहीं था कर्णधार, तुम कूद पड़े जल में अपार;
उस पार गये पल में कैसे; ले गया, कौन तुमको उतार ?

कितनी उत्सुकता, उत्कंठा से तुम पहुँचे पदतल अधीर,
मुखचन्द्र-कान्ति से करने को शीतल अपना आकुल शरीर।
जिन आँखों में स्वागत-वंदन का खींचा तुमने मधुर चित्र,
जिस मुखमंडल में निमिष-प्रहर देखा तुमने निज सुख पवित्र,

जिन अधरों के अधरामृत से चाहा था तुमने अमृतपान,
उनमें ही कैसा परिवर्तन ! कैसे निकले विष-बुझे बाण !
''क्यों हुई न तुमको ग्लानि नाथ? क्यों आई तुम्हें न लाज नाथ ?
इतने कामाकुल बन अधीर, आये अंधे बन आज नाथ !

"इस हाड़-मांस के पुतले पर तुमको है जितनी परम प्रीति,
इतनी होती यदि रामचरण, तो होती तुमको फिर न भीति ?"
इस जग-जीवन का सार मान, जिस पर अर्पित नित किये प्राण !
तज लोक-लाज, तज लोक-भीति आये जिसके गृह, शरण मान,

उसने ही तनमन–प्राणों पर जब किया कठिन निर्मम प्रहार,
अनुभूति-विभूति मिली उस दिन, तुम हुए उसी दिन निर्विकार !
उठती होगी तब तो न देह, चेतन भी होगा जड़ीभूत,
जब लगे लौटने होगे तुम यों निपट निराशा से प्रभूत;

दृगतल होगा घन अंधकार, पदतल पथ, जिसका हो न छोर,
जड़ वाणी, जड़ मन-नयन-प्राण, उठते न चरण होंगे कठोर !
हे तुलसी, दृग में लिये अश्रु, लेकर उर में व्रण, दीर्घ घाव,
तुम चले प्रताड़ित किधर कहाँ, कैसे कब मन में जगे भाव ?

निंदित तुलसी, क्रन्दित तुलसी, तुम चले किधर मेरे निराश,
कर में ले दीपक बुझा हुआ, विक्षिप्त बने, मुखश्री उदास ?
जर्जरित हृदय, जर्जरित देह, जर्जरित लिये ये क्षुब्ध प्राण,
कितने दुख से तुमने प्रेमी, तब कहीं किया होगा प्रयाण !

किसके पुर में, किसके उर में, कब कहाँ-कहाँ पर ढूँढ़ त्राण,
घूमें होंगे पागल तुलसी, अन्तस् में दाबे विषम बाण ?
प्रेमी के उर की, प्रेम-प्यास की लगा सका है कौन थाह ?
प्रणयी के मन की साधों का पा सका कौन है तट अथाह ?

प्रेमी की गहन निराशा का पा सका अभी तक छोर कौन ?
इन प्रश्नों का उत्तर प्रतिध्वनि, इनका उत्तर है अमर मौन !
सद्‌भक्ति जगी उर में प्रपूर्ण, अनुकरण किया नित आर्य-पंथ,
तब रामनाम के अक्षर से लिखने बैठे निज आयु-ग्रंथ।

जीवन के निशिदिन-पृष्ठों पर, जिनमें अंकित था 'कामकाम',
क्या परिवर्तन, क्या आवर्तन ? वे गूँज उठे बन 'राम राम' !
नित संतशरण, नित संतचरण, सद्ग्रन्थ पठन, सद्ग्रन्थ मनन;
स्वाध्याय बना जीवन का क्रम, नित कामदमन, नित रामरमण।

तुम चले विचरते तीर्थ-तीर्थ करने मन का मल-पाप-हरण,
काशी, प्रयाग, वृन्दावन में हैं अमिट तुम्हारे बने चरण !
ये युग-युग के थे पूर्व पुण्य, ये युग-युग के थे संस्कार,
ये युग-युग के थे जप औ' तप ये युग-युग के थे व्रत अपार।

सोये से जाग उठे पल में, सोये फिर कभी न पलक मार;
श्री रामनाम का राग उठा, गमके प्राणों के तार तार !
हे भक्तमाल के कौस्तुभ मणि, सन्तों की वाणी के विलास,
अधिकृत की कौन न कृति तुमने, दर्शन-पुराण के दृढ़ प्रयास !

है शब्द-शब्द में भरा भाव, है छंद-छंद में भरा ज्ञान,
है वाक्य-वाक्य में अमर वचन, वाणी में वीणा का का विधान !
काशी का वह आवास कौन, जो बना तुम्हारा सिद्धि-पीठ ?
संकेत बता सकते तो फिर, कितने न लगाते वहाँ दीठ !

साधक, वह कौन सिद्धि-आसन, जिससे तुम द्रुत पा गये सिद्धि,
सब सिद्धि-समृद्धि झुकी पद तल, हे सिद्ध, तुम्हारी लख प्रसिद्धि !
गुरु बोल उठे श्री रामनाम, तुम बोल उठे श्री रामनाम;
गंगा की लय में, लहरों में हिल्लोल उठे श्री रामनाम !

जन-जन में मन-मन में क्षण-क्षण कल्लोल उठे श्री रामनाम;
जब उठी तुम्हारी अन्तर्ध्वनि तब डोल उठे वे स्वयं राम !
कितनी अनन्य थी परम भक्ति, जब देखा वंशी सजी हाथ,
बोले, लो धनुषबाण कर में, तब तुलसी मस्तक झुके नाथ !

रीझे होंगे, खीझे होंगे इस शिशुहठ पर वे प्रणतपाल !
घनश्याम मुग्ध हो बने राम, तब झुका तुम्हारा भक्त, भाल !
गिरिधर की दासी मीरा ने जब पा भव का रौरव अशांत,
श्रीचरणशरण का वरण किया, आई करुणा से स्वराक्रांत,

सङ्कटमोचन, दृढ़व्रती, तुम्हीं ने दे तब दृढ़ रति का विधान,
दे अभय दान आकुल उर को जीवन में जीवन दिया दान !
पी गई तुम्हारा बल पाकर वह कालकूट को अमृत मान,
वंशीधर-पदतल प्रीति लगी, तब जन्म-मरण दोनों समान !

वैभव-विलास के भवन त्याग, एकाकी, निर्जन, अर्धरात,
यमुनातट पर वंशी-ध्वनि सुन, चल पड़ी बावली, पुलकगात;
मीरा, वह भक्तिमूर्त्ति मीरा चल पड़ी जिधर वह तीर्थ बना,
मरुथल में यमुना उमड़ चली, तरुतल तमाल का कुंज घना।

करतालों की करतल ध्वनि में जब बोल उठी वह कृष्ण, कृष्ण,
भूमण्डल झूम उठा रस में, जल-थल, तरु-तृण जागे सतृष्ण !
"धनधाम, धरा, परिवार तजो, जिससे न रामपद लगे प्रीति",
गूँजते तुम्हारे अमर वाक्य प्रतिपल प्राणों में बन प्रतीति।

जब प्रीति जगी सच्ची मन में, तब लोकलाज क्या, लोकभीति ?
प्रियरति अनन्य, गतिमति अनन्य, नित धन्य तुम्हारी प्रेम-नीति !
तुलसी, यदि तुम आते न यहाँ, हम ढोया करते धरा-धाम,
वैभव-विलास में मर मिटते, सूझता हमें कब सत्य काम ?

निर्गुण निरीह के घनतम में, भटका करते हम बार-बार,
यदि सगुणरूप की दिव्यज्योति, देते न मधुरतम तुम प्रसार !
विस्मरण हमें हैं वाल्मीकि, भूले गीता, भूले पुराण,
दुर्गम, दुर्बोध वेद हमको, वैदिक वाणी से हम अजान।

अपनी गतिमति, अपनी संस्कृति, अपनी गति-विधि होती न ज्ञात,
यदि तुम न क्रान्तदर्शी ! भरते हिन्दी में हिन्दू-धर्म प्राण;
वैष्णव-शैवों में छिड़ा द्वंद्व, तुम सद्वैष्णव आये उदार।
बिछुड़े हृदयों को मिला दिया, हो गये एक बिखरे अपार।

मिट गई कलह, छा गई शांति, तुमने दी वह ममता प्रसार;
हिन्दूकुल की बिखरी लड़ियाँ हो गईं एक, पा स्नेह-तार !
संस्कृत का सिंहासन जिसमें कवि कालिदास औ' व्यास-भास
आश्रय पाकर के हुए विश्रुत वीणा-वाणी के बन विलास।

पर, तुम भव का गौरव बिसार, हिन्दी जननी के बढ़े द्वार;
सम्राज्ञी बना दिया उसको, जो थी भिखारिणी कल अपार।
रच रामचरित का विशद ग्रंथ तुम ज्योतित बनकर कोटि दीप,
युग, देशकाल पर भुज प्रसार, मिलते आ प्राणों के समीप।

मेरी जननी के जन-जन में तुम बसे, बने मन के महीप;
तुम-सा जीवन-मुक्ता पाने, बन जाते कितने देश सीप।
युगचक्र प्रवर्त्तन किया अचल, संगठित किया बिखरा समाज;
श्री रामनाम का शंख फूँक, जागरण प्रतिष्ठित किया आज।

मंदिर के घंटों से जागी फिर आर्यों की आत्मा महान;
अभ्युदय हुआ निज गौरव का, विस्मृति-संस्कृति में पड़े प्राण।
तुम आर्यों के जनगण नायक, करके प्रबुद्ध जनमत अबोध,
ले चले क्रान्तिपथ पर हमको नित मुक्ति-युक्ति की क्रिया शोध।

जीवन भर ही मन-प्राणों से नित किया अनार्यों से विरोध;
कर गये अधिष्ठित आर्यधर्म, भर गये राम से आत्मबोध !
जनगण के दुख से हो विगलित, उद्धारहेतु, कर्त्तव्यमूढ़,
तुम चले ढूँढ़ने संजीवन, जो युग-युग तक दे शक्ति गूढ़।

भैरवी रामगुण की गाई, जागे जिससे बुध और मूढ़;
तुम जातिरथी, तुम राष्ट्ररथी, तव प्रगति देख, गतिमति विमूढ़!
गूँजो फिर बनकर रामनाम! जनगण की वाणी में प्रकाम।
गूँजो फिर बनकर रामनाम! बंदी के प्राणों में ललाम!

गूँजो फिर बनकर रामनाम रणवीरों के मन में अकाम!
नवराष्ट्र जागरण के युग में गूँजो तुलसी तुम धाम-धाम!
गूँजो बापू के दृढ़ स्वर में, गूँजो गांधी की दृढ़ गति में,
गूँजो स्वदेश – मतवालों की वीणा - वाणी में, दृढ़ मति में।

गूँजो नंगों भिखमंगों की विप्लव तानों में, धृति, रति में,
नव राष्ट्र संगठन के युग में गूँजो तुम कोटि-चरण-गति में!
दो हमको भूली कर्मशक्ति, दो हमको फिर से आत्मबोध;
दो हमें राम के मानस का वह क्षत्रिय का अपमान - क्रोध।

दो लक्ष्मण का वह भ्रातृभाव, हम बढ़ें, सुदृढ़ हो जातिबोध;
ले चलो हमें जययात्रा में, कवि, बनो राष्ट्रकवि, राष्ट्रबोध!
दो नवचेतन, दो नवजीवन, दो संजीवन, दो देशभक्ति,
दो नित्य सत्य हित लड़ने की नस-नस, प्राणों में आत्मशक्ति।

दो महावीर का बल विक्रम, लाँघ समुद्र, त्यागें अशक्ति,
सीता-स्वतंत्रता गृह आवे, हो भस्म स्वर्ण-लंका-विरक्ति।
जो राम-राज्य गाया तुमने, छाया है जिसका यश-वितान,
थे राव-रंक सब सुखी जहाँ, थे ज्ञानकर्म से मुखर प्राण।

युग युग की दृढ़ शृङ्खला तोड़, हो शुभ स्वराज्य का फिर बिहान;
इस राष्ट्र-जागरण के युग में कवि! उठो पुनः तुम बन महान!

●

आज़ादी के फूलों पर

सिंहासन पर नहीं वीर! बलिवेदी पर मुसकाते चल!
ओ वीरों के नये पेशवा! जीवन-जोति जगाते चल!
रक्तपात, विप्लव अशान्ति औ' कायरता बरकाते चल।
जननी की लोहे की कड़ियाँ रह रहकर सरकाते चल!

कल लखनऊ गूँज उट्ठा था, आज हरिपुरा हहर उठे;
बने अमिट इतिहास देश का, महाक्रान्ति की लहर उठे!
फूलों की मालाओं को पद की ठोकर से दलते चल;
शूलों की मखमली सेज को सुहला-सुहला मलते चल।

जननी के बन्धन निहार अपमान ज्वाल में जलते चल;
ठुकराये वीरों के उर के रोषित रक्त उबलते चल।
पग-पग में हो सिंहगर्जना, दिक् डोलें, झंकार उठे;
जागें सोये इस युगवाले, यों तेरी हुंकार उठे!

है तेरा पांचाल प्रबल, बंगाल विमल विक्रमवाला,
महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, सिंधु अपने प्रण पर मिटनेवाला;
है बिहार गुणगौरववाला, उत्कल शक्तिसंघवाला,
बलिवाला गुजरात, सुदृढ़ मद्रास भक्ति-वैभववाला।

फिर क्यों दुर्बल भुजा हमारी, कैसे कसीं लोह-लड़ियाँ?
अँगड़ाई भर ले स्वदेश! टूटें पल में कड़ियाँ-कड़ियाँ।
आयें हम नंगे-भिखमंगे, सब भूखों मरनेवाले,
अपनी हड्डी-पसली खोले, रक्तदान भरनेवाले,

खुरपी और कुदालीवाले, फड़ुआ औ' फरसेवाले,
महाकाल से रातदिवस दो टुकड़ों पर लड़नेवाले !
आयें, काल-गाल के छोड़े वज्रदेह, दृढ़ व्रतधारी;
एक बार फिर बढ़ें युद्ध में फिर हो रण की तैयारी।

शंख फुँकें, बाजे रणभेरी; जननी की जय जय बोले;
चले करोड़ों की सेना; डगमग - डगमग धरणी डोले !
जिधर चलेगा, उधर चलेगी अक्षौहिणी सैन्य मेरी।
कौन रोक सकता वीरों को, सृष्टि बनी जिनकी चेरी ?

बढ़ जायें चालिस करोड़ फिर बलि के मधुमय झूलों पर;
मेरी मा भी चले विहँसती आज़ादी के फूलों पर।

दाँड़ी-यात्रा

पूछता सिंधु था लहरों से, "क्यों ज्वार अचानक तुम लाईं?"
लहरें बोलीं,–"क्या मनमोहन की वेणु न तुमने सुन पाई ?

"रण-यात्रा में है चला आज वृन्दावन का वंशीवाला।"
बोला तब लवण-सिंधु, "पूजूँ, लावण्यमयी, जा, कुछ ले आ !"
लहरें बोलीं, "तट पर आकर देखो, वह टोली है आई।"
उदग्रीव सिंधु हो उठा मुखर— "कैसी बाँकी झाँकी छाई ?"

सबसे आगे फहराता था जय-ध्वजा, तिरंगा ध्वज प्यारा;
पीछे बजती थी बीन मधुर, वंशी - सितार का स्वर न्यारा !
पूछा तरुओं ने, "आस-पास यह है किस आसव की मात्रा ?"
तब काली कोयल कुहुक उठी-- "यह बापू की दाँड़ी-यात्रा !"

"किस तरह चले, ये कौन चले, कब कहाँ चले, बोलो रानी !"
सागर ने पूछा लहरों से, "कुछ तो बतलाओ कल्याणी !"
लहरों ने मर्मर स्वर भरकर बन ऊर्मि कथा मधु-भरी कही--
"ओ, पारावार अपार, सुनो, इस यात्रा की कुछ बात सही !

"जब ब्रिटिश राज्य के दूतों ने कुछ भी न न्याय का मत माना,
अन्याय भंग करने को तब बापू ने यह रण-प्रण ठाना।"
आश्रम में गूँज सँदेश उठा-- "कल प्रात समर-यात्रा होगी;
जिसको चलना हो चले साथ, जो हो अपने घर का योगी।"

हल-चल-सी फैल गई पल में, जागी फिर साबरमती रात;
वीरों का सजने लगा संघ; होगा पावन प्रस्थान प्रात।
कब सोया कौन कहाँ निशि में, सबने उमंग के साज सजे;
नंगे फ़क़ीर के कुछ चेले मतवालों ने पर्यंक तजे।

पति से यों पत्नी ने पूछा— "हे नाथ, साथ ले चलो मुझे।"
"पगली ! तेरा कुछ काम नहीं, घर रहना ही है उचित तुझे !"
"तुम जाओगे क्या एकाकी ? मैं रह न सकूँगी एकाकी,"—
बोली यों पति से फिर पत्नी, अपनी चितवन को कर बाँकी।

पति चले, चली पत्नी पुलकित, मन में उत्साह अतुल उमंग,
स्वाहा कर सुख-वैभव विलास, ले ब्रह्मचर्य का व्रत अभंग !
भाई बहनों के पास गये, बोले, "बहनो ! दो बिदा आज,
अपने मंगल जल अक्षत से दो मेरे प्रण का कवच साज।"

बहनें बोलीं, "भैया न बनेगा यह एकाकी मौन गमन;
हम भी पीछे-पीछे पद पर अनुगमन करेंगी मंदचरण।"
भाई-बहनें चल पड़े संग, था रङ्ग उमङ्गों में गहरा;
उत्सुकता ने सोने न दिया, जाग्रति ने दिया मधुर पहरा।

जननी के श्रीचरणों में पड़ बोला बेटा, "दो बिदा आज।"
माता के आँचल में सनेह का सागर उमड़ा दूध-व्याज।
जननी के उर का गर्व जगा, मा के उर का अभिमान जगा,
"तू धन्य पुत्र ! जो जननी के हित बढ़ा युद्ध में प्रेमपगा।"

मा ने बेटे के मस्तक पर रोचना किया, अक्षत छोड़े,
आशीर्वाद वरदान प्राप्त कर चले वीर साहस जोड़े।
चल पड़ी बहन, चल पड़े बंधु, चल पड़ीं जननि, चल पड़े पुत्र;
पति चले, चली पत्नी उनकी, जुड़ गया स्नेह का सरस सूत्र।

कुछ चले किशोर-किशोरी भी, बापू के प्यार-भरे छौने;
कर्त्तव्य–गोद में खेल रहे वात्सल्य-भाव के मृग – छौने !
क्या कहूँ वेश उनका सुन्दर, मस्तक पर थी अक्षत–रोली;
अधरों पर थी मुस्कान मन्द, आँखों में रण-प्रण की होली।

खादी की साड़ी बहन सजीं, खादी के कुर्ते बन्धु सजे;
चप्पल चरणों में समर-साज, रण-दुंदुभि बन जो सतत बजे।
खादी के ताज सजे सिर पर केसरिया पागों से बढ़कर,
ज्यों चाँद सैकड़ों उग आये अवनी पर, भू के अंबर पर !

बच्चों, बूढ़ों, मा-बेटों की, भाई-बहनों की यह टोली,
झूमती चली मतवाली बन उर पर खाने गोला-गोली !
बापू ले अपनी चिर-संगिनि, जो है उनकी लघु-सी लकुटी,
चल पड़े सुदृढ़पग, सुदृढ़बाहु, दृढ़ कर अपनी सीधी भ्रकुटी।

नतमस्तक, उन्नत गर्व लिये, नतनयन, स्नेह के भार झुके,
कटि कसे कछौटी खादी की, आजानबाहु, जो नहीं रुके।
उस दिन भारत के कोटि-कोटि देवता सुमन-अंजलि भर-भर
वरसाने आये यान चढ़े, देखा न किसी ने उनको पर।

रुक गये जहाँ, झुक गये वहीं कितने ही पुर औ' ग्राम-नगर;
पुर-वधुओं से वधुएँ बोलीं, "आये हैं बापू नयनागर!"
ले दूध दही, ले पुष्प-पत्र, ले फल-अहार, वृद्धा आई;
वापू के चरणों में सम्पति की राशि झुकी, बलि हो आई।

बन गया समर का क्षेत्र वही, जिस स्थल बापू के चरण रुके;
जुड़ गई सभा नर-नारी की, लग गई भीड़, तरु-पात रुके।
कँप उठीं दिशायें नीरव हो, छा गया एक स्वर निर्विकार,
भारत स्वतंत्र करने का प्रण है यही, यही, रण-मोक्ष-द्वार।

"या तो होगा भारत स्वतन्त्र कुछ दिवस-रात के प्रहरों पर,
या शव बन लहरेगा शरीर मेरा समुद्र की लहरों पर!"
वह अचल प्रतिज्ञा गूँज उठी तरुओं में, पातों-पातों में;
वह अटल प्रतिज्ञा समा गई जनगण की बातों-बातों में।

बरसाने की आ गई याद धरसाने की उस यात्रा में।
हो गया ध्वंस साम्राज्य-बंध, जब लवण बना लघु मात्रा में।
नवयुग का नव आरंभ हुआ कुछ नये नमक के टुकड़ों पर।
आज़ादी का इतिहास लिखा दाँड़ी के कंकड़-पथरों पर।

●

अनुनय

प्रेम के पागल पुजारी !
प्रेम के पागल भिखारी !

जल रही है आग घर में, जल रहा है घर तुम्हारा।
छेड़ते ही जा रहे तुम प्रेम का निज एकतारा !
तुम अरे, कितने अनारी !
मातृ-भू क्योंकर बिसारी ?

राष्ट्र का निर्माण हो जब, विरह की ध्वनि तुम्हें भाई,
उठ सकेंगे किस तरह हम, जब तुम्हीं ने कटि झुकाई ?
आज तुम पर लाज सारी,
प्रेम के पागल पुजारी !

आज है रण का निमंत्रण, धुन तुम्हें तब प्रीति से है,
आज अलकों से उलझते, जब उलझना नीति से है;
बात क्या उलटी विचारी ?
प्रेम के पागल पुजारी ?

विश्व के इतिहास में उल्लेख क्या होगा तुम्हारा ?
तुम रिझाते रूप पर, जब पिस रहा था देश सारा !
यह कलंक असह्य भारी !
प्रेम के पागल पुजारी !

देश की आशा तुम्हीं हो, राष्ट्र के भावी प्रणेता !
फिर विलास-विलीन कैसे, इन्द्रियों के चिर विजेता ?
पार्थकुल के रक्तधारी !
प्रेम के पागल पुजारी !

रहे रूठी राधिका, मत रुको, मत उसको मनाओ;
देखती अपलक तुम्हें जो, लाज तुम उसकी बचाओ।
द्रौपदी नङ्गी उघारी,
नयन से जलधार जारी!

आज वंशी छोड़ दो, लो पांचजन्य किशोर मेरे!
है खड़ी अक्षौहिणी सम्मान में कुरुक्षेत्र घेरे।
आज फिर रण की तयारी!
प्रेम के पागल पुजारी!

यह जवानी, ये उमंगें, यह नशा, यह जोश भारी,
देश को दो भीख प्यारे, जग पड़े किस्मत हमारी!
छिन्न हों कड़ियाँ हमारी,
जय मनायें हम तुम्हारी।

फिर सजे वंशी तुम्हारी,
फिर बजे वंशी तुम्हारी।
प्रेम के पागल पुजारी!
मातृ-भू क्योंकर बिसारी ?

तरुण

उठे राष्ट्र तेरे कंधों पर, बढ़े प्रगति के प्रांगण में;
पृथ्वी को रख दिया उठाकर तूने नभ के आँगन में;
तेरे प्राणों के ज्वारों पर लहराते हैं देश सभी,
चाहे जिसे इधर कर दे तू, चाहे जिसे उधर क्षण में!

विजय-वैजयन्ती फहरीं जो जग के कोने-कोने में,
उनमें तेरा नाम लिखा है जीने में, बलि होने में।
घहरे रण घनघोर, बढ़ीं सेनायें तेरा बल पाकर;
स्वर्ण-मुकुट आगये चरण-तल तेरे शस्त्र सँजोने में।

तेरे बाहुदंड में वह बल, जो केहरि-कटि तोड़ सके;
तेरे दृढ़ स्कंध में वह बल, जो गिरि से ले होड़ सके;
तेरे वक्षःस्थल में वह बल, लोहा ले विष-वाणों से;
तेरे गर्जन में वह बल, शव में भी जीवन जोड़ सके।

यह अवसर है, स्वर्ण-सुयुग है, खो न इसे नादानी में,
रँगरलियों में, छेड़छाड़ में, मस्ती में, मनमानी में;
लिख अपना इतिहास अमिट उड़ते निशिदिन के पृष्ठों में;
ज्वाल ! लपट झुलसा दे नभ को, आग लगा दे पानी में।

उठ बनकर भूकम्प भयानक, डगमग-डगमग जग डोले;
उल्कापात-वह्नि बरसा रे ! गलें मेरु, ढलकें शोले।
महाकाल की प्रलय-रात्रि में तांडव कर रे ! एकाकी;
तेरी शक्ति, भक्ति भर दे, नत जग तेरी जय-जय बोले !

तरुण ! विश्व की बागडोर ले तू अपने कठोर कर में;
स्थापित कर रे ! मानवता बर्बर, नृशंस जग के उर में।
दंभी को कर ध्वस्त धरा पर, अस्त्र-त्रस्त पाखंडों को;
करुणा-शांति-स्नेह-सुख भर दे बाहर में, अपने घर में।

युग-युग की रूढ़ियाँ, अंधविश्वास प्राण को घोंट रहे;
अब न रहा रे ! बल शरीर में, जो फिर ये घन-चोट सहे।
यौवन की ज्वालावाले ! दे अभयदान पददलितों को;
तेरे चरण शरण में आहत जग आश्वासन-श्वास गहे।

मधुर तक़ाज़ा

प्राणों पर इतनी ममता, औ' स्वतंत्रता का सौदा ?
बिना तेल के दीप जलाने का है कठिन मसौदा !
आँसू बिखराते बीतेंगी जलती जीवन-घड़ियाँ ।
बिना चढ़ाये शीश नहीं टूटेंगी मा की कड़ियाँ !

दुनिया में जीने का सबसे
सुन्दर मधुर तक़ाज़ा :
ऐ शहीद ! उठने दे
अपना फूलों भरा जनाज़ा ।

नव झाँकी

घासपात के टुकड़ों पर लुटती है माखन - मिसरी;
गंजी और जाँघिया पा पीताम्बर की सुधि बिसरी ।
चक्की की घरघर में भूला लेकर चक्र चलाना;
बेंतों की बेदर्द मार में सुना वेणु का गाना ।

अरे ! चुरा ली जंजीरों ने
वनमाला - छवि बाँकी;
देख सीखचों में आया हूँ
मोहन की नव झाँकी !

हथकड़ियाँ !

आओ, आओ, हथकड़ियाँ !
मेरी मणियों की लड़ियाँ !

मातृभूमि की सेवाओं की स्वीकृति की जयमाल भली,
कृष्ण-तीर्थ ले चलनेवाली पावन, मंजुल, मधुर गली।
जीवन की मधुमय घड़ियाँ !
आओ, आओ, हथकड़ियाँ !

कर में बँधो, विजय-कंकण-सी, उर में आत्मशक्ति लाओ;
जन्मभूमि के लिए शलभ-सा मर जाना, हाँ, सिखलाओ।
स्वतन्त्रता की फुलझड़ियाँ !
आओ, आओ, हथकड़ियाँ !

मुक्ता

ज़ंजीरों से चले बाँधने
आज़ादी की चाह ।
घी से आग बुझाने की
सोची है सीधी राह !

हाथ-पाँव जकड़ो, जो चाहो,
है अधिकार तुम्हारा ।
ज़ंजीरों से क़ैद नहीं
हो सकता हृदय हमारा।

विषमता

तुम ज़ंजीरों से आलिंगन करनेवाले संन्यासी;
मैं कुसुम-हार से प्यार बढ़ानेवाला विभव-विलासी;
मैं रागी, तुम वैरागी;
तुममें मुझमें समता ही क्या? मैं पानी हूँ तुम आगी!

आज़ाद देश के रहनेवाले तुम हो दिव्य निवासी;
मैं पतित पददलित दास देश का हूँ दुर्बल अधिवासी;
मैं लतिका हूँ, तुम पाला;
तुममें मुझमें समता ही क्या? मैं तम हूँ, तुम उजियाला!

तुम समर-शूर रण में बढ़नेवाले हो वीर अरिंदम;
मैं प्राण-मोह से विकल, त्राणयाचक हूँ, भीरु नराधम;
मैं माया हूँ, तुम ज्ञान;
तुममें मुझमें समता ही क्या? मैं हिंसक, तुम बलिदान!

●

स्वागत-सुमन

मा ने लिया पुकार, बढ़ा तू, चढ़ा, हुआ क़ुरबान!
हमने देखा तुझे टहलते सीख़ों के दरम्यान!
हाथों में थी गूँज, कभी बैठा चक्की पर गाते;
आज़ादी की लतिका पर नित अपना खून चढ़ाते!

बहुत दिनों के बिछुड़े प्यारे! अन्तरतम से सट जा।
आज रिहाई हुई, दौड़ आ, मोहन, गले लिपट जा।
तू तो प्यारे निरपराध है; मैं अपराधी भारी।
यह पापी कैसे हो सकता सेवा का अधिकारी?

मैं तो वैभव का प्यासा, स्वार्थी, सुखसेज-विलासी;
तू कारागृह में धूनी तपनेवाला संन्यासी।
फिर भी, बढ़ा स्नेह का आँचल, आ, मेरे बनवारी!
प्यारे, तेरी चरणधूलि का मैं हूँ एक भिखारी!

प्रार्थना
(हरिजनों का गीत)

खोलो मंदिर-द्वार पुजारी!

मत ठुकराओ, चरणधूलि लूँ बार-बार जाऊँ बलिहारी!
क्यों तुमने शबरी-निषाद की अपने मन से बात बिसारी?
मैं भी एक उन्हीं के कुल का; प्रभु-पद-पूजन का अधिकारी।
खोलो मंदिर-द्वार पुजारी!

सच मानो, तुमको न कभी मैं भूलूँगा, मेरे उपकारी!
प्रभु की सुधि के साथ-साथ आयेगी प्रतिदिन याद तुम्हारी।
खोलो मंदिर-द्वार पुजारी!

नववर्ष

स्वागत! जीवन के नवल वर्ष! आओ, नूतन-निर्माण लिये,
इस महा जागरण के युग में जाग्रत् जीवन अभिमान लिये;
दीनों, दुखियों का त्राण लिये, मानवता का कल्याण लिये,
स्वागत! नवयुग के नवल वर्ष! तुम आओ स्वर्ण-बिहान लिये।

संसार क्षितिज पर महाक्रान्ति की ज्वालाओं के गान लिये,
मेरे भारत के लिए नई प्रेरणा, नया उत्थान लिये;
मुर्दा शरीर में नये प्राण, प्राणों में नव अरमान लिये,
स्वागत! स्वागत! मेरे आगत! तुम आओ स्वर्ण-बिहान लिये!

युग-युग तक नित पिसते आये, कृषकों को जीवन-दान लिये,
कंकाल-मात्र रह गये शेष, मजदूरों का नव त्राण लिये;
श्रमिकों का नव संगठन लिये, पददलितों का उत्थान लिये;
स्वागत ! स्वागत ! मेरे आगत ! आओ ! तुम स्वर्ण-विहान लिये !

सत्ताधारी साम्राज्यवाद के मद का चिर-अवसान लिये,
दुर्बल को अभयदान, भूखे को रोटी का सामान लिये;
जीवन में नूतन क्रान्ति, क्रान्ति में नये-नये बलिदान लिये,
स्वागत ! जीवन के नवल वर्ष ! आओ, तुम स्वर्ण-विहान लिये !

त्रिपुरी कांग्रेस

था प्रात निकलने को जुलूस, जुड़ रात-रात भर नर-नारी,
उत्सुक बैठे पथ पर आकर, कब रथ निकले सज-धजधारी।
चल ग्राम-ग्राम से, नगर-नगर से वृद्ध-बाल आये अगणित,
करने को लोचन सफल आज, भर देश-प्रेम से पावन चित।

पिसन्हरिया की मढ़िया सुन्दर, है जहाँ बनी गिरि के ऊपर,
कलचुरी - राज्य के गौरव का ज्यों यशःस्तंभ हो उठा प्रखर;
बस, उसी स्थान से उठना था त्रिपुरी का यह जुलूस भारी;
सारे भारत में हलचल थी सुन-सुनकर जिसकी तैयारी !

बावन वर्षों की याद लिये आये बावन हाथी मतंग,
इतिहास-पटल पर लिखने को मतवालों के मन की उमंग।
सन् उन्तालिस की ग्यारह को, जब रात बदलकर बनी उषा,
जनगण में कोलाहल छाया, मन-प्राणों में छा गया नशा।

हो गये खड़े पथ पर सजकर रथ लेकर गज दिग्गज काले,
खींचने राष्ट्ररथ को आये जयपथ पर ज्यों रण-मतवाले !
उस कुरुक्षेत्र की याद आगई सहसा इस कवि के मन में,
जब पाँच गाँव के लिए मचा था यहाँ महाभारत क्षण में।

यों ही तब दिग्गज शूरवीर प्रातः होते ही रणपथ पर,
बढ़ते होंगे ले ध्वजा शिखर, योधा बैठे होंगे रथ पर।
छाई पूरब की लाली में ज्यों ही दिनकर की उजियाली,
बज उठे शंख, दुन्दुभि, मृदंग, मारू बाजे वैभवशाली।

बावन हाथी जुड़ गये, एक से एक लगे पीछे-आगे,
बावन सारथी सवार हुए, जो मातृभूमि-पद - अनुरागे।
सिर पर विशुभ्र गांधी-टोपी, तन पर खादी के शुभ्र वस्त्र,
ये युद्ध चले करने योधा, जिनके न हाथ में एक शस्त्र।

घन घन घन घन घंटा बोले, झन झन झन बाजी रण भेरी;
चल पड़ा हमारा यह जुलूस, पल में, फिर लगी न कुछ देरी।
रथ था विशुभ्र, ज्यों सत्य स्वयं हो मूर्त्तिमान वाहन बनकर,
आया हो ले चलने हमको पावन स्वराज्य के जय-पथ पर।

था तरल तिरङ्गा लहर रहा रथ के मस्तक को किये तुङ्ग,
अभिनन्दन में दिखलाते थे झुकते-से सब सतपुड़ा-शृङ्ग;
सतपुड़ा-शृङ्ग, जिनमें बैठे थे उत्सुक अगणित नर-नारी;
चित्रित कर दी विधि ने जैसे उनमें विचित्र जनता सारी।

जब चला हमारा यह जुलूस, तब कोटि-कोटि उत्सुक दर्शक–
भर भर हाथों में नव प्रसून बरसाने लगे, नयन अपलक !
पलकें अपलक, वाणी अवाक्, अन्तस् गद्गद, तन पुलक भरे;
जागरण देख यह भारत का दृग में सुख के नव अश्रु ढरे।

वह धन्य देश! जिसमें उठते पददलित याद कर निज गौरव,
बलिदेवी पर बढ़ते शहीद लाने को फिर स्वदेश वैभव।
नर्मदा इधर दक्षिण तट पर गाती थी स्वागत-गीत गान,
सतपुड़ा उधर था हर्षफुल्ल, शिर विनत किये पथ में अजान!

सौभाग्य महाकोशल का था, जो गौरव-मंडित झुका भाल,
श्री कर्णदेव का गौरव ले अभिनंदन करता था विशाल!
जागो फिर, मेरे कर्णदेव! देखो आया है स्वर्ण-काल,
फिर, चला महाकोशल लिखने भारत-जननी का भाग्य भाल।

बढ़ रहा गोंडवाना फिर से नापने देश की परिधि, छोर।
जनगण जागे पददलित पुनः, जनरण का उठता महा रोर!
जागो फिर, सोये कर्णदेव! कर लो हर्षित अपने लोचन;
त्रिपुरी से सजकर चली आज फिर गजसेना, घंटा-ध्वनि घन!

जागो फिर, मेरे कर्णदेव! जग रहा तुम्हारा पुण्यपूर्व;
तुम चले आज निर्मित करने सुखमय स्वराष्ट्र, अभिनव, अपूर्व!
बावन सर बावन दर्पण बन थे चित्र खींचते मौन जहाँ,
बावन वर्षों का वैभव ले कांग्रेस झूमती चली वहाँ;

झूमी प्रतिपल गजपति बनकर, झूमी प्रतिपल गज-रथ चढ़कर,
झूमी पग-पग में मग-मग में जगमग मन कर, रण में बढ़कर।
पांचाल चला अभिमान लिये, बंगाल चला बलिदान लिये,
मद्रास बढ़ा उत्थान लिये, सी० पी० स्वागत के गान लिये।

गुजरात गर्व लेकर आया, बनकर पटेल की लौहमूर्त्ति,
राजेन्द्र किरीट सँवार चला, उत्कल बिहार बन प्राणस्फूर्त्ति;
ईसा की नवप्रतिमूर्त्ति लिये आया सुन्दर सीमांत प्रांत,
ले वीर जवाहर को पहुँचा जननी का उर—यह हिन्द प्रांत।

राजा जी की ले सौम्य मूर्त्ति मद्रास चला नवगर्व लिये,
सौभाग्य चन्द्र बङ्गाल लिये, जिसने नित अरिमद खर्व किये;
कितने थे यों ही देश-रतन, जिनके न रूप औ' ज्ञात नाम,
जन-सागर के तल में विलीन, भरते थे बल-विक्रम प्रकाम।

बाजे बजते थे घमासान, थे फड़क रहे सब अंग-अंग,
नस-नस में वीर-भाव जागा, वह चली रक्त में नव उमङ्ग;
जब बावन दिग्गज चले संग अपने भारी डग पर धर डग,
तरणी रेवा में डोल उठी, धरणी हो उठी विचल डगमग।

जयघोषों की तुमुल ध्वनि में यह बढ़ा महोत्सव आगे फिर,
पहुँचा, था जहाँ लहर लेती भारत की ध्वजा व्योम को तिर;
त्रिपुरी क्या बसी, अनूपम छबि जैसे हो त्रिपुरी राज्य उठा,
धरणी के स्तर को चीर पुरातन कोशल का साम्राज्य उठा।

उठ आये उसके सिंह-द्वार, उठ आईं गुंबद, मीनारें,
मेहराब उठे, शुचि शृङ्ग उठे, ध्वज, तोरण, कलसी, मीनारें।
झंडा-मंडप में आ करके यह समा गया अगणित सागर,
झुक गये शीश रणवीरों के, था विजय-केतु उड़ता नभ पर।

था सजा मातृ-मन्दिर पावन सतपुड़ा शिखर के कोने में,
भारत-जन-सागर सिमट गया नर्मदा नदी के दोने में;
विंध्याचल, पुण्य पुरातन गिरि, उठता ऊपर ले अतुल गर्व,
वह आज हिमाचल से उज्ज्वल, जिसके गृह में जागरण-पर्व।

गोरीशङ्कर के शुभ्र शृङ्ग मटमैले गिरि पर बलि जाते,
जिसने आमंत्रित किये देश के वीर बाँकुरे मदमाते;
विंध्याचल, मा की कटि-किंकिणि, बज उठा आज हर्षित अपार,
जिनके हित था वह उत्कंठित, वह आये हैं देवता द्वार।

भारत के कोटि-कोटि देवी- देवता अतिथि हैं विंध्या में;।
पर्वत-पर्वत पर, गिरि-गिरि पर दीवाली सजती संध्या में,
विंध्याचल, जिसके पंख कटे, है आज न उड़ सकता ऊपर
अन्यथा बना पुष्पक विमान यह मँड़राता फिरता भू-पर!

क्या बतलाऊँ, क्या था जुलूस? यह है वह युग-युग का सपना,
भारत में जब होगा स्वराज्य, भारत यह जब होगा अपना;
टूटेंगी अपनी हथकड़ियाँ, ढह जायेगा यह राजतंत्र,
होगी भारत-जननी स्वतंत्र, होंगे भारत-वासी स्वतंत्र।

आज रुद्ध है मेरी वाणी!

प्रगतिवादी चेतना

वह मानव-कंकाल खड़ा है फटे चीथड़े देह लपेटे,
दुर्गंधित, जर्जर टुकड़े से मानवपन की लाज समेटे;
तन क्या है? कंकाल-मात्र! यह शव, जो जा मरघट पर लेटे;
किन्तु खड़ा विप्लव धधकाने अचल, मृत्यु को भुज पर भेंटे।
निखिल सृष्टि को भस्म करेगी इन त्रसितों की मौन कहानी;
तुम कहते हो गीत सुनाऊँ, आज रुद्ध है मेरी वाणी!

वह किसान सामने खड़ा है, जो युग-युग से पिसता आया,
भाग्यशिला पर, विजित, प्रताड़ित, अपना मस्तक घिसता आया;
अपनी आँतों पर अकाल ले, स्वयं बुभुक्षित, विश्व जिलाया,
अंतिम श्वासें आज गिन रहा, किसने डस ली कंचन-काया?
सर्वनाश लाया अपने घर महामूढ़ मानव अभिमानी!
तुम कहते हो गीत सुनाऊँ, आज रुद्ध है मेरी वाणी!

हाहाकार मचा पग-पग में, धधकी महा उदर की ज्वाला,
नंगों – भिखमंगों की टोली जपती दो टुकड़ों की माला;
अरमानों की नीवँ कँप उठी, जब से यह जग देखा-भाला,
गुलशन उजड़ा, महफ़िल उजड़ी, साकी मिटा, मिट गई हाला;
देख खड़ा कंकाल सामने मन की सब साधें मुरझानी !
तुम कहते हो गीत सुनाऊँ, आज रुद्ध है मेरी वाणी !

कारा के काले गौरव का तिमिर नहीं अब तक भग पाया,
लोहे की ज़ंजीरों के घावों में अब तक रक्त न आया;
शुष्क हड्डियों में जीवन की अभी न मांसल गति बन पाई,
खड़े पुनः तुम भार लादने, आये लेने कठिन कमाई !
क़ुर्बानी पर क़ुर्बानी से चढ़ता कुंठित असि पर पानी !
तुम कहते हो गीत सुनाऊँ, आज रुद्ध है मेरी वाणी !

धधकी महाशक्ति है मेरी, इस गति-विधि पर आग लगा दूँ,
लाक्षागृह का राज़ बता दूँ, सोया जनगण शेष जगा दूँ;
कूटचक्र, षड़यंत्र, दम्भ के साम्राज्यों के दुर्ग ढहा दूँ,
एक बार इस पृथ्वीतल को अभिशापों से मुक्त बना दूँ;
इस समाज, इस जाति, देश की है करुणा से भरी कहानी !
तुम कहते हो गीत सुनाऊँ, आज रुद्ध है मेरी वाणी !

चिनगारियाँ निकल पड़ती हैं मेरी वीणा के तारों से,
झुलस उँगलियाँ रहीं, ज्वाल में लौ उठती है झंकारों से;
आज गीत की टेक – टेक पर गिरती उथल-पुथल की ज्वाला;
भवन-कुटी, मंदिर-मस्जिद सब बनने चले राख की माला !
विधवा का सिंदूर जल रहा, प्रलय-वह्नि की अरुण निशानी !
तुम कहते हो गीत सुनाऊँ, आज रुद्ध है मेरी वाणी !

सुना रहा हूँ तुम्हें भैरवी

सुना रहा हूँ तुम्हें भैरवी,
जागो मेरे सोनेवाले !

जब सारी दुनिया सोती थी, तब तुमने ही उसे जगाया,
दिव्य ज्ञान के दीप जलाकर तुमने ही तम दूर भगाया;
तुम्हीं सो रहे, दुनिया जगती, यह कैसा मद है मतवाले ?
सुना रहा हूँ तुम्हें भैरवी, जागो मेरे सोनेवाले !

तुमने वेद, उपनिषद रचकर जग-जीवन का मर्म बताया,
ज्ञान शक्ति है, ज्ञान मुक्ति है, तमने ही तो गान सुनाया;
अक्षर से अनभिज्ञ तुम्हीं हो, पिये किस नशा के ये प्याले ?
सुना रहा हूँ तुम्हें भैरवी, जागो मेरे सोनेवाले !

गंगा – यमुना के कूलों पर सप्त - सौध थे खड़े तुम्हारे,
सिंहासन था, स्वर्ण-छत्र था, कौन ले गया हर वे सारे ?
टूटी झोंपड़ियों में अब तो जीने के पड़ रहे कसाले !
सुना रहा हूँ तुम्हें भैरवी, जागो मेरे सोनेवाले !

भूल गये क्या राम-राज्य वह, जहाँ सभी को सुख था अपना,
थे धन-धान्य-पूर्ण गृह अपने, आज बना भोजन भी सपना;
कहाँ खो गये वे दिन अपने, किसने तोड़े घर के ताले ?
सुना रहा हूँ तुम्हें भैरवी, जागो मेरे सोनेवाले !

भूल गये वृन्दावन, मथुरा, भूल गये क्या दिल्ली, झाँसी ?
भूल गये उज्जैन, अवन्ती, भूले सभी अयोध्या, काशी ?
यह विस्मृति की मदिरा तुमने कब पी ली, मेरे मदवाले !
सुना रहा हूँ तुम्हें भैरवी, जागो मेरे सोनेवाले !

भूल गये क्या कुरुक्षेत्र वह, जहाँ कृष्ण की गूँजी गीता,
जहाँ न्याय के लिए अचल हो पांडु-पुत्र ने रण को जीता ?
फिर कैसे तुम भीरु बने हो, तुमने रण-प्रण के व्रण पाले !
सुना रहा हूँ तुम्हें भैरवी, जागो मेरे सोनेवाले !

तुमने तो जापान चीन तक उपनिवेश अपने फैलाये,
तुमने ही तो सिंधु पार जा करुणा के संदेश सुनाये;
भूल गये कैसे गौतम को, जो थे जग-तम के उजियाले ?
सुना रहा हूँ तुम्हें भैरवी, जागो मेरे सोनेवाले !

याद करो अपने गौरव को, थे तुम कौन, कौन हो अब तुम।
राजा से बन गये भिखारी, फिर भी मन में तुम्हें नहीं ग़म ?
पहचानो फिर से अपने को, मेरे भूखों मरनेवाले !
सुना रहा हूँ तुम्हें भैरवी, जागो मेरे सोनेवाले !

जागो हे पांचालनिवासी ! जागो हे गुर्जर, मद्रासी !
जागो हिन्दू, मुग़ल, मरहठे ! जागो मेरे भारतवासी !
जननी की ज़ंजीरें बजतीं, जगा रहे कड़ियों के छाले !
सुना रहा हूँ तुम्हें भैरवीं, जागो मेरे सोनेवाले !

जय जय जय !

(प्रयाण-गीत)

फूँको शंख, ध्वजायें फहरें,
चले कोटि सेना, घन घहरें।
मचे प्रलय ! बढ़ो अभय ! जय जय जय !

जननी के योद्धा सेनानी,
अमर तुम्हारी है क़ुर्बानी;
हे प्रणमय ! हे व्रणमय ! बढ़ो अभय !

नित पददलित प्रजा के क्रंदन,
अब न सहे जाते हैं बंधन !
करुणामय ! बढ़ो अभय ! जय जय जय !

बलि पर बलि दे चलो निरंतर,
हो भारत में आज युगांतर;
हे बलमय ! हे बलिमय ! बढ़ो अभय !

तोपें फटें, फटें भू-अंबर,
धरणी धँसे, धँसे धरणीधर।
मृत्युंजय ! बढ़ो अभय ! जय जय जय !

अमर सत्य के आगे थरथर
कँपे विश्व, काँपे विश्वंभर;
हे दुर्जय ! बढ़ो अभय ! जय जय जय !

बढ़ो प्रभंजन आँधी बनकर;
चढ़ो दुर्ग पर गाँधी बनकर;
वीर हृदय ! धीर हृदय ! जय जय जय !

राजतंत्र के इस खँडहर पर
प्रजातंत्र के उठें नवशिखर।
जनगण जय ! जनमत जय ! बढ़ो अभय !

जगें मातृ-मंदिर के ऊपर
स्वतन्त्रता के दीपक सुन्दर।
मंगलमय ! बढ़ो अभय ! जय जय जय !

कोटि-कोटि नित नत कर माथा
जनगण गावें गौरव-गाथा।
तुम अक्षय ! अमर अजय !

जननी के मन--प्राण-हृदय !
जय जय जय ! बढ़ो अभय !

प्रभाती

किस सुख की निद्रा में सोये तम का अंचल तान ?
जागो, वैभव लुटा तुम्हारा, जागो, हुआ बिहान।
हृदय शून्य है, अन्धकार हैं, लुटी ज्ञान की मणियाँ;
हाथ-पाँव में पड़ी हुई हैं जटिल रूढ़ि की कड़ियाँ।
ऋषियों की सन्तान ! जागो, हुआ बिहान !

सोने-चाँदी के टुकड़ों पर बेच रहे हो बाल।
सरस्वती के लाल, पतन की ओर तुम्हारी चाल !
विधवाओं के नयन-नीर से घर का कोना गीला,
जागो, आज तुम्हारे जीवन के सुख का मुख पीला !
हे भारत-संतान ! जागो, हुआ बिहान !

रेखाओं में धर्म, चारु चन्दन में ही है कर्म;
तुम्हें सत्य के आँगन में आते आती है शर्म !
जागो, जागो, ए सदियों के सोये हुए प्रकाश !
एक बार फिर तिमिर वक्ष पर हो किरणों का रास !
ऋषियों की सन्तान ! जागो, हुआ बिहान !

प्रयाण-गीत

उठो, बढ़ो आगे, स्वतन्त्रता का स्वागत - सम्मान करो;
वीर सिपाही बन करके बलिवेदी पर प्रस्थान करो।

तन पर खादी सजी निराली, मन में देशभक्ति मतवाली,
कर में हो स्वराज्य का झंडा, उर में मा का ध्यान करो।
उठो, बढ़ो आगे, स्वतन्त्रता का स्वागत - सम्मान करो।

लिये सत्य – करवाल हाथ में, लिये अहिंसा – ढाल साथ में,
बढ़ो, वीर बाँकुरे ! समर में, घोर युद्ध घमसान करो।
उठो, बढ़ो आगे, स्वतन्त्रता का स्वागत - सम्मान करो।

जब तक एक रक्त - कण तन में, पीछे हटो न तिल भर प्रण में;
विजय-मुकुट है हाथ तुम्हारे, दृढ़ हो जीवन-दान करो।
उठो, बढ़ो आगे, स्वतन्त्रता का स्वागत - सम्मान करो।

पथ-गीत

हम मातृ-भूमि के सैनिक हैं, आज़ादी के मतवाले हैं;
बलिवेदी पर हँस-हँस करके, निज शीश चढ़ानेवाले हैं।

केसरिया बाना पहन लिया, तब फिर प्राणों का मोह कहाँ ?
जब बने देश के संन्यासी, नारी-बच्चों का छोह कहाँ ?
जननी के वीर पुजारी हैं, सर्वस्व लुटानेवाले हैं;
हम मातृ-भूमि के सैनिक हैं, आज़ादी के मतवाले हैं।

अब देश-प्रेम की रङ्गत में रँग गया हमारा यह जीवन।
उसके ही लिए समर्पित है सब कुछ अपना यह तन-मन-धन।
आगे को बढ़ा चरण रण में, पीछे न हटानेवाले हैं;
हम मातृ-भूमि के सैनिक है, आज़ादी के मतवाले हैं।

सन्तान शूर-वीरों की हैं, हम दास नहीं कहलायेंगे;
या तो स्वतन्त्र हो जायेंगे, या रण में मर मिट जायेंगे।
हम अमर शहीदों की टोली में, नाम लिखानेवाले हैं;
हम मातृ-भूमि के सैनिक हैं, आज़ादी के मतवाले हैं।

●

तैयार रहो

मेरे वीरो! तैयार रहो,
फिर भेरी बजनेवाली है;
मेरे तीरो! तैयार रहो,
फिर टोली सजनेवाली है!

शाबास! शूरवीरो मेरे, शाबाश! समरधीरो मेरे!
शाबाश! जननि के चरणों में लुटनेवाले हीरो मेरे!
मंज़िल थोड़ी ही शेष रही, साहस ले उर में चले चलो;
मुसकानों से, बलिदानों से, बाधा-विघ्नों को दले चलो।

यह मधुर संधि-संदेश सिमटनेवाली पल में छाया है;
इसके अंचल में मत सोना, यह छलना है, यह माया है।
शूरो! वीरों के शोणित का अभिमान लिये तैयार रहो;
आहत जननी के अंतस् के अरमान लिये तैयार रहो।

तैयार रहो, मेरे वीरो, फिर टोली सजनेवाली है;
तैयार रहो, मेरे शूरो, रणभेरी बजनेवाली है!
इस बार बढ़ो समरांगण में, लेकर वह मिटने की ज्वाला,
सागर-तट से आ स्वतन्त्रता, पहना दे तुमको जयमाला!

●

बढ़े चलो ! बढ़े चलो !

न हाथ एक शस्त्र हो,
न साथ एक अस्त्र हो,
न अन्न, नीर वस्त्र हो,
हटो नहीं, डटो वहीं, बढ़े चलो, बढ़े चलो !

रहे समक्ष हिमशिखर,
तुम्हारा प्रण उठे निखर,
भले ही जाये तन बिखर;
रुको नहीं, झुको नहीं, बढ़े चलो, बढ़े चलो !

घटा घिरी अटूट हो,
अधर में कालकूट हो,
वही अमृत का घूँट हो;
जिये चलो, मरे चलो, बढ़े चलो, बढ़े चलो !

गगन उगलता आग हो,
छिड़ा मरण का राग हो,
लहू का अपने फाग हो;
अड़ो वहीं, गड़ो वहीं, बढ़े चलो, बढ़े चलो ?

चलो, नई मिसाल हो,
जलो, नई मशाल हो,
बढ़ो, नया कमाल हो;
रुको नहीं, झुको वहीं, बढ़े चलो, बढ़े चलो !

अंशेष रक्त तोल दो,
स्वतन्त्रता का मोल दो,
कड़ी युगों की खोल दो;
डरो नहीं, मरो वहीं, बढ़े चलो, बढ़े चलो !

जय राष्ट्रीय निशान !

जय राष्ट्रीय निशान ! जय राष्ट्रीय निशान !
जय राष्ट्रीय निशान !!

लहर लहर तू मलय पवन में,
फहर फहर तू नील गगन में,
छहर छहर जग के आँगन में,
सबसे उच्च महान ! सबसे उच्च महान !
जय राष्ट्रीय निशान !!

जब तक एक रक्त कण तन में,
डिगें न तिलभर अपने प्रण में,
हाहाकार मचावें रण में,
जननी की संतान ! जननी की संतान !
जय राष्ट्रीय निशान !!

मस्तक पर शोभित हो रोली,
बढ़े शूरवीरों की टोली,
खेलें आज मरण की होली,
बूढ़े और जवान ! बूढ़े और जवान !
जय राष्ट्रीय निशान !!

मन में दीन-दुखी की ममता,
हममें हो मरने की क्षमता,
मानव-मानव में हो समता;
धनी - गरीब समान, गूँजे नभ में तान !
जय राष्ट्रीय निशान !!

तेरा मेरुदंड हो कर में,
स्वतन्त्रता के महासमर में,
वज्र शक्ति बन व्यापे उर में,
दे दें जीवन - प्राण ! दे दें जीवन - प्राण !
जय राष्ट्रीय निशान !!

●

विप्लव-गीत

रवि गिरने दे, शशि गिरने दे, गिरने दे तारक सारे,
अचल हिमांचल चल होने दे, जलधि खौलकर फुंकारे।

धरा धसकने दे पग-पग में, शैल खिसकने दे जल में
दाहक प्रभुता का मोहक आवरण मसकने दे पल में।
खंड-खंड भूखंड, अंड-ब्रह्मांड- पिंड नभ में डोलें,
मेरे मृत्युंजय की टोली जब मा की जय-जय बोले !

धूम्रकेतु चमके, चमके शनि, चमके राहु, त्रास पल-पल,
होवें ग्रह बारहों केंद्रित, विकल करें रव दिङ्मंडल;
मातायें छोड़ें पुत्रों को, पति को छोड़ें बालायें;
अपनी – अपनी पड़े सभी को, प्राणों के लाले छायें।

धुआँधार हो, अंधकार हो, कहीं न कुछ सूझे-दीखे,
स्वयं विधाता भस्मसात् हो, भूल जाय लिखना लेखे।
सप्तसिंधु, बारहों दिवाकर, चौदह भुवन-लोक थहरें,
बहें पवन उंचास, नाश के ऐसे अंतिम क्षण लहरें।

वज्रपात हो, बिजली कड़के, थर-थर काँपें सब जल-थल,
अतल, वितल, पाताल, रसातल, भूतल, निखिल सृष्टि-मंडल!
महाप्रलय होने दे निष्ठुर! कर विनाश की तैयारी।
सर्वनाश हो पराधीनता का यों भारत की सारी!

वासवदत्ता

समर्पण

जो वृद्ध होकर भी तरुण हैं, अनुरागी होकर भी त्यागी हैं,
भिखारी होकर भी भगवान हैं, ज्ञात होकर भी अपनी महत्ता
के कारण अज्ञात हैं, उन महामहिम महामना महर्षि
मदनमोहन मालवीय जी महाराज के तपःपूत पादपद्मों में,
वासवदत्ता—ये सांस्कृतिक रचनायें, जो उन्हीं के
स्नेहांचल में प्यार-दुलार पाकर इतनी बड़ी हुई हैं—
आज काशी विश्वविद्यालय की रजतजयंती के
ऐतिहासिक अवसर पर, सादर सविनय
समर्पित है।

वसंतपंचमी,
संवत् १९९८

सप्रणाम,
सोहनलाल

शुभाशंसा

श्री सोहनलाल जी द्विवेदी प्रियकवि के रूप में मेरे चिरपरिचित रहे हैं। इधर उनकी वाणी में जो नया उत्साह और ओज फूटा है, उसे देखते हुए उनकी प्रगतिशीलता में कौन सन्देह कर सकता है? स्वच्छंदतापूर्वक जिस प्रौढ़ि की ओर वे अग्रसर हो रहे हैं, जान पड़ता है, स्वयं वह भी उन्हें वरण करने के लिए आतुर हो रही है।

बँगला के कवि माइकेल मधुसूदन दत्त ने अपने अमित्राक्षर छंद को आयत्त करने के सम्बन्ध में कहा था—इसकी बार-बार आवृत्ति करने से जब कान अभ्यस्त हो जायेंगे, तब जान पड़ेगा यह क्या वस्तु है। सोहनलाल जी और उनके पाठकों को मधुसूदन दत्त और उनके पाठकों की अपेक्षा अधिक सुविधा प्राप्त है। हमारा कवि आज एक ही स्थान पर बैठकर दूर-दूर के बहुसंख्यक श्रोताओं को अपने छंद सुनाकर उनका गंठन अनायास दिखा सकता है। उस दिन रेडियो पर 'वासवदत्ता' का पाठ सुनाकर सचमुच मैं बहुत ही प्रभावित हुआ था।

उसे सुनकर स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ की 'अभिसार' नाम की रचना का स्मरण हो आया। उसके होते हुए सोहनलाल जी ऐसी सुन्दर रचना कर सके, यह उनके लिए बड़ी प्रशंसा की बात है।

मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता होती है कि सोहनलाल जी का कवि स्वच्छंद होकर भी संस्कारशील है, और यथार्थवादी होकर भी आदर्शपरायण।

हिन्दी के कवियों में उनका उच्च स्थान सुरक्षित है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। उनका स्नेह और अनुग्रह पाकर मैं अपने को भाग्यशाली मानता हूँ।

मैथिलीशरण गुप्त

आमुख

'भैरवी' के साथ मेरी रचनाओं का एक युग समाप्त होता है। 'वासवदत्ता' में मेरी कविता का नवीन युगारंभ है। 'भैरवी' में जहाँ इस युग की गतिविधि एवं प्रगति का चित्रण है, 'वासवदत्ता' में वहाँ युग-युग की भारतीय संस्कृति को अंकित करने का प्रयत्न है।

'भैरवी' के कवि का पक्ष यह है कि इस समय हमारे सामने सबसे बड़ा प्रश्न बंधन से मुक्त होने का है—उसके पश्चात् और चाहे कुछ भी हो। सभी देशों में जब आज़ादी की लड़ाइयाँ छिड़ी हैं, तब वहाँ के कलाकारों ने, साहित्यकारों ने जाति तथा देश के उद्धार में अपना स्वर मिलाया है। भारत-वर्ष का कलाकार यदि पीछे रहता है, तब, वह या तो मरा है, या जीवित नहीं।

'वासवदत्ता' के कवि का पक्ष है कि देश स्वतंत्र तो होगा ही, इसमें संदेह कैसा ? कवि से आशा की जाती है कि वह देश को आज़ादी के ही गीत न दे, किन्तु वे रचनायें भी दे जो उसके समाज, जाति, राष्ट्र के मेरुदण्ड-आदर्श को सीधा रख सकें। यदि देश स्वतन्त्र भी हो गया, किन्तु, उसका आदर्श, सभ्यता, संस्कृति, नैतिक पृष्ठभूमि पुष्ट नहीं है, तो वह जाति अधिक दिन अपने पाँवों पर खड़ी नहीं रह सकती।

'वासवदत्ता' की नीवँ भैरवी की पृष्ठभूमि—मुक्तिभूमि पर ही खड़ी हो सकती है, इसे न विस्मरण करना चाहिए, क्योंकि किसी भी राष्ट्र की संस्कृति-सभ्यता तब तक सुरक्षित नहीं, जब तक वह स्वतंत्र नहीं। युग ने जो करवट बदली है, 'भैरवी' उसका राजनीतिक पक्ष है, 'वासवदत्ता' सांस्कृतिक। एक शरीर है तो दूसरी आत्मा, जिनके समन्वय से ही पूर्ण मानवता की प्रतिष्ठा सम्भव है।

इसके उत्कृष्ट कथानकों ने मेरे मन को आकृष्ट न किया होता, तो मैं ये रचनायें लिखने का साहस ही नहीं करता।

'वासवदत्ता' मुझे उत्कृष्ट रचना इसलिए जान पड़ती है कि इसके पढ़ने के पश्चात् हमारी वासना नीचे दबती है और आत्मा ऊपर उठती है। बारम्बार इस रचना को पढ़ने का अर्थ यही होगा कि जब कभी जीवन में कोई वासवदत्ता

हमारे सामने उसी हाव-भाव और कटाक्ष से यौवन समर्पित करेगी, हम एक बार सजग हो जायँगे। यह कथानक उस समय हमें गौतम के गौरव को प्राप्त करने का प्रलोभन ही नहीं देगा, प्रत्युत आत्मशक्ति भी। यदि हम सचमुच ऐसे परीक्षा के समय वासना को नीचे दबा सके, और ऊपर उठ सके, तो इससे अधिक कविता से और क्या आशा करनी चाहिए ? यहीं, मैं समझता हूँ, साहित्य का, कला का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है।

इसी प्रकार की उदात्त भावनायें 'उर्वशी', 'कर्ण और कुन्ती', 'एक बूँद' आदि रचनाओं में अपने ढंग से अलग-अलग हैं।

महात्मा टाल्सटाय ने साहित्य या कला का जो उद्देश्य बताया है, उसे रवीन्द्र बाबू ने 'प्राचीन साहित्य' में उद्धृत किया है। उसका आशय बहुत कुछ इस प्रकार है—जो कला, क्रूर को दयालु, कृपण को उदार, भीरु को वीर, दानव को मानव और मानव को देवता बना सके वही सफल है। एक वाक्य में–उदात्त भावों को, सद्विवेक, सद्विचार, सद्भावना को जगाना काव्यादर्श है। जो कला, कविता, हममें अच्छे संस्कारों को जाग्रत् न कर सके, समझना चाहिए, वह अपने आदर्श से च्युत है। मैं समझता हूँ, इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते।

इसी काव्यादर्श को सामने रखकर 'वासवदत्ता' की रचनायें लिखी गई हैं।

आशा है, भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण के युग में इनका प्रकाशन असामयिक न समझा जायगा।

बिन्दकी, यू० पी०
वसंतपंचमी,
१९९८ विक्रमाब्द

सोहनलाल द्विवेदी

आभार

'भैरवी' से 'वासवदत्ता' की ओर मेरी प्रवृत्ति को लाने का श्रेय परम सहृदय, कविता-मर्मज्ञ भैया साहब को है। मेरे ऊपर उनका इतना स्नेह है कि उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना भी मुझे अशिष्टता जान पड़ती है।

वासवदत्ता

आज से बहुत दिन पहले की कहता हूँ बात—
जब कि/स्वर्णयुग का खिला था मधुर प्रभात
भारत की प्राची में;
देश धन-धान्य से पूर्ण था,
थे न हम परतंत्र किसी बंधन में,
आये थे मुग़ल भी न इस देश में,
अपनी थी संस्कृति अछूत, पूत-पावन विचारों से,
अपना था दिवस, और, अपनी थी सभी बात।
उसी समय,/गौतम के गौरव का, वैभव का,
गूँजा था विशद गान;
गृह-गृह आमंत्रण-निमंत्रण तथागत का था,
होता वह धन्य/पहुँच जाते ये देव जहाँ।
यों ही, प्रतिस्पर्धा चला करती थी दिन-रात,
किसके गृह होंगे यह अतिथि आज ?
गौतम थे/तरुण-अरुण-करुण, श्री से वरुण सम
कान्तिमान, तेजमान;
कितनी ही सुंदरियाँ, देख-देख दिव्यरूप
होतीं बलिहार श्रीचरणों में तथागत के।

एक दिवस,/निर्जन में,/मधुऋतु की संध्या में,
जब कि/खिल उठी थी फुल्ल मालती, लताएँ चारु,
गंध-अंध मधुप थे दौड़ रहे चारों ओर—
सुषमा की प्रतिमा,/एक तरुणी दिवांगना-सी,

कवि-कल्पना-सी/विधि की अनूप रचना-सी,
सुन्दरी, प्रणय-अभिलाषा-सी,/मादक मदिरा-सी,
मोहक इन्द्रधनु-सी,
आनत हो चरणों में, पाणिपल्लव कर संपुटित,
आँखों से जादू-सा फेरती,
उन्नत कुचकलशी को अंचल से ढकती-सी,
लज्जा से छुई-मुई बनती, सिकुड़ती-सी,
बोली वीणा-वाणी में—

"अतिथि देव !/यौवन यह अर्पित पद-पद्म में है,
इसको स्वीकार करो,/यह न तिरस्कार करो,
यौवन यह, रूप यह, जिसे प्राप्त करने को
यती यत्न करते, तपी तपते पंचाग्नि नित्य,
बड़े-बड़े चक्रवर्ति, मुकुट विसर्जित कर,
चाहते अधर का दान, चाहते भृकुटि का दान !
तप्त उर शीतल करो गाढ़ परिरंभण दे।"

गौतम यह देखकर,/माया सब लेखकर,
चकित-से, विस्मित से, भ्रमित-से, अवाक्-से,
लगे देखने सभी लीला वासवदत्ता की,
रूप की,/यौवन की,/यौवन के आग्रह की,
प्राणों के कंपन की,/सिहरन की।
शांत हो बोले साधु—/"देवी, क्या कहती हो ?
सावधान होके ज़रा सोचो तो,
कहती क्या ?/किससे फिर ?
आज मैं अतिथि नहीं बनूँगा इस गृह में।"

इतना कह/शान्तचित्त चले गये आर्यपुत्र;
क्लान्तचित्त, भ्रान्तदेह, श्रान्त बुद्धि लिये, पर, बैठी रही
वासवदत्ता मलीन,

फूट-फूट रोती रही अपने दुर्भाग्य पर,
विनय पर, अनुनय पर, आग्रह-अनुरोध पर,
अपने दुर्बोध पर !
जलते उर मरुथल में एक था सहारा किन्तु,
गौतम थे कह गये—/"आऊँगा देवि ! फिर,
होगी जब कभी तुम्हें/मेरी टोह बाट में।"

होती अधीर, पीर उर में समेटे सब,
नयनों में नीर, वासवदत्ता भी शांत हुई।
बीते दिवस, मास,/बीते पक्ष, वर्ष,/बीते युग कितने ?

आज वह तरुणी नवीन/वृद्ध है हो चली,
उसका शरीर आज जर्जर है, दुर्बल है,
कोई नहीं पूछता, कहाँ रहती है वह !
आज धूलि-धूसरित कलिका पड़ी है छिन्न !
भिन्न हैं सभी अभिन्न !
खिन्न चित्त को है नहीं पूछता कहीं भी कोई।
उड़ गये मधुप वे, जो कलिका में मधु देख,
केसर औ' कुंकुम देख,
रूपलुब्ध होकर, प्रबुद्ध बड़े/आते इस ओर खिंचे,
तोड़कर संबंध जाति का, कुल का, समाज का;
आज नहीं कोई कहीं आता है/दिखाई देता।
उड़ गये, वैभव-विभव माणिक मणि
छाया-से, माया-से !
आज वासवदत्ता पड़ी है अनाथ !
साथ नहीं कोई;/उसका शरीर दुर्गंधित है,
अंग-अंग सड़ रहा है आज,/पीप पड़ गई है,
व्याधि उपजी है ऐसी कि, आते नहीं वैद्य भी,
आँखें धँसीं, ऊर्ध्वश्वास,/मूर्च्छित-सी पड़ी है वह !

इतने ही में द्वार में धक्का लगा ज़ोर से,
आया त्यों ही झोंका एक मलयानिल का भी,
आया कुछ होश वासवदत्ता के चित्त में;
बोली वासवदत्ता,/"कौन ?"
"मैं हूँ तथागत !/आज आया हूँ अतिथि बन।"

करुणामय विलोक शोक-युक्त रमणी को,
काँप उठे करुणा से,/पिघल उठे दुःख से।
गौतम ने अपने पुण्यपाणि से
फफोलों पर, छालों पर, घाव पर, पीप पर,
शीतल जल छिड़का,/निज हाथ से धोया उन्हें,
जी-सी उठी मृत-हृत वासवदत्ता तुरंत,
देखने लगी सतृष्ण गौतम की मूर्ति को,
सेवा की स्फूर्ति को।

बोले तथागत—
"यह आया हूँ, आज देवि !
आज अनिवार्य था आना यहाँ मेरा यह !"
कंठ भर आया,/वासवदत्ता नत चरणों में—
मस्तक धर,/हृदय धर,
जीवन धर,/प्राण धर,
जड़-सी बनी बैठी वहीं,
बोल कुछ पाई नहीं;
अर्चना अचल बनी,
वंदना सफल बनी,
हो गई मौन, कह पाई कुछ बात नहीं !

उर्वशी

स्वर्ग-कथा--
लासमयी, हासमयी, विविध विलासमयी,
सुंदरियाँ, अप्सरियाँ, किन्नरियाँ
नंदन-निकुंज में,/पारिजात-पुंज में,
जहाँ केलि करती हैं कल्पलता मंडप में,
जहाँ अर्धमीलित दृग किये देव-गंधर्व,
पीते हैं सुरा, सुधा, सोमरस, मधुपर्क,
जहाँ/अंग-लतिका में लिखते अरुण कपोल,
लोल भृंग पीते हैं आनन का मधु-पराग,
यौवन अक्षुण्ण जहाँ
करता रँगरेलियाँ, अठखेलियाँ निरंतर है,
इन्हीं रूपसियों के सरल-तरल कुंतल-सी
बहती मंदाकिनी अमंद मकरंद ले ।

एक बार—
इसी सुरलोक में,/सुरपति के ओक में,
ऊर्ध्वगामी पुण्य-सम, सौख्य-सम,
आये पांडु-पुत्र पार्थ,/जैसे हो पुरुषार्थ ।

इन्द्रलोक में नवीन उत्सव-उत्साह भरा,
अप्सरियों ने नवीन मदिरा से पात्र भरा;
स्वयं उपहार-सी,/सोलह शृंगार-सी,/सुषमा अपार-सी,
करतीं आर्य-पुत्र अर्जुन की अर्चना, वंदना ।
देव-सभा मंडप में चलती नित नई बात,
मधुर प्रात,/स्निग्ध रात ।

एक दिवस—
उत्सव-उत्साह में,/कौतुक-प्रवाह में
देवसुर प्रेयसी,/सुरलोक रूप-सी,
आई चली उर्वशी,
इन्द्रजाल बनकर छा लेने को नभ विशाल,
यौवन की तान में बनने को गहन ताल।
पांडुपुत्र कान्तिमान, शोभित जहाँ/छविमान,
करते विकीर्ण अपनी शत किरण-प्रभा,
दीप्त हो रही थी मणि-रत्नों से इन्द्र-सभा,
श्रवण कर रहे थे सभी आर्य की कीर्त्ति-कथा,
म्लान-श्री हुई थी इन विलास-लीन देवों की।

देख यह रंग-ढंग,/उर्वशी अवश हुई, विवश हुई;
मिले जहाँ नयन चार,/उमड़ उठी अरुण धार,
जगी कामना अपार,/नीरव, निस्पंद प्यार।
उर्वशी विमुग्ध हुई
रूप-लावण्य पर, विक्रम पर, यश पर;
उसकी हृत्तन्त्री में बजने लगा अनुराग,
स्वर्ण-स्वप्न आने लगे पलकों पर मिलन के,
खिल उठी नवीन अरुणिमा कपोलों पर,
लज्जा,/नव सज्जा कर थिरक उठी अंगों में,
मंदस्मिति, नमित नयन, अलस देह,
कामना-तरंगों में;
यौवन नव फूट पड़ा अपने नवयौवन में,
जैसे रक्त-रश्मियाँ बिखरतीं सुमेरु पर,
लतिका-पर, पल्लव पर, तृण-तृण पर, कण-कण पर!

एक रात—
जब कि बह रही थी मंद-मंद मदिर वात,
स्निग्ध हो उठे थे नव मधुऋतु से कुसुम-पात,

जाती स्वर्गंगा इठलाती, मदमाती-सी,/चूमने को सिंधु-अधर,
तम का पहन नील वसन गहन कानन में,
बनकर अभिसारिका,/सजकर शत तारिका,
उसी समय—
उर्वशी त्रिलोकसुंदरी,/सुंदरी ज्यों विभावरी,
सजकर नव हीरहार,/पुष्पहार,
अंग-अंग अंगराग,/केसर, मृगमद-पराग,
मस्तक कुंकुम सुहाग,/अरुण चरण,
नूपुर-ध्वनि, बजती शत किंकिणी,
बजती सी आगमनी, मृदु-मृदु मधु झंकार,
झंकृत-सी करती चर-अचर निखिल तार;
चंचल अंचल में छिपी जैसे स्वर्ण दीप-शिखा,
नील-श्याम पल्लव में जैसे कलिका की विभा,
कृष्ण मेघ-मंडल में जैसे विद्युत् की प्रभा।
चली उर्वशी,/नाम सार्थक बनाने को,
धीर गंभीर पार्थ-प्रण के डिगाने को,
रँगने को सौन्दर्य के रंग में,/विलास के ढंग में,
सोने को, सोती जैसे/सुख से सरोजिनी,/नीरव निशीथ में—
नयन बंद,/मौन स्पंद/अर्जुन के संग में !

वंदन अभिनंदन में, स्वागत में आगत के/आये पार्थ,
बोले – /"आओ, वंदनीया, पूजनीया,
मेरा सौभाग्य परम,/चरम आनंद आज,
गौरवित किया मुझे पद-रज-पराग से,/पावन अनुराग से।
आज्ञा दो देवि, धरूँ –
मस्तक पर, आँखों पर, विद्युद्गति पाँखों पर,
आज्ञा दो देवि !/करो पार्थ को कृतार्थ आज !"

उर्वशी प्रसन्न, जैसे केतकी निकुञ्ज में
अलि से सुन स्नेहगीत,/पुलक स्फीत

बोली—
"आज धन्य मैं, अनन्य मैं,
करके पुण्य दर्शन, वरेण्य आर्य ! आपका,
जिसके प्रताप का,/दिवाकर है भासमान,
दिशि-दिशि में गूँज रहे जिसके नित यशोगान,
अब भी सुन पड़ती है श्रुति-पुट में बार-बार
जिसके बल-विक्रम की गांडीव-टंकार !"
अधरों पर लेकर स्मिति, जैसे हो कृति
किसी विरह-विधुर प्रणयी की,
उर्वशी बोली—
"जानते हो क्यों अर्ध रात,/आई एकाकिनी/यहाँ पर;
पूर्ण कर सकोगे साध मेरी अबाध क्या ?"

"अनुचर मैं आपका,/टाल सकता हूँ नहीं,
कभी कोई बात कहीं।
भगवति महिमामयी ! बोलो क्या कहती हो ?
क्यों यों संदिग्ध भ्रम-धारा में बहती हो ?
कहो—/निश्चिन्त, निश्शंक, निर्भ्रान्ति, निर्धूम;
पार्थ पूर्ण करेगा सभी, अंबर-धरा चूम !"

साहस बटोरकर,/उर की मरोर रोक,
अनुपम सुघराई से,/अभिनव अँगड़ाई से,
उर्वशी बोली,/हेम-वल्लरी ज्यों डोली !—
"सुनकर वीर ! विक्रम, पराक्रम, शक्र सम,
मेरा उर-पद्म खिल चुका है/न जाने कब का,
तब से मैं बनी हूँ अनुरक्त स्नेह-रंग से,/श्रद्धा,प्रसंग से।
मुग्ध हो गई हूँ गुणी !
रूप-लावण्य पर, विक्रम पर, यश पर,
आजानु इन भुजाओं पर,
जिनने किया है दर्प-दलन/सुरों का, असुरों का,

गंधर्व-नाग-यक्ष-किन्नरों का,/धरणीधरों का;
आज/उन्हीं विश्वविजयी बाहुपाश में
आश्रय दो आर्य मुझे;/आई हूँ चरण-शरण,
करने को हृदय वरण,/आभरण बनाने को—
कौस्तुभ-सा आपको,/पौरुष प्रताप को !

पार्थ की मुखश्री अरुण/होने लगी नील वरण,
बोले—/"मैं न समझ पाया अभी
अभिप्रेत आपका,/संकेत आपका।"

उर्वशी बोली—"वह दिन स्मरण है आर्य ?
आये थे सुंदरतम,/शुभ्र शरद घनसम,
मेरी ओर देखा था तरल नयन किये,/मदिरा-सी हिये पिये।
और,/उस दिन आती थी स्वर्गंगा से जब सद्यस्नात
लिये स्वर्ण-कमल/निज पाणि-पल्लव में,
उत्सुक हो पूछा था—/कैसे मैं निकाल सकी ?
मैंने तब वे स्वर्ण-पंखुड़ियाँ सुगंधमयी
चरणों में बिखेर दीं,
हेर दिया तुमने था दुग्धमुग्ध दृष्टि से,
शीतल कर दिया था मुझे अमृत की वृष्टि से,
नवसुख की सृष्टि से।
नयनाभिराम ! क्या वह दिन भी स्मरण है ?"

"क्यों नहीं स्मरण है !
उऋण हो सकूँगा नहीं स्वर्गसंस्मरण से,
इस-स्नेह-अवतरण से।"

"किन्तु,/आज देने मैं आई हूँ—
देती जो किसी को नहीं/अनुपम अमूल्य निधि,
उत्सुक, उत्कंठित, उद्ग्रीव, उन्मन विधि,

देव, असुर, नाग, किन्नर, गन्धर्व सर्व,
चाहते जिसे हैं,/और चंचल अंचल पसार
भिक्षा-सी माँगते हैं, भिक्षुक हो बार-बार,
निराधार,/पुण्यशील ! तपोनिधे !
तप के प्रसाद-सा, नियम अपवाद-सा,
अपने इस अनिंद्य अनवद्य/रूप का, हृदय का, यौवन का दान;
प्राण, इसे स्वीकृत करो,/श्रेष्ठतम दान यह !
आज सीमन्त में भरो नव सिंदूर !
पूर्ण करो युग-युग की अचल मौन कामना !
यह श्रान्त-क्लान्त सरिता सिन्धु-अधर चूम,
अतल में विलीन, आत्मविस्मृति में उठे झूम ।

"सत्य सब, सुर-सुन्दरी ! किन्तु है असत्य एक,
मैं ने कभी न देखा इस क्रम से,/स्नेह-उपक्रम से,
देखता रहा सदैव कौतुक, कौतूहल से,/विस्मय से, हलचल से,
सोचता रहा सदैव कितनी तुम/गरिमामयी, महिमामयी,
तपोमयी, तेजमयी,/जिससे उद्भूत हुआ निर्मलतम/देशवंश !"

'पार्थ ! तो क्या यह भ्रम था मेरा नितान्त ही ?
छलना प्रवंचना थी मेरी भावना ही की ?
देखा क्या मैंने प्रतिबिम्ब निज रूप का ही ?
सुनी क्या मैंने प्रतिध्वनि निज स्वर ही की ?
मैं ही थी प्रश्न, और उत्तर थी मैं ही स्वयं ?
यह सब असम्भव है !/असम्भव है यह सब !
अधरों के कम्पन ये,/रोमों की पुलकन ये,
अंगों की सिहरन ये,/प्राणों के स्पन्दन ये,
कहते सभी हैं यही—/तुम भी आसक्त हुए,
तुम भी अनुरक्त हुए,
साक्षी हैं मेरी ये आँखें,/मधु-भीगी पाँखें !"

झंझा की बातें सुना करता है हिमवान
जैसे अचल अटल व्रती हो निमग्न ध्यान,
वैसे थे पार्थ,/अविचल यथार्थ !
बोले पार्थ—/"विश्वसुन्दरी ! व्यथित न हो,
उच्छ्वसित हो के, व्यर्थ व्याकुल मूर्च्छित न हो,
मैं हूँ अयोग्य सर्वथा ही इस दान के !"

"तो क्या, निवेदिता, सर्मपिता,
चली जाय उर्वशी आज यों उपेक्षिता !
होगा परिणाम अशुभ, शुभ ! इसे जान लो।"

पोंछ उत्तरीय से मस्तक के श्रमविन्दु,
बोले/भयभीत विनीत परमार्त पार्थ !—
"संभव नहीं है, यह कार्य आर्ये !
सर्वथा अनार्य !/दुष्कार्य मेरे लिए !"

पड़ता तुषार, शीतभार से असह्य जैसे
सोती मृत्युशय्या में/मौन हो कमलिनी,
त्यों ही/हतचेतन, अचेतन हुई उर्वशी !
आया जब होश, रोषयुक्त बनी उल्का-सी,
टूट पड़ी,/फूट पड़ी/वज्रवोष करका-सी,
भृकुटि बंक,/अधर कंप,/चीरती धरा का वक्ष
बोली उर्वशी —
"तो क्या उत्तर यह अचल है, अडिग है ?"
"हाँ मैं असमर्थ हूँ,/अयोग्य 'हाँ' कहने में !"

"तो सुन,/छली ! भीरु ! कायर ! पुरुष ! नृशंस !
देती हूँ तुझे शाप !/लगे पाप !
अबला पर तूने किया है यह पदाघात !
कोमलतम भावनाओं पर कठिनतम संघात,

नारीत्व पर तूने किया है यह प्रतिघात !
तो तू,/नराधम !
नर होकर हो नरत्व-हीन,/नारी हो,
मुझसे भी अधिक व्यथित, ग्रथित, दीन;
भोग तू यही भोग,/इसी के योग्य है;
उर्वशी अयोग्य है सत्यतः तेरे लिए !"

पार्थ पदप्रणत,/सजल नेत्र,
वेत्र कंपित से,/बोले आर्द्र कंठ—
"माँ, शिरोधार्य शाप यह !
आप नित्य नंदन में सुख से विहार करें;
अमर कीर्ति बनकर युग-युग विस्तार करें।"

सरदार चूड़ावत

आज गा रहा हूँ गीत स्वर्णिम अतीत का,
नीरव संगीत का,
जब कि वीरभूमि मेवाड़ के प्रदेश में,
वंदित स्वदेश में,
धीर-वीर एक से एक थे श्रेष्ठ औ' वरिष्ठ,
पर्वत, उपत्यका, निर्झर, गिरि-गुहा में आज,
अंकित हैं उनके वीर विक्रम के संघात,
आघात, प्रतिघात;
अगणित सेनायें चलीं, क्वणित वेणु, शृंगीरव,
रणित असि, खड्ग, शर, धन्वा, शत अस्त्र-शस्त्र,
डोल उठी धरणी, तरणी-सी महासिंधु बीच,
तीक्ष्ण खड्ग धार पर,/विक्रम अपार पर,

निज भुज-दण्ड पर,/पौरुष प्रड परचं
वीरों ने दासी बना रखी थी वसुंधरा,
शिर पर स्वर्ण-छत्र, कर स्वर्ण राज्य-दंड,
पद-तल था सिंहासन, माणिक मरकत भरा,
चारण उच्चारण/करते थे विरुदावली,
वंदी, सूत, मागध/बखानते यशावली,
जिनके यश-सौरभ से/सुरभित वनस्थली!

वीरों का चित्र नहीं, यह है चरित्र चारु
क्षत्रिय वीरांगना का,/निर्मल कुलांगना का,
जिसके/तपोत्याग पर,/अचल अनुराग पर,
अमर सुहाग पर,
विजय-श्री आती, बनी बहू रानी-सी,
चिर-पहचानी-सी,
टिकती वीरगृह में, बन वीर का मुकुट-मणि,

एक समय—
इसी राजस्थान में,/युद्ध घमासान में,
जाते सरदार लिये कर शर, खर, प्रखरधार,
वरण करने को मरण,/या कि विजय आभरण,
केसरिया आवरण,/धरते गुरु गहन चरण।

चूड़ावत धीर वीर,/जिनकी महिमा गँभीर
गाता फिरता समीर,
आये थे अभी पाणिग्रहण कर नवल वधू,
छूटा था हाथ से अभी तक हल्दी का न रंग,
सोये थे न एक संग।
अब तक सुहागरात,/का था आया न प्रात;
आई बहू रानी कल्याणी अभी-अभी गृह,
अभी दो-चार दिन भी पाई यहाँ न रह;

गंध-लुब्ध अंध मधुप-से थे बने चूड़ावत,
आये कब मिलन-प्रात,—/फूटे मुख जलजात,
आँखें बनें पाँखें, सोचते थे, मधु-सुधा-स्नात।

इसी समय—
आया परवाना दरबार का,/राणा सरकार का,
"हो रही है हार, साम्राज्य की बारबार,
अभी अविलंब चल दोगे जो न सरदार,
लेकर पदाति, सैन्य, यूथप, जन-संभार,
तो फिर है अंधकार,/रण का अगम पारावार,
हार फिर दुर्निवार।
द्रुति, द्रुततर, द्रुततम प्रस्थान करो,
एक-एक सैनिक पदाति बलिदान करो,
आज रखनी है आन कुल की, मान कुल का,
आत्माभिमान, स्वाभिमान बाहुबल का,
आशा तभी जय की,/अभिलाषा अभय की।"

पाते परवाना,/ हुए चूड़ावत रवाना,
किन्तु, हृदय था अधीर, उर में थी एक पीर,
कुछ दिन हुए आये नहीं,/दृग तक मिल पाये नहीं,
उमड़ पड़ा खड्ग बाँधते, नयन से नीर।
होते आघात-प्रतिघात यों बारबार,
क्षुब्ध उरसिंधु, रूपलुब्ध, उठी महाज्वार,
टूक-टूक होते थे, कगारे गुरु धैर्य के।

आई बहूरानी,/थी तरुणी, सयानी,
मर्म भेद गया उसका, कर्म देख अश्रु का,
शर्म थी उसे अभी; इससे वह मूक रही;
जाते सरदार, हेरते थे मुड़-मुड़ अधीर,
उठती थी उर में रह-रह न जाने कौन पीर!

रास शिथिल, चाल शिथिल, ढाल शिथिल,
शर औ' करवाल शिथिल,
बढ़ता था, अश्व भी न,/स्वामी का मुख देख, रुख देख ।
अश्व-आरोही हो,/समर के बटोही हो,
ऊपर निर्मोही हो,/गये सरदार वीर,
उर में थी नहीं धीर,
भेजा सन्देश, फिर फिर कर, निज पदचर से,
जाके बहूरानी से कहो, "रखे स्मरण संदेश को,
गौरव के वेश को;
करके परास्त शत्रु-दलबल को आऊँगा,
किन्तु, आ पाऊँ नहीं,/तो तुम सती होना यहों,
विचलित होना न कहीं,
रखना अकलंकित, निज अचल सुहाग को,
अविचल अनुराग को ।"

एक बार, दो बार, तीन बार आया चर,
बार-बार उसी संदेश को दुहराया जब,
रानी ने सोचा—/सरदार वीर
के उर है न धीर,
उनके मन-कुसुम बीच,/छिपा है संदेह-कीट,
काट रहा क्रम-क्रम से/उनकी देशभक्ति को,
उनकी राज्यभक्ति को,/उनकी आत्म-शक्ति को,
बोली बहूरानी, थी आखिर क्षत्राणी,
देती हूँ उत्तर, उपहार कुछ और भी,
जाके सरदार से कहो कि "बनो सिरमौर,
सतीव्रत पालती हूँ इधर मैं यहाँ यह अभी,
तुम भी वीरव्रती बनो,/अडिग महारथी बनो ।"

इतना कह—
हल्दी का चढ़ा था रंग,/जिन पाणि-पल्लव में सु रंग,

उन्हीं अरुण हाथों से लेकर तलवार तीक्ष्ण
(मिली जो बिदाई में)
रानी ने,/उस क्षत्राणी ने,
निज शिर को किया छिन्न,/धड़ से उसे किया भिन्न,
दिया उसे हाथ में/अनुचर के, साथ में
सो गई परिणय की इस सुहागरात में,
सो गई मिलन के विरह-प्रभात में।

पहुँचा उधर पदचर,/लिये रक्त-स्रवित शिर,
पूछा सभीत, "उत्तर क्या भेजा है ?"
"उत्तर में--शीश निज सहेजा है।"

वीर सरदार चूड़ावत छिन्न शिर हेर
समझ गये सभी, न की पल-भर कहीं देर;
रुद्र के समान, शीश कंठ में माला कर
चला युद्ध करने, क्रुद्ध कर में भाला कर,
जाता जिस ओर, प्रलय घटा बन छाता उधर,
पाट-पाट भूमि लक्ष-लक्ष नरमुंड़ों से,
कोटि मुंडमाल रणचंडी के चरणों में
अर्पित समर्पित कर बना वह अजेय,/नित्य गेय।

विस्मित, चकित होंगे भ्रमित, बुद्धि, ज्ञान,
सुनकर साधारण-सा यह एक आख्यान,
रण के खिलाड़ियों के नित्य का यह खेल था,
यों पौरुष से मेल था;
क्षुद्र-सी कथा है उस चूड़ावत रुद्र की।

कर्ण और कुन्ती

गहन अंधकार, जिसका न आर पार,
जैसे अज्ञान हो गया हो स्वयं साकार,
कानन अरण्य बीच,/श्वास-सी अदृश्य खींच,
छाया एक डोलती है,/धीरे कुछ बोलती है--
"दानवीर कर्ण !/तेरे यश का कलश सुवर्ण
चूमता है अंबर दिगंत,/शत्रु हैं विवर्ण,
देख तेरा बल-विक्रम, अतुल पराक्रम,/शक्र-सम !
दान दे मुझे भी एक,
दान दिये हैं तूने आज तक अगणित,
जिसकी महिमा से हैं दिशाएँ प्रतिध्वनित ।
दान दे मुझे भी एक,
आज तक दान दिये हैं तूने अनेक ।"
छाया एक और, जैसे काया हो माया की,
आती है और पास;
दो विशाल नेत्र देखते हैं मुखर मूर्त्ति को,
करती मेघमंद्र रव गूँजती गिरा गँभीर--

"कौन तुम ?"
"कुन्ती देवी !"
"आह ! आज कैसे यहाँ भूल आईं ?
क्यों आईं ?
घोर गहन कानन में, वन में, निशीथ में,
भय से जहाँ मौन हैं खग, मृग, पशु, पक्षी सभी,
तम का साम्राज्य जहाँ,
स्वयं ही विभीषिका सजीव जहाँ डोलती है !
तम में, तमीचरों के भी मन में भय घोलती है !"

"वीर कर्ण !
ज्ञात नहीं तुम्हें, अज्ञात है कथा अशेष,
होती है व्यथा विशेष,
हा ! मैं ही तुम्हें, मेरे नवजात !/अपने गर्भ से निकाल !
अंचल मुख पर सँभाल,
शंकित पग, ढूँढ़ मग, भ्रमित दृग,
त्याग आई थी कहीं दूर, महानिर्जन में,
ढकने को कलंक,/अंक में न रख सकी,
अपना स्तन्य पय तुझको न पिला सकी,
छाती पर रख तुझे जग में न जिला सकी,
मेरा तू पुत्र,/मेरा तू हृदय-खंड,
प्राणों का पिंड है मेरे शरीर का !
आ लाल !/गोद भर, आज मैं बनूँ निहाल !
देख आज जननी का स्रवित स्तन्य पय।"

"पुत्र मैं तुम्हारा देवी ?"
"पुत्र तू मेरा है !/हाँ, वत्स !
भूल जा, भूल जा, आज सभी बातें वे,
होता उर टूक-टूक,
स्वर मूक, कंठ रुद्ध, कुछ न कहा जाता है,
विधि का निष्ठुर विधान !
मैंने पाषाण धर लिया निज छाती पर,
कुक्ष कर खाली, चली आई मैं खाली हाथ,
जैसे तू मेरे गर्भ से न हो प्रसूत !"

कर्ण देख कुन्ती का मुख विवर्ण, स्वर त्रिवर्ण,
ढले जैसे द्रवित स्वर्ण,
उनके दृढ़ नेत्रों में ढरक आये, अश्रु चार।
आये पास कर्ण स्वरभंग किये,
हिए शत कंपन थे स्पंदित द्रुत गति से,
चले गये और पास कुन्ती के पार्श्व में।

कुन्ती बढ़ी,/कर्ण को समेट लिया बाँहों में,
प्राणों की चाहों में,
कंठ से लगा लिया, ऐसे दृढ़ बंधन से,
जैसे मिला आश्रय हो/आज उस भिक्षुक को,
युग-युग युगान्त भ्रान्त जो कि गृहहीन हो।
आज जननी को मिला खोया हुआ प्राण-पुत्र;
कुन्ती को मिला कर्ण,
ध्यान लय, ज्ञान लय, संज्ञा का भान लय,
खोये-से खड़े रहे आज एक युग्म हो।
साधक को मिले सिद्धि,/निर्धन को चिर समृद्धि,
पातकी को ज्यों प्रसिद्धि,
त्यों ही आज कुन्ती मुदित पाकर निज कर्ण को।
बोले कर्ण,/"माँ !"
"हाँ लाल, आज मैं निहाल हुई !/चल न आज गृह को।"

जैसे विषवाण संधान हुआ शर से,
उर से हटे कर्ण !/दूर, दूरतर, दूरतम,
बोले कर्ण —/"अब नहीं संभव है !
डिगा कर्त्तव्य से मुझे न आज, जननी तू;
मरने दे स्वधर्म में, इसी में आज स्वर्ग है !
इसी में अपवर्ग है !
पथभ्रष्ट कर न मुझे ममता की माया में।
आह ! कर्ण ने बिताये हैं कैसे दिन,/कैसी रात ?
वह ही जानता है बात !/रहने दे अज्ञात गाथा वह;
माथा झुकने न दे कर्ण का कहीं भी कभी;
मंगल आसीस दे,/माता अब चली जा।"

"कर्ण !/खाली हाथ जाऊँ,
पाकर भी न तुझे पाऊँ ?
देख, तेरे लिए माँ ने क्या न किया कर्म,

क्या न तजा धर्म ?/लौट चल पुत्र !
उस गृह में आज, जहाँ मैं न तुझे रख सकी,
लख न सकी,
चख न सकी पुत्र ! तेरे जन्म-हर्ष को ।
समझी अपकर्ष,/उत्कर्ष नहीं,
तुझे त्याग आई निज अंक से कलंक-सा ।
मेरा कलंक कर मोचन, निष्कलंक हे ?
अंक भर मेरा, मेरे शरद-मयंक !
विस्तृत विशाल अंबर-सा अंधकार,
जिसका न आर पार,
ऐसी भीमा रजनी के उर में नवज्योति भर,/मधु भर —
उस कलिका में जिसका नवगर्भ सकल
निर्जन में हुआ स्रवित,/नियति झंझावात से,
प्रसव ही के प्रात से;/दे अमृत मृतहत को;
लौट चल गृह को, मेरे गृहवासी आज !"

"माँ ! अब जा ।"
"माँ का निःस्वार्थ स्नेह तुझको पुकारता है,
हठ मत कर, पुत्र कर्ण,
जननी का नयन-नीर पदतल पखारता है !
अपने ही शर से अपना न संहार कर !
पांडुपुत्र !/पांडवों पर न्याय कर, विचार कर !
जननी की कामना पर डाल मत धूल, लाल !"

"पुत्र एक कर्ण था,
भूली रही आज तक, तो आज भी न याद कर,
मेरी साधना को आज मत बरबाद कर,
जन्म से किया निर्वासित मुझे, तो आज
मृत्यु में भी न पास आ;
जा माँ ! दूर, दूर, जा, पास न आ ।

तुमने तो वह किया माँ !
मुझको भी वरेण्य आज वरने दो,/तरने दो
विश्व-जलधि,/जिसकी तरंगें हैं कठोर, घोर-रोर,
चारों ओर चट्टान पाषाण,/जिसका कहीं न पार,
केवल बाहुबल से,/ केवल आत्मबल से
करते हैं वीर पार, करते धर्मधीर पार !
कर्ण दान देगा प्राण,/एक-एक रक्त कण,
अणु-अणु,/परमाणु;
किन्तु, जिसकी पकड़ी हैं बाँहें, कभी नहीं
छोड़ेगा उसे कहीं,
जाता जिस ओर, उस ओर मुझे जाने दो !"

"कर्ण, बंधु तू अर्जुन का, युधिष्ठिर का, भीम का, नकुल का,
त्यों ही सहदेव का सहोदर है,/अग्रज है।
कर्ण, तेरे वंशज ये/एक-एक टुकड़ों को भूखे मर रहे हैं आज,
सूखे जा रहे हैं पांडु-पादप बिना नीर के;
पल्लव, पुष्प, फल, सुरभि की फिर आशा ही क्या ?
कर्ण ! तुझे जननी के स्नेह की शपथ है,
शपथ है तुझे आज मेरे इस दूध की।
माँगती हूँ, दान दे—बन रणदूत उस पक्ष से सपूत ! आज,
युद्ध कर रहे हैं जो धर्म, न्याय के लिए।"

"कैसे यह संभव माँ ?
मेरे ही बल पर गरजता है कौरव-दल,
मेरे ही स्कंधों पर है रण का संभार,
मेरे ही कर में आज/निर्भर है विजय-हार !
देखो माँ ! आज मैं ही हूँ/इस महायुद्ध का प्रणबद्ध सूत्रधार !
आज इन्हें छोड़ दूँ,/प्रण के बंध तोड़ दूँ,
रण की गति मोड़ दूँ,/तो क्या होगा नहीं विश्वासघात ?
मरण करूँगा वरण,/न धरूँगा यह अयश चरण।

आज मैं कृतघ्न बनूँ, कैसे यह संभव है ?
आज कर्त्तव्य पर चढ़ाऊँगा बलि शीश की,
हृदय की, रक्त की, प्राण की;
त्याग दो दुराशा आज इस परित्राण की !"

अंधकार, और भी गहन, गहनतर, गहनतम हुआ;
लीन हो गया न जाने कहाँ संवाद ?
स्वप्न था या कि सत्य,/ कौन बतलाये आज !

प्रातःकाल—
कुन्ती चली जा रही थी मलिनमुख,
रिक्तहाथ,/ विनतमाथ,
जैसे असफलता हो बनी स्वयं मूर्त्तिमान !
या कि किसी योगी का/सहसा ही भग्न ध्यान –
हुआ हो विगलित निशा समान !

कर्ण, अरुण वर्ण,/ अरुणोदय से ताम्र स्वर्ण,
सबल सतेज,/ महिमा से मंडित,
साधना हो ज्यों अखंडित,
सबल, सगर्व चले जा रहे थे/ कौरव-रणक्षेत्र में,
उत्सव-उत्साह में,/ गौरव अथाह में,
अविदित प्रवाह में ।
विद्युत्-सी फूटती थी पद-नख की गति ।
शर प्रखर,/धन्वा की प्रत्यंचा चढ़ी और नये सिर से ।

एक बूँद

एक बार—
ऐसा दुर्भिक्ष पड़ा देश में,/ सभी बड़े क्लेश में,
क्षुधा-विकल सकल लोक, शोक-मग्न बना,
रहकर निरन्न/ दीन-हीन गृही-कृषक विषण्ण,
पशुओं को न मिलता तृण,
अन्न का कण भला कहाँ उगता खेत में ?
शिशु बिना पाये दूध/ सूखे उस द्रुमदल-से,
जिसके आलबाल को अकाल ही में अंधड़ ने
निष्ठुर झकझोर दिया,/ दिया नहीं नीर,
दी तपन और पीर,
अरुण कपोल हुए पीतवर्ण,/ मुख विवर्ण !
जननी भर हृदय-आह !/ दुसह दाह,
चाह लिये मूक, उठतीं अवश कराह !
मिला नहीं अन्न;/ कैसे होता संपन्न-सुरस/ विरस तन ?
नयनों में भी न आते जल-कन !

देख सूखी आँखों से,/ छिन्न हुई पाँखों से,
नीरव, निरभ्र नभ,/ करती नत आनन, मन,
भरती निःश्वास,/ धरती हाथ निज माथ पर,
ठोंकती कपाल—आह! क्या होनहार है ?
कृषक म्लान,/ देख-देख खेत और खलिहान,
मरुथल-सा मैदान,/ जो था नित सुनसान,
जैसे यह हो श्मशान,
जहाँ अभी-अभी/ दिये गये हों कृषक फूंक,/ कण्ठ मूक;
छाती हो गई थी विदीर्ण आतप से/ वसुधा की ।
बहती हवा सन-सन,/ बनी हुई अग्नि-कण !
धूल उड़ रही थी चारों ओर उष्ण रेत-सी,
झुलस रहे थे रहे-सहे हरे पादप भी !
होता था ऐसा भान—/ उगा भानु,/ अंतिम समय प्रलय का ।

इसी समय—
भाग्य परिवर्त्त न-सा,/ पूर्वजों के धन-सा,
साधुओं के मन-सा,/ श्यामघन, घन-सा,
आया एक जलद-खंड,/ छाया नील अंबर में;
बूँदें कुछ नीर की थीं कर रहीं वहीं किलोल,
जैसे हों कन्यायें किसी गंधर्व की ।
हीरक-सी, मुक्ता-सी बूँदें/ देखती थीं धरा;
जरा ने उसे जैसे किया हो विकीर्ण-शीर्ण ।
फटा हृदय,/ शुष्क नदी, शुष्क सरित, शुष्क कूप,
कहीं भी हरीतिमा न देती दिखलाई थी !

एक बूँद बोली—
"बहन !/ देखो धरा दीना है !/ आज अन्नहीना है !
तड़प रहे हैं पशु-पक्षी, चर-अचर सभी;
तड़प रहे हैं कृषक, श्रमिक बिना नीर के;
तड़प रही हैं हम-सी कन्यायें माता की;
पशुओं के दूध नहीं स्तन में ।
खायें क्या ?/ तृण नहीं बन में !
चलो बरसा दो आज सरस धार !/ आये जीवन अपार;
जी उठे मिट्टी, उगें अंकुर कुछ हरे-भरे;
पशु तृण खायें,/ लायें दूध निज स्तन में,
शिशुओं को खिलायें मातायें आज दूध-भात ।
शाली हो,/ बन-बन हरियाली हो;/ फूलों में लाली हो;
माली हो प्रसन्न आज देख विश्व-उपवन !
उगे अन्न मिट्टी तोड़,/ कृषक, खेत हों प्रसन्न ।
मरुस्थल में लहलहा उठे आज नन्दनवन,/ स्वर्ग सदन !"

बोली और बूँदें—/ "बहन आँख मूँदें,
मत कूदें इस अर्थ में;/ हम हैं समर्थ कहाँ ?
व्यर्थ भावना है सभी !/कभी कामना न यह होगी सजल, सफल ।

और सजल जलद आयें;/ आकर जल बरसायें,
घेर दिशा दायें-बायें,/ बोरें जब दिशा-छोर,
वर्षा का उठे रोर;
तब कहीं, पगली ! नादान अरी !
वसुधा हो नीर भरी,/ हरी-भरी;
उगे अन्न, उगें खेत, हटे दुर्भिक्ष घोर,
मानव पा अन्न-दान,/ पाये वह पुनः त्राण !"

बोली वह अकेली बूँद—
"मानती सहेली नहीं;/ मुझसे न जाती झेली
व्यथा यह वसुधा की, मानव की क्षुधा की;
माना मैं जलद नहीं, चाहूँ जो, फलद नहीं,
किन्तु, सखी, जाती है वेदना मुझसे न लखी;
जाती हूँ पृथ्वी में/ हरने को व्यथा-भार,
नर की क्षुधा अपार"

इतना कह/ चुप-सी रह/ बूँद वह टूट पड़ी,
अंबर से छूट पड़ी,
पड़ी एक संतप्त कृषक के कपोल पर;
खिल-सी गई कली मुरझी गरीब की;
खिल-सी गई/ अधरों में एक विरल मुसकान !
आशा भरी आँखों से/ ऊपर निहारा, जहाँ
एक जलद-खंड रुका/ लहरा रहा था वहाँ !
अन्य बूँदें विकल हुईं, सोचा यह ठीक नहीं,
गई वह बिचारी भारी व्यथा लिये मन में;
पहुँचेंगी हम जो नहीं,/ अभी-अभी सभी वहीं,
जायेगी झुलस कहीं, होगी भू में विलीन !

सकल बूँदें बनीं विकल,/ लगीं झरने-सी झरझर,
जलद-खंड फूट पड़ा वर्षा के मेघ-सा ।
नील-श्याम जलदों ने/ सुना वृत्त हृदय थाम,

आये घिर-घिर प्रकाम,
चले सभी ढूँढने को खोई हुई एक बूँद;
आँख मूँद,/ टूट पड़े, छूट पड़े/ झर झर झर झर
वसुधा पर, सागर पर, पर्वत पर,
निर्झर पर, सरिता पर, सर पर,
कण-कण पर,/ तृण-तृण पर
ढूँढने को एक बूँद अपने कुल-जाति की,
समाज की,/ स्वदेश की ।

झर-झर झरा नीर, / पावस आया गँभीर;
हरे हुए खेत-खलिहान;/ उगे वहाँ अन्न-धान;
पशुओं ने तृण पाया,/ निर्धन ने धन पाया,
शिशुओं ने दूध पाया, जननी ने वत्स पाया;
कृषकों के सदन भरे,/ तरु-तृण सब हुए हरे !
बूँद जो अकेली चली,/ जीती थी अभी भली;
आईं जब बूँद और,/ बनी वह न मृत्यु-कौर;
सिरमौर बनी अपने विक्रम से, बल से,
एक भावना से—/ जो न देख सकती कहीं दुःख,
चाहे उसे देखना पड़े क्यों न मृत्यु-मुख ।
बूँदें उसे ले गईं गोद में सँभाल कर
इन्द्रधनुष-आसन पर, स्वर्ग-सिंहासन पर,
उसका किया वंदन, अभिनन्दन औ' चंदन
चढ़ाया अपने उर-मधु का,
प्रेम के पराग का,/ हर्ष-अनुराग का ।
वर्षा खड़ी देखती प्रसन्न अति मन ही मन ।
बोली—/ "धन्य एक बूँद,/ तुमसे धन्य मेरा जीवन !"

कुणाल

[अशोक-पुत्र]

एक दिवस रंग था,/नाटक प्रसंग था;
अभिनय कर, दर्शकों के नयन प्राण हर,
जाने लगा जब कुणाल,/अंतर प्रकोष्ठ से
उसी समय, आई आवाज़ एक !/"ठहरो, कुणाल !
अभी मत जाओ !/रुको वहीं !/मुझे कुछ कहना है !"
इधर रुका कुणाल, उधर आगई
महारानी तिष्यरक्षिता,/अभिनव अलंकृता ।
प्रणत, प्रणाम कर,/बोला कुणाल, "क्या आज्ञा है ?
रोका क्यों मुझे यहाँ ?"
"तुमसे कुछ कहनी है बात एकान्त में ।"
धक्-धक हृदय, टक-टक नयन लिये,/बोली महारानी,
"क्या कुछ भी नहीं समझे तुम ?/सुन्दर कुणाल !
तुम कितने भले हो, भोले हो !
अभिनय पर मुग्ध नहीं नगरवासी ही अनेक,
मैं भी एक उनमें हूँ, जो हैं मुग्ध तुम पर हुए,
चाहती हूँ कर दूँ समर्पित मन तुम पर !
स्वीकृत करोगे इसे ?"
लेती अँगड़ाई आई और भी पार्श्व में/महारानी,
वश हो अनंग के;
कुसुमायुध ने कुसुम-वाण छोड़ा था उस पर ।
नत दृग कर, नतमस्तक,/बोला कुणाल,
"माता क्या कहती हो ?/किधर आज बहती हो ?
होगा मुझसे न यह अधर्म कभी !"

बोली सम्राज्ञी,/"सोच लो, समझ लो खूब,
लोहा ले रहे हो किससे ?/होगा भला नहीं इससे;
होगा अनुताप-परिताप तुम्हें बार-बार ।"

"कह सकता हूं माँ ! मैं 'हाँ' तो कदापि नहीं,
मुझे विगलित कर रही हो किस कर्म में ?
आती क्या तुम्हें है नहीं शर्म/संकोच,/लाज ?"
"अच्छा तो सावधान !/इसका बदला मैं चुकाऊँगी,
तुमको दिखलाऊँगी,
राजमहिषी क्या कर सकती !"

उधर चला गया कुणाल,/इधर यह क्रुद्ध व्याल—
सदृश फनफनाती, मन ही मन खीझती/अपने अपमान पर,
मर्म पर हुआ घाव, उसे सहलाती हुई—
आई राज्य-सद्म में,/लीन हुई छद्म में।
चलने लगा कूट यंत्र, षड्यंत्र।
किन्तु, यह नियति का निश्चित विधान था,
सुदृढ़ परिधान था,
इससे जान पाये नहीं,/बात कुछ नृपति कहीं।

बीते कुछ वर्ष,/इतने ही में दूर पश्चिम में
शत्रुओं ने किया आक्रमण था राज्य में,
भारी उपद्रव था खड़ा हुआ ऐसा,/थी जिससे आशंका,—
कहीं यह चिनगारी/बन न जाये महाज्वाल,
लील जाय सारा साम्राज्य बड़वाग्नि में।
मंत्री की मंत्रणा से/भेजे गये कुणाल,
देकर सैन्य सबल शत्रु-मद-मर्दन को।
रानी के उर में धधकती थी महाज्वाल,
कैसे निगल जाये वह अपने अपकारी को,
जिसने पदाघात किया,
उसकी कामनाओं पर,/मधुर प्रार्थनाओं पर;
होती असह्य व्यथा यों ही अपमान की,
फिर कामार्त की अतृप्त इच्छा की मौन—
पीर जानता है वही/जिसे अनुभूति हो !

कुसुमायुध ने जिसका शरीर किया जर्जर हो,
महाप्रेम ही तो बन जाता तब महाघृणा !
रानी की यही थी दशा,
नशा पिये हुए/अवसर नित ढूँढ़ती थी,
बदला चुका ले जब,/शीतल हो हृत्तल तब !
चाल चल पाई नहीं,/दाल गल पाई नहीं,
ईश का विधान था, भाग्य बलवान था,
इससे कुणाल का वह बाल बाँका कर न सकी।
शत्रु-मद-मर्दन कर,/और भी यशस्वी हो,/आये कुणाल;
नृपवर पर, सैनिक पर, सेना पर, सेनाधिप पर,
जनगण पर,
छाया प्रभुत्व, तेज, शौर्य नव कुणाल का।
और भी जली,/देख जय यह कुणाल की।
सोची कूटनीति,/रीति प्रीति की थी ऊपर से,
भीति थी इसे भी कहीं खुल न जाय षड्यंत्र,
उड़ न जाय तंत्र-मंत्र कहीं एक फूँक में !

नीरव निशीथ में,/स्निग्ध पर्यंक में,
चरणतल प्रणत कर भाल, सम्राट् के
पदमूल ग्रहण कर पाणि से/बोली,
"महाराज ! आज/मुझे कुछ दान दो,/एक वरदान दो —
मैं भी करूँ भला राज्य एक दिन के लिए !
देखूँ तो,/कितना है भार, कैसा व्यापार बृहत् ?
जीवन की एक साध,/यही है अपूर्ण नाथ !
यौवन की तरंग बही जाती है उमंग भरी,/रंग भरी,
जीवन के उस कूल —
आती नहीं लौट यह/जहाँ से कभी पुनर्बार।"

"इसमें क्या धरा है ?/बस इतनी-सी बात है ?
इसके लिए, क्यों विनय है विनीत ?

जीवन का दान तुमने दिया था, मुझे वह
स्मरण है आज भी, विस्मरण मुझे नहीं !
उसके लिए--जीवन का दान दे सकता हूँ ।
शासन की बागडोर ?/वह भी एक दिन के लिए ?
तुच्छ अति तुच्छ है !
स्वेच्छा से, सुख से, स्वतंत्रता से, न्याय से
बैठो सिंहासन पर/आज ही,
न कल के लिए रखो, कल का भरोसा नहीं;
आज ही मौर्य सिंहासन आसीन हो,भोगो ऐश्वर्य यह;
होगी शान्ति मुझको भी;
कभी न कभी,/लूँगा अवकाश मैं भी, राज्य यह सौंपकर !''

रानी के मन में तो चलता षड्यन्त्र था,/वह कूट तंत्र था;
अवसर के पाते ही/उसने राज्यमुद्रा से मुद्रित कर
आज्ञापत्र सेनाधिप को भेज दिया –
"आज ही कुणाल की दोनों आँखें निकाल,
कर दो निर्वासित उसे देश से सदा के लिए !
यही राज्याज्ञा है,/इच्छा सम्राट् की ।''
पहुँचे ले दूत/यह पत्र,दिया नायक सरदार को;
वह मूक रहा/दण्ड-पत्र देखकर !

बीते युग कितने ?/कह सकता नहीं जितने;
भिक्षुक के वेश में/आये निज देश में
कांचना-कुणाल, ठहर गये हयशाला में;
रात्रि का प्रहर था, उठ चलने का समय हुआ;
कोमल कलकंठ से/भिक्षुक ने छेड़ी तान;
गूँज उठा नीरव में, मलयज की लहरों में,
भैरवी के स्वर लिये जागरण का नित्य गान !
उठे सम्राट् थे, वह भी गाढ़ निद्रा से
मधुर-मधुर स्वर से था उनका उर/स्निग्ध बना,

स्नेह-धारा उठी सहसा उरतल में उमड़;
आज्ञा हुई प्रातः—/"लाओ भिक्षुक को सामने !"
आये सम्राट्, सम्राज्ञी, सामन्त, मंत्रीगण,
परिषद् के और भी सदस्य सभी,
उत्सुक हो सुनने को गान इस भिक्षुक का ।
कांचना-कुणाल,/फटे चीथड़े लपेटे हुए,
लिये क्षीण बीन,/लगे गाने निज नित्य गान,
भीख-दान पाके जिससे पेट थे पालते ।
ऐसा स्वर गूँज उठा महासभा-मंडप में,
मन्त्र-मुग्ध लगे पीने सब मधु को/बंद किये दृग,
जैसे सुनता है सदा मृग/भीलनी की बीन को ।
स्तब्ध-से, जड़-से, स्तंभित सम्राट् हुए ।
"भिक्षुक ! तुम कौन हो ?"
बोल उठे,—/"परिचय दो ।"
"परिचय ?/हम भिक्षुक हैं;
गाते, माँग खाते, यों ही जीवन बिताते हैं !"
"नाम क्या है ?/धाम कहाँ ?
इतना क्या बताओगे ?"
"पूछो मत नरेश, वे व्यथा भरी बातें हैं;
कथा पड़ी रहने दो मौन,/पूछो मत, कौन हूँ ।
आज से पहले मैं पुत्र था/अशोक सम्राट् का;
कांचना बहूरानी सम्राट् की ।"

धक् से हृदय हुआ,/नयन में उमड़ पड़ा नीर महाराज के;
स्नेह से कंठ भरा,/दौड़ पड़े सम्राट्,
कंठ से लगाया, निज पुत्र को, पुत्री को,
खोया धन पाया,/हर्ष वह आया,
चित्रित कर सके न जिसे चित्रकार !/शिल्पकार !
कांचना किशोरी के मस्तक पर पाणि धर,/पास में बिठाया,
अति प्यार से, दुलार से,/स्नेह से, विदेह से ।

आज्ञा के पाते दौड़ी आईं परिचारिकायें,
सेवक, सेविकायें,
ले गये राज्य-भवन दंपति को,/खोई हुई संपति को।
कंधे पर कंथा, अंधे दृग, और कर बीन,/भिक्षुक;
कांचना पहने हुए फटे हुए वस्त्र जीर्ण,/नग्न चरण,
जिनमें लिखे थे अमिट वरण/यात्रा इतिहास के,
युग-युग प्रवास के,/सुख के उपहास के,
मौन निशिदिन की भूख और प्यास के।

खुला जब भेद सब,/हुआ गुरु खेद तब,
होकर सशोक गर्जे क्रुद्ध हो अशोक—
"कहाँ सम्राज्ञी है?/किधर आज भागी है?
जिसने किया कवलित ललित इस दंपति को!
पुत्रघातिनी! व्यालिनी! कुचक्रधारिणी!
पापिनी! पिशाचिनी! कहाँ है कुलनाशिनी?"
भय से विकंपिता,/पदतल समर्पिता,
आई तिष्यरक्षिता;
चेतनाहीन, मूर्च्छित-सी, धरणी में पड़ी दीन,
कठिन अनुताप-सी,/घोर पश्चात्ताप-सी,
जीवित अभिशाप-सी,/हत्या के पाप-सी;
ठुकरा दिया गहन चरण से अशोक ने,
उर के दीर्घ शोक ने।
उसको सके नहीं विलोक,/ज्वाला सके नहीं रोक,
गर्जे गंभीर वज्रनाद-सा निनाद कर,
जैसे हो फटा वज्र,/गिरा अशनि,
"छिन्न करो, धड़ से शिर,/अभी इस पापिनी का,
घोर पुत्रघातिनी का!"
जिसे सके कोई न मेट,/ऐसी आज्ञा थी अमेट!
"अंग-अंग भेदो, छेदो शर से सभी शरीर,
जानेगी तभी पीर कितनी प्रवास में, और निर्वास में!

आये जल्लाद लिये कर में खर प्रखर धार
तलवार, तीक्ष्णधार !
साहस था किसमें ?/शक्ति किसमें ?
जो सके बोल,/वाणी को सके खोल,
एक असि घाट में उतारा जाय वह भी अभी !
मूक सामंत, मंत्री, सभासद, सदस्य सभी,
देखते थे चित्रित-से, जड़ित-से, क्या हो न अभी !
बढ़े जल्लाद/फौलाद की खड्ग लिये,
कितने ही नर शीश-खंड करते हुए
हो गया था कुंठित जिनका ज्ञान, चेतन सभी ।
आज्ञा के पाते जो चलाते नग्न असि को,
क्षण भर न हेर-फेर,!देर जो करते कभी ।
गर्जे अशोक फिर, क्रुद्ध हो सशोक—
"क्यों रुके हो ?/चलाओ खड्ग,
शिर को कबंध के संबंध से करो छिन्न,
भिन्न-भिन्न अंग-प्रत्यंग करो !"

बढ़े जल्लाद ज्यों ही,/बढ़े कुणाल भी त्यों ही,
पड़े पदमूल सम्राट् के अधीर हो ।
नयनों में नीर भर,/बोले दृढ़ स्वर से,
"पिता ! रोक दो, रोक दो,
जननी है मेरी, मेरे सम्मुख यह असम्भव है !
छिन्न करो मेरा शिर पहले, फिर जननी का ।
भिक्षा दो इतनी आज,/भिक्षुक इस पुत्र को ।"
कौन टाल सकता था, वाक्य ये अकाट्य रहे ।

आई तिष्यरक्षिता, रक्षिता हो पुत्र-चरण,
जिसने मरण को कर कंठहार
जननी को दिया अभय का आभरण !

ऐसा उमड़ा उर शोक,/टिक सके नहीं अशोक,
स्वर्णमुकुट, माणिक-मणि-जटित खोल,
शीश पर धर प्रिय कुणाल के,
उसी दिन,/उसी क्षण,/चले गये वन ओर,
पथ, जिसका है न छोर !

भिक्षा-प्राप्ति

"दान करो, दान करो,"/गूंजता था महागान;
महाभिक्षु पहने एक गैरिक परिधान,
घूमते थे स्थान स्थान,/मुखम्लान,
करने को बुभुक्षित, तृषित, नग्नजन का त्राण,
पीड़ित-अकाल,/कालग्रसितों का करने त्राण,
रह रह गूँज उठता था अधर में विकल गान,
"त्राण करो, त्राण करो,/भिक्षा करो दान,
भिक्षा करो प्रदान !"

पहुँचे महाभिक्षु द्वार,/नरपति के दरबार !
सिंहद्वार पार कर, राज्यप्रासाद चीर,
गूंज उठा क्षुब्ध गान,/"दान करो, दान करो,
पीड़ित-अकाल कालग्रसितों का करो त्राण !"
आये उठ सम्राट्,/झंकृत वैभव विराट्,
"महाभिक्षु ! और स्थान,/खोजो कुछ धन धान्य !
मेरा कोष देगा क्षुधितों को क्या सन्तोष ?
कर दूँ सर्वस्व दान,/तो भी होगा न त्राण !
मेरे पास है ही क्या ? क्या मैं करूँ प्रदान !"
भिक्षु नग्न चरणों ने/आगे किया प्रयाण !
"दान करो, दान करो"—

गूंजता था विकल गान, रुद्ध गान, क्षुब्ध गान,
महाभिक्षु घूमते थे स्थान-स्थान,
महासेठ-भवन चीर/गूंज उठा क्षुब्ध गान—
"दान करो, दान करो,
पीड़ित-अकाल, कालग्रसितों का करो त्राण !"
महासेठ आये द्वार,/"महाभिक्षु ! मैं हूँ अति लाचार !
इस बार, लाभ नहीं, हानि ही हुई अपार,
क्या दूँ दान ?/भगवान !
खोजो कहीं और स्थान !/निर्धन हूँ, मैं हूँ नहीं धनवान !"
महाभिक्षु-अधरों में नाच उठी/एक विरस मुसकान !
दग्ध-श्रान्त चरणों ने आगे किया प्रस्थान !

"दान करो, दान करो"—/गूँजता था महागान,
"पीड़ित-अकाल, कालग्रसितों का करो त्राण !"
महावणिक्-धनिक सदन,/गूँज उठा फिर निस्वन ।
महावणिक्/आँख फेर/आये, कुछ लगी देर,
"महाभिक्षु ! मेरा अन्न-भांडार,
रिक्त पड़ा है अपार,/ऋण लेकर उधार,
आता नहीं कोई द्वार;
मैं हूँ दरिद्र, क्षुद्र,/मैं क्या करूँ उपकार !
महाभिक्षु !/और स्थान, माँगो, मिलेगा दान !"

"दान करो, दान करो,
पीड़ित-अकाल, कालग्रसितों का त्राण करो ।"
उठा गूँज पथ में गान,/करता क्षुब्ध प्राण !
महाभिक्षु हो निराश, हताश !
चले जा रहे थे/किये ऊर्ध्व माथ,/रिक्त हाथ ।
आई एक दीना, परमहीना/भिक्षुकी, लिये कर लकुटी,
"महाभिक्षु ! विमुख हो करो मत प्रस्थान !
दूँगी मैं तुम्हें दान,/करूँगी मैं क्षुधित-त्राण !"

महाभिक्षु पुलकित, चकित, अति विस्मित,
बोले ! "है कहाँ दान ?
मातः तुम स्वयं हो कहाँ यों धनवान ?"
भिक्षुकी/सगर्वं बोली,
"महाभिक्षु ! दूँगी मैं तुम्हें दान !/ मैं हूँ महाधनवान !
मेरा धन भरा है वहाँ,/महानृप, महासेठ, महावणिक् हैं जहाँ;
लाती हूँ छीन यहाँ/
महाभिक्षु !/मेरे ही धनधान्य
लूट-लूट करके इन लुटेरों ने/खड़े किये प्रासाद, उच्चभवन,
ध्वजा, कलश, तोरण, और बंदीगान !
निर्धनता ही धन मेरा,
उसी से करूँगी मैं क्षुधित जन त्राण!"

महाभिक्षु थे प्रशांत,/करुणकान्त !
बोले"तुम आओ साथ,
मिल गई भिक्षा मुझे, मेरे हुए चार हाथ !"

महाभिनिष्क्रमण

नीरव निशीथ,/मधुमय थे मदिर प्रहर,
लहर ले रही थी जिनमें चाँदनी वसंत की,
मलयानिल ला रहा था,
आम्रकुंज, कानन से, वन से, उपवन से,
गिरि से, सरित, सर से,/निर्झर से,/तृण-तृण से,
एक नवल परिमल पराग,
अंगराग बन जो था जगाता नव अनुराग,
प्रेम का प्रकंप,/मुग्ध मिलन की मत्त चाह,
एक परिरंभण प्रगाढ़,
विस्मृति में भिगो दे जो उर की अतृप्ति को।

नीरव निशीथ—/जगती जब एक चाह—
कामिनी किशोरी गोरी दामिनी-सी दृग समक्ष,
लक्ष-लक्ष आँखों से रूप-सुरा पान कर,
मधुमय परिरंभण की यमुना में स्नान कर,
वक्ष से लगाके करें सफल स्निग्ध यामिनी;
अधर से अधर मिलें,/भुज से भुज-युगल खिलें,
नयनों से नयन घुलें,
कंठ में हो कंठ, प्राण-प्राण में हों लीन,
बजे कहीं सुदूर प्रेममयी बीन;
कंकण किंकिणि के क्वण/मदिर बनाते हों क्षण,
कोकनद-अरुण-चरण/करते हों प्रगाढ़ और भी अनुराग को।

उसी समय खुली पलक,/बिखरीं कुछ स्निग्ध अलक,
कैसा रस उठा छलक ?/उठे आज गौतम क्यों ?
देखने लगे सतृष्ण सुप्त यशोधरा को,
पत्नी को, रमणी को;/राहुल को,
जिसके दुग्धधवल मुखमंडल पर/बिखरी थी श्री सुचारु,
जैसे हो अबोधता ही बनी स्वयं मूर्तिमान।
यशोधरा, सोती थी स्नेहमग्न,
गौतम भुजमूल लग्न, भग्न स्वर्ण वल्लरी-सी
विलग पड़ी, नींद-लग्न।
खेलती थी मुख पर नवयौवन की श्री अपूर्व,
सुख की थी लाली कुंकुम-सी कपोलों पर;
दीर्घ नेत्र, पलकें थीं अभी बंद/छूती श्रुति कोर छोर;
सुप्त सौन्दर्य था जाग्रत् से भी अधिक मदिर !

देख-देख गौतम यह रूप अति मुग्ध हुए;
बही स्नेह-धार/एक उर में अपार;
खड़े-रहे सुधि बिसार, रोमांच बार बार !
और उधर राहुल का चन्द्रमुख/उठा रहा बार-बार महाज्वार
मधुर वात्सल्य का, तुल्य कैवल्य का !

अगरु धूप की प्रसन्न लहरियाँ सुगंधमयी
छिटक रहीं चारों ओर !
गौतम लगे देखने सुचित्त फिर दशों दिशा;
कितनी शान्तिमयी निशा ?/जननी-सी, रमणी-सी, धनी-सी,
जिसकी पा सुखद गोद,
श्रमित विश्व, थकित श्रमिक, व्यथित लोक/पाता है बल, प्रमोद !
गौतम लगे देखने फिर अपना वैभव-प्रासाद,
खड़ा जो आह्लाद-सा,/वैभव उन्माद-सा,
यौवन प्रमाद-सा,/एक सुखद याद-सा,
जिसके चरणों में झुकी हुई जैसे वसुंधरा
पाणिबद्ध करती हो नित प्रणाम !

कल कल बह रही थी मंद मंदाकिनी अमंद,
मकरंद-सी बिखेरती मरंदकण ।
गौतम बढ़े एक पग,/विमुख बने सुख से,
किये रुख किसी अज्ञात पथ की ओर ।
रुके फिर, झुके फिर,/देखने लगे अधीर,
कैसी यह उठी—पीर
हृदय में, प्राणों में, तन में, मन में ?
जगा प्रयण पत्नी का, जैसे कह रहा हो, "रुको,
कहाँ जा रहे हो ? रुको,
त्याग एकाकिनी, अभागिनी को, मुझको;
तुम्हीं ने किया था ग्रहण मेरा मृदुल पाणि,
हल्दी से रँगे हाथ,/विनत माथ,
साथ रखने के लिए जीवन में, मृत्यु में,
सदा जन्म जन्म में !
आज यों अनाथ कर, कहाँ जा रहे हो नाथ !
पथ क्या तुम्हारा यही, यही पतिधर्म है ?"

भृकुटि में खिंची रेखा,
चिन्ता की, विषाद की, चिर अवसाद की;

मन बना भ्रान्त, चित्त उद्भ्रान्त, दिग्भ्रान्त !
तड़ित्हत, जड़ित-से खड़े अजान/गौतम महान।
जगा पितृ-स्नेह,/हुए गौतम विदेह।
बैठ गये वहीं पास./एक मणि-मंच पर,
मस्तकनत, नयननत, उर की गति धक्-धक्
स्पष्ट गूँजती थी श्रुति में।

क्या था ज्ञात रानी को, आज की ही मिलन-रात
होगी विरह-प्रभात ?/दुस्सह विश्वासघात !
क्षणभर की सुखद नींद/नैश जागरण बनी,
रहेगी सदा तनी;
पाती जान रानी, तो छाती से लगाकर क्या नहीं
रोक लेती उन्हें वहीं,
अनुनय से, विनय से,
विकल हाहाकार से, आँसुओं की धार से,
मूर्च्छित-से, भग्नप्राय, क्षीण स्वर-तार से ?
जाती स्वयं भी या चली,/सरिता-सी उछली,
वरती जन्म और मरण/गौतम के संग-संग,
करती पद-अनुसरण,/उपवन, बन, कानन,
बन सती सीता-सी, पुलकनयन, पुलकबदन !
पाती जान माया,/तो छाया-सी लिये काया,
डोलती धरा में संग./गौतम को भर लेती कानन में उत्संग,
कंटक, कुश, तृण, निहार,/पग सँभार,
करती सहर्ष माँ सर-सरित सिन्धु पार !
चढ़ती हिमश्रृंग,/लिये प्राणों की मधुर उमंग !
और—/पाते जान शुद्धोदन, जाते अभी प्राण-पिंड,
मर जाते दशरथ-से,/तड़ित् शोक-वेग से,
होता हृदय खंड-खंड;/ऐसी थी यह मर्मवेधी व्यथा प्रचंड।

गौतम रहे थे सोच/उर की पंखुरियाँ नोच;
किन्तु, कुछ मिला नहीं संबल निवास का;

आया चित्र सामने फिर वही—
वृद्ध जर्जर का,/कुष्ठगलित नर का,
जिसे लिये जा रहे थे चार मलिन कंधों पर;
भीषणतम शव का,/महा दुख निर्भर का,
आया संवाद याद, सारथी का, छन्नक का।
"यही परम सत्य है !/यही परम तथ्य है !
गौतम ! तुम्हें भी कभी/भोगना है गति सभी;
अरुण, तरुण हो अभी,
इससे जान सकते विश्व का रहस्य न भी।"
अन्तर में द्वन्द्व घोर/उठा रोर,
कृषकाय गौतम उठे पल में झकझोर।
और जगा आत्मबल,/मिला पुण्य संबल;
जगे युग-युग के संस्कार, दृढ़ विचार,
रोक नहीं सकता है जिसे कोई आरपार,
देता है हिमाचल पथ चीर निज वक्षस्थल !
सिंधु बना विंदु, झुक जाता है पदतल में।
एक बार दृष्टि फेर, पुनः प्रिया-पुत्र हेर,
चले आर्यपुत्र त्याग पाटलि-प्रासाद को।

[ऐतिहासिक खंडकाव्य]

समर्पण

हिन्दी के अनन्य समर्थक
मानननीय डा० पुरुषोत्तमदास जी टंडन के
कर-कमलों में
श्रद्धा-सहित
समर्पित

सोहनलाल द्विवेदी

निवेदन

क्रमविकास की दृष्टि से 'कुणाल' 'भैरवी' तथा 'वासवदत्ता' के पश्चात् की रचना है।

'कुणाल' छपने के पूर्व इसकी पांडुलिपि को महापंडित राहुल जी सांकृत्यायन तथा बाबू वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने आद्यन्त देखकर अनुगृहीत किया है। उनके सत्परामर्शों से मैंने इस काव्य में लाभ उठाया है, एतदर्थ उनका आभार मानता हूँ।

मुखपृष्ठ का चित्र सुप्रसिद्ध शिल्पी भाई शंभुनाथ मिश्र ने बनाया है। प्राचीन समय के सिक्कों में वीणा इसी प्रकार की मिलती है।

हिन्दी भाषा एवं साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान् आदरणीय नंददुलारे जी वाजपेयी ने इस काव्य की एक समीक्षा 'भूमिका' के रूप में लिख दी है, एतदर्थ, उनका कृतज्ञ हूँ।

इस प्रबन्ध के लिखने का एकमात्र मेरा उद्देश्य यह है कि यह समाज के युवकों के चरित्रनिर्माण में सहायक हो।

सुरुचिपूर्ण पाठकों को यह प्रयास सन्तोष दे सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

कार्तिक पूर्णिमा
वि० सं० १९९९

सोहनलाल द्विवेदी

भूमिका

'कुणाल' श्री सोहनलाल द्विवेदी का तीसरा काव्यसंग्रह है। इसके पूर्व 'भैरवी' और 'वासवदत्ता' नाम की उनकी दो कविता-पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इन पुस्तकों द्वारा सोहनलाल जी को अच्छी ख्याति और लोकप्रियता प्राप्त हुई है।

सोहनलाल जी बालकों की कविता करने में भी बड़े निपुण हैं। बालकों के लिए उनकी बहुत-सी रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं और उनका यथेष्ट प्रचार भी हुआ है। सोहनलाल जी में अब भी बालकों की सी मृदुता मौजूद है, बच्चों की सी सरलता है।

सोहनलाल जी की कविता का सबसे प्रधान गुण है प्रसाद। सरल प्रकाशन की विशेषता के कारण वे पाठकों की रुचि अधिक आकृष्ट करते हैं। सुन्दर से सुन्दर भाव भी बड़े सीधे ढंग से कह निकलते हैं। इस सम्बन्ध में सोहनलाल जी की तुलना श्री मैथिलीशरण गुप्त से ही की जा सकती है।

सोहनलाल जी की सभी रचनाओं में राष्ट्रीयता का पुट रहता है। यहाँ राष्ट्रीयता से मेरा आशय किसी राजनीतिक आन्दोलन-विशेष से नहीं है। यहाँ राष्ट्रीयता से मेरा मतलब स्वदेशप्रेम की व्यापक भावना से है। अपने देश के रंग में रँगे होने के कारण सोहनलाल जी भारतीय गौरव के सभी आख्यानों को, वे नवीन हों या प्राचीन, बड़ी तत्परता के साथ अपनाते हैं। महात्मा गांधी और महामना मालवीय जी के प्रति उनका एक-सा समादर है। इसी प्रकार बौद्ध और हिन्दू नृपतियों के आख्यान भी उनके लिए समान रूप से संग्राह्य हैं। व्यापक भारतीयता के ही वे उपासक और भक्त हैं। कहीं भी विदेशीपन की झलक उनकी रचनाओं में नहीं मिलती।

सोहनलाल जी की तीसरी विशेषता है वीरपूजा की उनकी प्रवृत्ति। वीरता से यहाँ मेरा तात्पर्य शारीरिक बल से नहीं है, बल्कि चरित्र की सर्वतोमुखी महत्ता से है। महत् चरित्र के उपासक होने के कारण आशा की जाती है कि सोहनलाल जी भविष्य में किसी बृहत्तर आख्यान या महाकाव्य की भी रचना करेंगे।

यों तो साहित्यशास्त्र की शाब्दिक व्याख्या के अनुसार 'कुणाल' भी महाकाव्य कहा जा सकता है, पर वास्तव में वह एक खंडकाव्य है। उसमें कुणाल

के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली एक ही घटना मुख्य रूप से चित्रित है, वह है सौतेली मा की आसक्ति पर कुणाल की प्रतिक्रिया। इस एक घटना के सूत्र में सारा काव्य सँजोया हुआ है। देश, काल और चरित्र का इतना विस्तार इसमें नहीं है कि इसे हम महाकाव्य कह सकें। किन्तु खंडकाव्य की दृष्टि से यह एक सफल रचना है।

काव्य के आरम्भ में पाटलिपुत्र का वर्णन है, जो कुणाल और उसके पूर्वपुरुषों की राजधानी थी। नगर की श्रीसमृद्धि का वर्णन करने में कवि ने प्राचीन इतिहास की सहायता ली है और ऐतिहासिक वातावरण का ध्यान रक्खा है। नगर का यह वर्णन काव्य के लिए पृष्ठभूमि का काम देता है और साथ ही आगे आनेवाली करुण घटनाओं की तीव्रता बढ़ाने में सहायक होता है, नायक 'कुणाल' के त्याग के महत्त्व को बढ़ा देता है।

दूसरे सर्ग में कुणाल के बाल्य और तरुण जीवन की झाँकी है। इसके लिए एक अलग सर्ग रखने का प्रयोजन भी यही है कि वह कुणाल की आगामी विपत्तियों को, वैषम्य-द्वारा, तीव्रतर बना दे, और करुण रस के परिपाक में सहायक हो। तीसरे सर्ग में कुणाल के पिता विख्यात सम्राट् अशोक के चित्रण-द्वारा भी राजधानी में घटित होनेवाली आगामी घटना की आश्चर्यमयता बढ़ाने का ही लक्ष्य सिद्ध होता है।

यहाँ यह प्रश्न अवश्य उठता है कि काव्य के प्रथम तीन सर्ग केवल भूमिका में लगा देना और कार्य (action) का आरम्भ न करना कहाँ तक उचित है? कार्य का आरम्भ चतुर्थ सर्ग में होता है जब अशोकपत्नी तिष्य-रक्षिता सपत्नी-पुत्र कुणाल से प्रेम का प्रस्ताव करती है। शंका होती है कि इसके पूर्व के परिच्छेद और उनका संपूर्ण समारंभ, इस खंडकाव्य के कथानक को देखते हुए, कहाँ तक खप सकते हैं?

इनकी सार्थकता के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ कहा गया उससे यदि पूरा समाधान नहीं होता, तो हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि प्रबन्ध-काव्य में, और विशेषतः ऐतिहासिक प्रबन्धों में, तत्कालीन वातावरण का चित्रण और नायक की जीवनी का उल्लेख भी अपना अलग महत्त्व रखते हैं, जो काव्य के मुख्य कार्यव्यापार से संबद्ध न होते हुए भी निरे निरर्थक नहीं हो जाते। अलंकरण में उनका उपयोग हो जाता है।

पाँचवें सर्ग में प्रेमप्रस्ताव अस्वीकार होने पर तिष्यरक्षिता का अनुताप और छठे में उसका प्रतिशोध दिखाया गया है। ये दोनों सर्ग मनोवैज्ञानिक हैं, इनमें कार्यव्यापार सतह पर न रहकर तलस्थ और मनोमय हो जाता है।

सातवें सर्ग में वह पुनः उभरता है, और यहाँ तिष्यरक्षिता की कठोर आज्ञा लेकर राजचर कुणाल के नगर पहुँचता है। कुणाल प्रसन्नतापूर्वक अपनी आँखें निकलवा डालते हैं, और सहर्ष निर्वासन का दंड स्वीकार करते हैं।

आठवें सर्ग में उनके प्रस्थान की कथा वर्णित है। अपनी पत्नी राजकुमारी कांचना के साथ वे प्रायः उसी प्रकार घर से निकल पड़ते हैं जिस प्रकार राम सीता के साथ निकल पड़े थे। नगरवासियों की व्याकुलता भी अयोध्यावासियों के ही समान चित्रित की गई है।

नवम सर्ग में कुणाल के वे पथगीत हैं जिन्हें गाता हुआ वह दुर्गम वनों में भटकता है। इन गीतों की भावमयता हमें 'साकेत' काव्य के नवम सर्ग की याद दिलाती है, जिसमें उर्मिला के विरहगीत संगृहीत हैं। अवश्य 'कुणाल' का नवम सर्ग 'साकेत' के नवम सर्ग से आकार में बहुत छोटा है।

दशम सर्ग में कुणाल दम्पति का वन-वन विचरण करते हुए पाटलिपुत्र के समीप पहुँचना और अपने प्राचीन विहारस्थलों की चर्चा करते हुए आगे बढ़ना दिखाया गया है। किन्तु इसी समय महाराज अशोक इन्हें राजमंदिर में बुलाते हैं, वहीं इनका गायन होता है और वहीं इन्हें अपना परिचय भी देना पड़ता है।

एकादश और द्वादश सर्गों में कथा का उपसंहार है। कुणाल का परिचय प्राप्त कर अशोक उन्हें राजसिंहासन सौंप देते हैं और स्वयं काषाय धारण कर राजधानी से निकल पड़ते हैं। यहीं यह काव्य समाप्त होता है।

कथानक के सम्बन्ध में जैसे एक प्रश्न काव्य के आरम्भ में उठा था, वैसे ही एक प्रश्न अंत में भी उठता है। वह यह कि कुणाल के निर्वासन और उनके पाटलिपुत्र लौटने के बीच का समय जो कवि के संकेत के अनुसार कितने ही वर्षों का था, अत्यन्त शीघ्र समाप्त क्यों कर दिया गया? निर्वासन की अवधि में 'पथगीत' के अतिरिक्त किसी भी घटना की योजना नहीं की गई। नवम सर्ग में वे गीत हैं और दशम में ही पुनर्मिलन। इनके बीच का कथानक इतना संक्षिप्त है कि कुणाल के निर्वासित जीवन का यथेष्ट विकास नहीं हो पाया।

कथानक की दृष्टि से भी यह बात खटक सकती है, और कुणाल के चरित्रचित्रण की दृष्टि से भी। कथानक की दृष्टि से निर्वासन ही वह केन्द्र है जिसकी ओर काव्य का समस्त घटनाचक्र प्रवहमान है; किन्तु हम इस केन्द्र पर पहुँचते ही पुनर्मिलन की ओर मुड़ने लगते हैं। इसे क्या घटनाओं की स्वाभाविक गति कह सकते हैं?

एक बात यहाँ स्मरण रखनी होगी। यदि कवि घटनाचक्र को स्वच्छंद रूप से बढ़ने देता तो खंडकाव्य न होकर 'कुणाल' महाकाव्य बन जाता। खंडकाव्य में घटनाओं को इतना विस्तार नहीं दिया जा सकता था। इसलिए रचना की सीमा का ध्यान रखते हुए कथानक पर की गई आपत्ति बहुत कुछ निर्बल हो जाती है।

सच पूछिए तो निर्वासन नहीं, आँखों का अर्पण करना ही नायक का मुख्य कार्य है। खंडकाव्य के लिए यह कार्य पर्याप्त है और निर्वासन को अनावश्यक विस्तार दिये बिना भी काम चल जाता है। यहाँ मेरी अपनी सम्मति यह अवश्य है कि आँखें अर्पण करना यदि काव्य का मुख्य कार्य है, तो, उसे वर्णन में सर्वाधिक महत्त्व मिलना चाहिए था। उसके लिए एक स्वतन्त्र सर्ग की भी योजना की जा सकती थी।

चरित्रचित्रण के सम्बन्ध में भी यही बात प्रकारान्तर से लागू होती है। कुणाल का चरित्र महाकाव्य के उपयुक्त धीरोदात्त बनाना कवि को इष्ट नहीं है। वह कुणाल के सिर इतना बड़ा बोझ नहीं लादना चाहता। वह केवल उसके मातृप्रेम-सम्बन्धी ऊँचे आदर्श को ही प्रमुख रूप से सामने रखता है। यदि वह अन्य घटनाओं के संयोग से चरित्र को बोझिल बना देता तो उक्त इष्ट की सिद्धि न होती।

निश्चय ही कुणाल की यह मातृवत्सलता उसके चरित्र की स्वतंत्र विशेषता नहीं है। उसके चरित्र की स्वतन्त्र विशेषता है उसकी चारित्रिक पवित्रता, जिसकी परीक्षा ही इस प्रसंग में हुई है। पवित्रता की रक्षा के लिए ही वह निरपराध होता हुआ भी कठोर से कठोर दण्ड सहर्ष स्वीकार करता है। इस प्रसंग में उसने राजाज्ञा के प्रति जो अनुल्लंघनीयता का भाव दिखाया है, वह भी प्रकारान्तर से उक्त चारित्रिक पवित्रता का ही अंग बन गया है। इस दृष्टि से कुणाल के चरित्र की मुख्य विशेषता उसका शम-दम-संयम ही सिद्ध होता है, और इस काव्य का आधार नैतिक ही ठहरता है, जो तत्कालीन बौद्ध प्रभावों के अनुकूल है।

इसी नैतिकता का दूसरा पक्ष रानी तिष्यरक्षिता के चरित्र में दिखाया गया है। तिष्यरक्षिता वयस्क अशोक की युवती पत्नी है। अशोक के महान् समृद्धिमय राज्य की और उसके महत्तर हृदय की अधिकारिणी है। अधिकार-मद में और विलासप्रवाह में पड़कर वह कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को भूल गई है। किन्तु जब उसका अनुचित प्रस्ताव ठुकरा दिया जाता है, तब क्षण भर को उसकी चारित्रिक चेतना जग उठती है और वह अपनी करनी पर पछताती

है; पर दूसरे ही क्षण वह रोषमग्ना होकर जो कठोर आज्ञाएँ प्रचारित करती है, वह उसकी जैसी स्थिति की राजरमणी के लिए स्वाभाविक ही है।

महत्व की दृष्टि से तीसरा चरित्र कांचना और चौथा अशोक का है। कांचना की चरित्रसृष्टि में लेखक ने उतनी तत्परता नहीं दिखाई जितनी उसने अशोक के चित्रण में दिखाई है। किन्तु काव्य के लिए कांचना अधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण है। अशोक का इस काव्य से आधिकारिक सम्बन्ध नहीं, प्रासंगिक सम्बन्ध ही है। किन्तु कांचना तो काव्य की नायिका ही है।

तिष्यरक्षिता के सौन्दर्य को अधिक प्रकर्ष देने के लिए और उसके चित्रण को अधिक प्रमुख बनाने के उद्देश्य से ही राजकुमारी कांचना का चित्रण अधिक उभार नहीं पा सका। तिष्यरक्षिता की तुलना में कांचना का चित्रण, काव्य-व्यापार को ध्यान में रखते हुए, नमित अवश्य दिखाना था। तो भी कांचना के चित्रण में कुछ प्रमुख रेखाएँ छूट गई हैं, ऐसा आभास पुस्तक पढ़ लेने पर हमारे मन में रह जाता है। जिस प्रकार कुणाल, तिष्यरक्षिता और अशोक के लिए कवि ने एक-एक सर्ग रक्खा है, उसी प्रकार कांचना को भी एक अलग सर्ग मिल जाता तो चित्रण-समन्वय की दृष्टि से अधिक अच्छा होता।

अशोक इस काव्य में स्वतन्त्र चरित्र के रूप में नहीं आये हैं। उनसे काव्य के कार्यव्यापार का कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। इसलिए अशोक के चित्रण को हम आलंकारिक ही मान सकते हैं। वातावरण का निर्माण उससे होता है। इससे अधिक उसकी उपयोगिता नहीं दिखाई देती।

इनके अतिरिक्त और कोई उल्लेखनीय चरित्र इस काव्य में नहीं आया है।

अब इसके देश-काल के सम्बन्ध में भी विचार कर लें। हम कह चुके हैं कि इसका कथानक इतिहास पर आधारित है। दूसरे शब्दों में इसका देश-काल प्राचीन है। सम्राट् अशोक के समय के पाटलिपुत्र के वर्णन से यह काव्य आरंभ हुआ है। तत्कालीन श्रीसमृद्धि का अच्छा परिचय इस वर्णन से मिल जाता है। उस समय की मुख्य-मुख्य विशेषताएँ भी प्रकाश में आ जाती हैं।

काव्य का कथानक राजपरिवार के व्यक्तियों का कथानक है। इसलिए स्वभावतः राजपुरुषों के जीवन का ऐश्वर्यमय वातावरण दिखाना कवि को इष्ट था। किन्तु वातावरण के रूप में ऐश्वर्य का प्रदर्शन करते हुए भी अशोक और कुणाल के चरित्रों के आदर्शवादी और मानवीय पक्षों को ही उसने अधिकतर अङ्कित किया है। यहाँ तक कि बालक कुणाल को राजकीय वैभव की चिन्ता न कर—

वह धूल भरा नटखट आया
मुँह में मिट्टी उँगली गीली
यह कौन वेश वह धर लाया।

जैसे सामान्य रूप में दिखाया गया है और—

देखता ललक कर दूध-दही,
जो टँगी सिकहरे ऊपर ही।

दूध-दही के लिए ललकता हुआ भी प्रदर्शित किया गया है। यह ललकना तो अच्छा लगता है पर 'सिकहरे' के लिए कोई अधिक उपयुक्त शब्द अपेक्षित था।

केवल एक ही स्थान पर वर्णन में काल का क्रमभंग दीखता है—

कहता 'मा देको मैं छलपल,
घोले पर दिल्ली ओ आया।'

कुणाल के समय में 'दिल्ली' नगरी तो संभवतः थी पर उसका यह नाम न था।

देश-काल का इतना ही उल्लेख बस होगा। अब प्रश्न यह है कि इस काव्य का उद्देश्य या साध्य क्या है, और उस साध्य का हमारे वर्त्तमान जीवन से कुछ सम्बन्ध है या नहीं। 'कुणाल' काव्य का मुख्य साध्य तो कुणाल का चरित्र प्रस्तुत करना और उसकी सहायता से तत्कालीन सामाजिक जागृति का परिचय देना है। इसका दूसरा साध्य, जो पहले का ही आनुषंगिक है, उस समय के जीवन का यथार्थ चित्र उपस्थित करना है। तीसरा और गौण आशय इतिहासप्रसिद्ध राज-परिवार से सम्बन्ध रखनेवाले मार्मिक कथानक और घटनाचक्र का वर्णन करना है।

इन साध्यों की हमारे आज के जीवन में क्या उपयोगिता है? इस प्रश्न के उत्तर में एकमत हो सकना सम्भव नहीं है। नीति और आचार के बाह्य पक्षों का आग्रह न करते हुए भी केवल काव्य की दृष्टि से इतना कहा जा सकता है कि कुणाल के चरित्र में असाधारण दृढ़ता और सहन-शक्ति चित्रित की गई है। इसका काव्यगत ही नहीं, सामयिक जीवन में भी सार्वजनीन मूल्य है। तत्कालीन जीवन के यथातथ्य चित्रण में कवि का आशय अपने प्राचीन कृतित्व की ओर ध्यान आकृष्ट कर राष्ट्रीयता की भावना भरना है। हमें शिकायत इतनी ही है कि इस काल के चित्रण में कवि और अधिक यथार्थता और विवरण में क्यों नहीं गया? तीसरा साध्य, रमणीक कथानक

का निर्माण भी मानव जीवन की स्थिर कलात्मक आकांक्षा की ही पूर्ति करता है।

इस सम्बन्ध में शंकाएँ हो सकती हैं कि भूतकाल में कवि का विचरण करना वर्तमान जीवन से पलायन-मात्र है, और राजपरिवार के विविध प्रसंगों का आलेख पुरानी सामंतकालीन रुचि और संस्कारों का परिचायक है। किन्तु कवि के काव्यप्रवाह को ध्यान में रखते हुए उसकी वास्तविक प्रवृत्तियों का आकलन करने पर ये आरोप निराधार सिद्ध होते हैं। कवि का लक्ष्य विभ्रान्त होकर अतीत में विचरण करना मात्र नहीं है, वह साशय विचरण है और राजपरिवार के चित्रण में सामंतकाल का मिथ्या मोह नहीं है, उस काल के ऊँचे आदर्शों के प्रति सजग श्रद्धा का भाव है।

यदि यह कहा जाय कि उन आदर्शों का चित्रण भी आज के लिए प्रतिक्रियात्मक वस्तु है, और राजपरिवार के जीवन को आदर्श रूप में अंकित करना ही अपराध है, तो इस अपराध को कवि की ओर से स्वीकार कर लेना पड़ेगा। किन्तु तब उन अतिवादी आलोचकों से यह निवेदन करना होगा कि देश, राष्ट्र और संस्कृति का नाम लेना छोड़कर और क्रमागत भाषा तथा काव्य से विच्छिन्न होकर मूक, बर्बर और अकिंचन जीवन की उपासना वे आरंभ कर दें।

जहाँ तक सोहनलाल जी और उनकी इस रचना का सम्बन्ध है, उन्होंने प्राचीन कथानक तो ग्रहण किया ही है, अपने पूर्ववर्ती कवियों के छन्द और यत्र-तत्र उनकी अभिव्यंजना-शैली भी अपनायी है। सोहनलाल जी के सम्बन्ध में मैं कह चुका हूँ कि उनमें वीरपूजा की प्रवृत्ति प्रकृतिगत है। उनका यह गुण जहाँ एक ओर उन्हें नवीन और पुरातन महिमामय चरित्रों और आख्यानों के अनुसंधान तथा गुणगान में लगा सका, वहाँ दूसरी ओर पूर्ववर्ती काव्य का सौरभ भी उन्हें लुब्ध कर सका, और मधुकर की सी गुणग्राही रसिकता भी उनमें आ सकी। आरंभ से ही मेरी यह धारणा रही है कि सोहनलाल जी नवीन प्रवर्तन की अपेक्षा नवीन परिष्कृति और नव्यसज्जा के कवि हैं। किन्तु इस कारण मेरे मन में उनके काव्य के प्रति लघुता की धारणा कभी नहीं रही। मेरा सदैव यह विश्वास रहा है कि हिन्दी को नवीन प्रवर्तकों की जितनी आवश्यकता है, उससे कम आवश्यकता भाषा और साहित्य को प्रौढ़ता प्रदान करनेवाले कवि-हृदय रसज्ञों की नहीं है। सोहनलाल जी को मैं प्रचुर मौलिकतासम्पन्न ऐसा ही कविहृदय रसज्ञ मानता आया हूँ, और उनके 'कुणाल' काव्य को पढ़ लेने के पश्चात् मेरी यह धारणा और भी दृढ़

हो गई है कि राष्ट्रीयता का अनन्य प्रेमी यह वीरोपासक कवि हिन्दी में राष्ट्रीय महाकाव्य की कमी पूरी करने के लिए ही सौभाग्यवश हमारे साहित्य में आया है।

जहाँ तक प्रस्तुत पुस्तक का सम्बन्ध है, कवि ने वर्णनात्मक प्रसंगों की अपेक्षा भावगीतों में अधिक सफलता पाई है। नवम सर्ग के पथ-गीतों का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। द्वितीय, तृतीय और अष्टम सर्ग में भी कुछ गीत हैं। काव्य के उत्कृष्ट स्थलों में इनकी भी गणना की जायगी। रूप-चित्रण में भी कवि को यथेष्ट सफलता मिली है। तिष्यरक्षिता और कुणाल का तारुण्य अंकित करते हुए सुन्दर उपमाओं का संग्रह किया गया है। अशोक के ऐश्वर्य का भी अच्छा वर्णन है—

सुख श्री सम्पति के कमल कुंज,
खिल उठे रत्नघन पत्रपुंज,
उल्लास - लासमय मधुप - गुंज,
था कहीं न पीड़ा का विलाप।

× × ×

था वामपार्श्व में खड्ग नग्न,
ज्यों राज्यश्री हो मौर्यमग्न,
पदतल लुंठित हो भक्तिलग्न,
अकलंकित उज्ज्वल तीक्ष्णधार।

मानसिक स्थितियों के चित्रण में भी कवि की निपुणता उल्लेखनीय है। तिष्यरक्षिता के चरित्र में मानसिक संघर्ष और मनोगतियों का अच्छा निरूपण हुआ है। तरुणी, राजमहिषी और व्यभिचारिणी का संयुक्त स्वरूप अंकित करने में स्वभावतः कठिनाई थी। किन्तु फिर भी कवि ने इस चरित्र को अच्छी रूप-रेखा दी है।

इस काव्य का मुख्य रस शान्त ही है। करुण रस की भी धारा इसमें वही है, किन्तु संपूर्ण काव्य का पर्यवसान शान्त में ही हुआ है। भारतीय आदर्शों के उपासक कवि के लिए शान्त रस की यह नियोजना स्वाभाविक ही है।

नन्ददुलारे वाजपेयी

१. पाटलिपुत्र

जगजीवन के स्वर्ण प्रहर-सा पाटलिपुत्र शांत अभिराम,
सुरसरि की चंचल लहरों में देखा करता मुख अभिराम;
नभ-चुंबी शरदभ्र-सदृश थे सप्त सौध अति रम्य खड़े,
उड़ता मौर्य-केतु था जिन पर ध्वज निशान उत्तुङ्ग बड़े।

थी प्राचीर धैर्य-सी निर्मित, बनी राज्य-श्री की प्रहरी,
पथ प्रशस्त, शत सिंहद्वार थे, उठती वैभव की लहरी।
पाटलिपुत्र पढ़ रहा था अपने जीवन के कंचन-पृष्ठ,
चिर महिमा गरिमा की घड़ियाँ आज और भी उभरीं स्पष्ट।

सोच रहा था वह मन ही मन अपना पुरावृत्त-इतिहास,
कैसे शिशु से तरुण हो उठा, यौवन का आ गया विकास।
पूर्णकाम, संपूर्ण मनोरथ, दूर सदा रहता था शोक।
इस समृद्धि को उत्कंठा से देखा करता था सुरलोक।

सच पूछो तो, मिला आज ही पृथ्वी को पावन आलोक,
वह अशोक बन गई स्वयं ही, पाकर पृथ्वीपाल अशोक।
एक ओर गंगा चाँदी से भरती थी गृह का कोना;
सोन नदी दूसरी ओर थी, नित्य बहा लाती सोना।

भव्य भवन में शिल्पकला के खिले हुए थे अभिनव पद्म;
तूली की रेखाओं से ये कलानिकेतन - से थे सद्म।
सघन सफल नव वृक्षावलियाँ पथ पर करती थीं छाया;
बहती रहती सुरभि माधवी, खिलती मधुऋतु-सी काया।

वापी, कूप, तड़ाग, सरोवर वसुधातल से ले मधु-स्रोत,
जीवन सजल बनाते रहते, बहता सुख से जीवन-पोत।
जो भी आते मौर्य-नगर में, देख सुसंस्कृति का संसार,
पढ़ते-से प्रशस्ति जनपद की, जाते ले विस्मय उपहार।

मुक्तद्वार रहते थे गृह-गृह, नहीं अर्गला का था कार्य,
पथ पर गिरे रत्न - कंकण को पथ पर पा जाते थे आर्य।
राजनीति से विज्ञ लोक था; सुलझा जटिल ग्रंथियाँ गूढ़,
'पौरसभा' नित योग - क्षेम को वहन किया करती आरूढ़;

तक्षशिला औ' सारनाथ की गंगा - यमुना का संगम
पावन पाटलिपुत्र बना था, खुले ज्ञान के थे सब क्रम।
अंतःपुर में हास-विलासों की उठती थी मदिर हिलोर;
थीं रानियाँ अनेक पद्मिनी-सी उकसातीं हृदय-मरोर।

देता था सौंदर्य स्नेह से यौवन को मद का प्याला;
ऊषा-संध्या बैठी रहतीं, खोल प्रकृति की मधुशाला।
नूपुर की रुनझुन-रुनझुन में घुल जाती उर की झनकार;
अग - तरंगों में तिरते थे नयनों के जलजात अपार।

हेमकुंभ की मधुधारा से करके विकल कामना शांत,
कामिनियाँ कटाक्ष से भरतीं नवविलास की तृष्णा कांत।
चंपक-सी, बेला - गुलाब - सी, कलित केतकी-सी बनठन,
अलिकुल को आमंत्रण देतीं किसी कुंज में संगोपन।

कलित कपोलों पर प्रतिबिंबित था यौवन का मद अभिराम;
मँडराते अलिकुल चंचल हो तरल कामना से उद्दाम।
सघन कुंज के अलस मलय में कहीं दूर बैठे एकांत,
रूपसियाँ आमंत्रित करतीं किसी रसिक को कर उद्भ्रांत।

लोल लताओं के झुरमुट में, चलता फिर गुपचुप संलाप;
आत्म-प्रलय कर निभृत निलय में खिल उठता बनकर सुरचाप।
रणप्रांगण में उधर वीरदल लेकर के विक्रम - गांडीव
लक्ष्य भेदते एक ध्यान हो, स्वयं लक्ष्यमय हो उद्ग्रीव।

अंगों की अँगड़ाई लेते लौह-कवच हो जाते चूर्ण;
वक्षःस्थल विस्तृत विशाल थे रक्त-वीर्य से बलमय पूर्ण।
भुजदंडों के बल अखंड पर मत्त मतंग, प्रणत पदमूल,
वंदन अभिनंदन करते थे अर्पित कर मद मुक्ता-फूल।

शस्त्रों के घन गुरु निनाद से बधिर बनाती नभ के कान,
अक्षौहिणी खड़ी रहती थी करने को रण में प्रस्थान।
गजसेना, रथसेना, पदचर, लिये मौर्य-गौरव का केतु
प्रस्तुत-से रहते, पलभर में रण-सागर का बनने सेतु।

होती ही रहती क्षण-क्षण में शस्त्रों की भीषण झनकार;
नभमंडल में फूटा करते बाणों के उल्का-अंगार!
अगणित मुखरित चपल राष्ट्र- कुल को कर पद-आनत पल में,
था द्विगुणित उत्साह झलकता विजयकांत सैनिक-दल में।

तक्षशिला, औ' सारनाथ से आकर परिव्राजक, आचार्य,
संघ-समाजों में रखते थे गूढ़ समस्या, प्रश्न विचार्य,
अर्थ-शास्त्र, साहित्य, नीति की जटिल ग्रंथियों के उलझाव,
सुलझाते थे विज्ञ, ज्ञानगुरु, फैलाते आनन्द - प्रभाव।

दैहिक - दैविक - भौतिक तापों का होता रहता परिशोध;
ज्ञान, कर्म, वैराग्य, भक्ति से होता रहता आत्मप्रबोध।
यज्ञ - यजन हो, वैदिक जीवन, या कि अहिंसा ही है सत्य!
होती थी विवेचना निशिदिन, परम तत्त्व खिलता था नित्य!

विविध संप्रदायों के मत पर होता संयत वाद-विवाद;
स्वयं मगधपति संयोजक बन, वितरण करते तत्त्व-प्रसाद।
शस्त्रों का था हुआ विर्सजन, न्याय दया को कर आधार,
भू पर नहीं, किन्तु मन में भी, बढ़ने लगा राज्यविस्तार।

देवमन्दिरों में सन्ध्या में होता पूजन का संभार।
लिये स्वर्ण - आरती भक्त जन करते शंखध्वनि झनकार।
चन्दन, अक्षत, पुष्प, धूप औ' माणिक मणियों के संघात
इष्टदेव पदतल अर्पित कर, पाते परम शान्ति अवदात!

केसर कस्तूरी पराग का ले सुगन्धमय कंचनथाल,
पुरवासी जाते पूजन को, होता वह मङ्गलमय काल।
बालक, वृद्ध, सभी नर-नारी पुष्पांजलि धरकर पदमूल,
बन जाते अद्वैत ध्यान में, जाते द्वैत विश्व को भूल।

कहीं जैन-मन्दिर में होता स्वस्ति-स्तवन अनेक प्रकार;
कहीं बौद्धमठ में प्रवचन से होता आत्म-शान्ति-विस्तार।
वैदिक, बौद्ध, जैन, आलोपिक, ब्राह्मण, श्रमण, सभी अविकल
थे स्वधर्म में निरत कर्ममय, थी अबाध साधना सकल!

सामगान से बौद्धवचन तक जितना बजा आत्मसंगीत,
सबकी श्रुतियाँ, मोड़, मूर्च्छना झंकृत करतीं प्राण पुनीत।
इन्द्रलोक की मणियाँ लेकर, सुरपुर का लेकर सौंदर्य
आपण-श्री थी सजी राजकन्या- सी, बनी सजग आश्चर्य!

थे सोलह श्रृङ्गार मनोहर अंग-भंगिमा में तरलित;
गन्ध-मुग्ध दृग-अंध पथिकजन करते क्रय-विक्रय पुलकित।
काश्मीर, सिंहल, विदर्भ, केरल, कलिंग ला मुक्ताहार,
तोल तुला में, हृदय उल्लसित, ले जाते कंचन का भार।

काशी पुंड्र, मत्स्य थे लाते दुग्ध-स्निग्ध अति मृदुल दुकूल,
श्रम का पा सममूल्य, योग्य धन, करते सुखयात्रा भवकूल।
सप्तसिंधु के महापोत थे लाते अगणित निधि-भंडार;
पाटलिपुत्र उन्हें क्रय करता, देता सुख-सुविधा विस्तार।

था अनुपम सौंदर्य, किन्तु करता विवेक सब पर संयम,
रहे समन्वय सब भोगों का, ऐसा था विधान—उपक्रम।
जग-जीवन के संचालन का केन्द्र बना था मौर्यनगर,
जिसके पावन सरस स्पर्श से खिला विश्व—शतदल सुंदर!

२. कुणाल

विंदुसार के परम पुण्य से उपजा श्यामल विटप अशोक;
स्निग्ध-सघन पल्लव के नीचे छाया चिर - शीतल आलोक।
अगणित सजल सफल शाखायें फैलीं शोभन—सुखद—रसाल,
भरतखंड को आच्छादित कर सुख-समृद्धि देतीं तत्काल।

गाने लगे विहंग मुदित हो गुण - गौरव का काव्य - कलाप,
जो आया तरु-तले, उसी का मिटा दीर्घ दारुण संताप।
अरुण उषा की लाली में घुल-मिलकर, पीकर पीत पराग,
इस तरुवर में हुआ प्रस्फुटित एक नवलदल, अरुणिम राग।

विहगावलियों ने अंबर में गाया उस दिन मंगलगान,
पुण्य पर्व देने आया था, जग को योग-क्षेम-कल्याण।
मगधराज की वसुंधरा में उस दिन, बन अन्त:सलिला,
बही स्नेह की अमृत-धारा, प्रकटित विधि की दिव्य कला।

उस दिन लिये बधावा आई गृह-गृह दिन में दीवाली,
मंगलघट, तोरण, वंदन थे, समारोह वैभवशाली!
पुण्यदान रंकों ने पाये, मुक्त हुए कारा के द्वार;
बन्दी हुए विमुक्त, बना था उसदिन मंगलमय संसार।

मंगल-वाद्य बजे थे, उस दिन क्षण-क्षण में आनंद भरा;
चन्द्रगुप्त का तेज अंश था बाल-इंदु बनकर उतरा।
साम-गान की उठी सोमरस- वर्षी वैदिक कंठ हिलोर,
ऋत्विक् की मांगलिक ऋचाओं ने दी दशों दिशायें बोर!

पुरोहितों ने देख रूप-गुण, स्निग्ध तंतुमय मृदुल मृणाल,
आत्मविभोर हर्ष में उस दिन, नामकरण था किया 'कुणाल'।
कुछ दिन बीते यजन-हवन में, करते कुशल मंगलाचार;
आया दिवस, देखने शिशु-शशि, उमड़ा जन-जलनिधि का ज्वार।

कुछ दिन रह करके अनाम ही, कुछ दिन ही में पाकर नाम,
खिलने लगा नवल किसलय यह बिखराता रस-रूप प्रकाम।
कंचन का ले रंग, और सरसिज की लेकर कोमलता,
विधि ने निर्मित की अभिनव यह स्वर्णिम - शोभा कल्पलता।

वाणी ने दे करके वीणा किया स्निग्ध स्वर का संचार;
जग-जननी ने उठा गोद में किया वत्स का चुंबन, प्यार।
लगे बीतने दिवस, पक्ष, वैसे ही शशि-शिशु-सा अभिराम,
कलित कुणाल, लगा मुसकाने, रोने 'माँ' 'माँ' कह अविराम।

सुनी जिस घड़ी अपने ही आत्मा की आकुल मधुर पुकार,
रमणी जननी बनी, धन्य, हो गई स्वयं पर ही बलिहार!
उठा लिया उत्सुक-उन्मुख हो अपने रक्तविन्दु का पिण्ड,
माया से मिलने आया हो, जैसे हो साकार अखंड!

कोमल-कलित-ललित कपोल का जिस दिन किया सरस चुंबन,
भूल गई अपना समस्त दुख, प्रसवकाल का उत्पीड़न !
स्नेह-स्रवित हो उठा अमृतपय, बना आर्द्र उर औ' अंचल;
मिला अमल आनंद, तिरोहित हुए सकल कल्मष कज्जल !

जब अशोक ने लिया अंक में वह नीरव कुड्मल निस्पंद,
भूल गये साम्राज्य-सौख्य सब, मिला अमल चेतन आनंद।
पाटलिपुत्र परम प्रसन्न पा करके नये खिलौने को,
स्वप्न-सुमन से लगा सजाने अपने हृदय-बिछौने को।

प्रात प्रभाती, निशि में लोरी, मुखरित होता था संगीत;
आँगन में अनेक भावों की लहरें उठतीं सरस पुनीत—

गीत

(१)

आँगन में बाल खिलौना था,—
आकुल हिरणी-सी माँ तकती, कब, किधर चला मृगछौना था।

चंचल थे बड़े-बड़े लोचन,
सुख बाँट रहे थे दुखमोचन
हेरता जिधर, नव आकर्षण का बिछता स्वप्न-बिछौना था।

जब कहता –माँ माँ, या मम मम,
मधुमेघ बरस पढ़ते रिमझिम;
लग जाय न दृष्टि किसी की, सिर पर अंकित श्याम डिठौना था।

देखता ललककर दूध-दही,
जो टँगा सिकहरे ऊपर ही,
पाता कैसे मिश्री—शशि-सी, वह अभी बहुत ही बौना था।

(२)

वह धूल-भरा नटखट आया,
मुँह में मिट्टी, उँगली गीली, यह कौन वेश वह धर लाया।

कुंचित अलकों में धूलि भरी,
मिट्टी से क्या शोभा निखरी,
क्या शिशु-शङ्कर धर भस्म अंग, जननी का मन हरने धाया?

घोड़ा था एक, बना लकुटी,
धोती जाती थी बीच छुटी;
कहता, "माँ देको मैं छलपल घोले पल दिल्ली ओ आया"।

माता हो जाती मुग्ध खड़ी,
सुख-बूँदें ढरतीं बड़ी-बड़ी;
यह जानेगा आनंद वही जिसने जननी का पद पाया।

3. तारुण्य

आज शिशु से हो गया है तरुण-अरुण कुणाल,
तर्क-सी अलकें लहरतीं, दीप्त उन्नत भाल;
निखर-सा है उठा सुंदर देह में तारुण्य,
इन्द्रधनु की छवि चुराकर खेलता आरुण्य।

अधर पल्लव में थिरकती ज्योत्स्ना मुसकान,
नयन ने सीखा सहज ही घेरना मन प्राण।
आज अंगों में चढ़ा कमनीयता का रंग,
कनक चंपक मुरझते-से देख छवि का ढंग।

काकली में आज अविकल खिल उठे मृदु बोल,
मेघमन्द्र गिरा बनी, देती सुरस रस घोल।
विश्व के सौन्दर्य औ' माधुर्य का सब सार
केन्द्रगत-सा हो गया जैसे यहीं साभार।

देखता जिस ओर, पड़ती मन्त्रमोहन दृष्टि;
मुग्ध मन बरबस निरखना चाहता वह सृष्टि।
पारदर्शी-से, मुकुर-से, थे मनोरम अंग,
झलकता अंतः बहिः जिनमें अलौकिक रंग।

थी भ्रुकुटि की भंगिमा कुछ बनी धनुषाकार;
छू रहा था छोर श्रुति के नयन का विस्तार।
बोलते जिससे कभी, तो ढाल देते प्राण,
आत्मविस्मृति का उसे मिलता मधुर वरदान।

बाहु थे आजानु विस्तृत, ज्यों महान विचार;
विशद वक्षःस्थल वहन करता भुवन का भार।
शील औ' सौन्दर्य अनुपम शक्ति के उपमान,
आर्यश्रेष्ठ कुणाल थे, ज्यों शुभ भविष्य महान।

स्कंध पर था लहर लेता उत्तरीय अमोल;
श्रुतिपुटों में कनक-कुंडल रहे रह-रह डोल;
नग्न तन भी वे दिखाते अतुल शोभागार;
प्रकृत शोभा को कहीं क्या पा सका श्रृंगार?

कनक में उठती मनोरम हो विमुग्ध सुगंध,
नयन को वाणी मिली हो, हो प्रणय अनुबंध;
युवा हो औ' अमरता भी दे रही हो संग,
रूप भी हो, हृदय भी हो, भर रहा उत्संग।

वे सकल कविकल्पना के थे नवल उपमान;
विधि बना था धन्य कर उनका सफल निर्माण।
था न यह सौंदर्य— अंगों की मनोहर कांति,
प्राण दृग से झाँककर थे दे रहे सुख-शांति।

था सभी शोभन-मनोरम, किन्तु लोचन पद्म—
थे बड़े ही हृदय-स्पर्शी, स्वर्ग सुख के सद्म।
देखकर ये कमललोचन हो गये मृग मुग्ध;
पास आकर पान करते दृष्टि का मधु - दुग्ध !

विश्व के सब रूप-रस को तूलिका पर खींच,
किये विधि ने नयन निर्मित ज्यों भुवन के बीच।
मोल ले लेते पलक में ये चपल उद्दाम,
मन बिका बरबस वहीं पर घूमता वसुयाम,

शस्त्र - शास्त्रों में बने वे शीघ्र ही निष्णात;
पिता का था पुत्र में बहता रुधिर अवदात।
यह अशोक महान का ही दूसरा था रूप;
रूप-प्रेमी ने लिया था आज जन्म अनूप।

एक से दो हो गया, करता ऽभिलाषा पूर्ति;
धर्म की सद्भावना की थी यही मधु मूर्ति।
मगध मानस में गयीं खिल कमलकुल की आँख,
विरुद गाते सूत - बंदी, लगे देने साख !

हर्ष उत्सव के लगाकर पंख समय - विहंग
लगा उड़ने, चूमता मंजुल मगध के शृंग;
बज रही थी हृदय में मधु वितरती-सी बीन;
आत्मविस्मृति में सभी थे सुखी, संज्ञाहीन !

४. अशोक

खुलता नीला आवरण एक, हटते निशिदिन के स्तर अनेक,
है पुण्यपर्व करताऽभिषेक, सुरभित अतीत के अंचल में।
मधुऋतु का था पावन प्रभात, किरणों का मादक अरुण गात,
बहती थी शीतल मंद वात, शुभ दिन के प्रथम प्रहरपल में।

माणिक - मरकतमय सिंहासन, था स्वणछत्र ऊपर शोभन,
चारण करते थे उच्चारण, गर्वित कलिंग के विजय-गीत।
सामंत, सभासद, मंत्रीगण, हर्षित थे तन, पुलकित थे मन,
जन-जन में अभिनव आकर्षण, उत्सव होते नित नव-पुनीत।

उन्नत ललाट, लोचन विशाल, आजान बाहु, भ्रू बनी व्याल,
विस्तृत उर पर माधवी-माल उड़ती उन्नत हो उत्तरीय।
मस्तक पर अक्षत शुचि चंदन, भुजदंडों पर मरकत कंकण,
कटितट पर पीतांबर शोभन, मणि-मुकुट शीश पर वंदनीय!

केंचुल-सा शुभ्र-स्वच्छ अंचल, मलयज करता जिसको चंचल,
पार्श्वों में लहर-लहर प्रतिपल, करता सुषमा की दिव्य सृष्टि।
ज्यों क्षीरसिंधु ही धर शरीर, शोभित सिंहासन में गँभीर,
उठ रही उर्मियाँ हों अधीर, बरसाती अमृतभरी वृष्टि।

सुरभित अलकें उड़ स्कंधों पर, भुजमूलों के प्रतिबंधों पर,
लिखतीं नीलम के नीलाक्षर, पीतांबर पट के कोनों में।
श्रुतिपुट में हीरक के कुंडल, गतिमय होकर प्रतिपल चंचल,
लगते नक्षत्रों से उज्ज्वल कोमल कानों के दोनों में।

रण-रक्त-सिंधु में, भर उमंग, प्रक्षालन कर आपाद अंग,
जयश्री का पाकर और रंग, लज्जित करता अरिदल अपार,
था वामपार्श्व में खड्ग नग्न, ज्यों राज्यश्री हो मौर्य मग्न,
पदतल लुंठित हो भक्तिलग्न, अकलंकित उज्ज्वल तीक्ष्ण धार !

था मौर्यवंश सौभाग्य-सूर्य, चूडांत चमकता ज्यों विदूर्य,
बजता दिशि-दिशि में विजय-तूर्य, पाकर अशोक का बल प्रताप।
सुख - श्री - संपति के कमलकुंज, खिल उठे रत्नधन पत्रपुंज,
उल्लास-लासमय मधुप-गुंज, था कहीं न पीड़ा का विलाप।

प्रतिहारी लेकर हेमथाल, नवचंदन, अक्षत, पुष्पमाल,
अभिनंदन में हो विनतभाल, थी खड़ी शिला-सी मूर्त्तिमान,
केसर कस्तूरी की सुगंध करती थी प्रतिपल नयन अंध,
था धूप-दीप का यों प्रबंध, उड़ते सौरभ के अभ्रयान।

पथ पर विकीर्ण थे कहीं फूल, घर्षण से फट जाते दुकूल,
खुल जाते सुग्रथित केशमूल, उठती जन-सागर की तरंग।
शंख-ध्वनि थी, था शृंगीरव, घर्घरिका वंशी का वैभव,
नूपुर मृदंग की गति संभव भरती प्राणों में नव उमंग।

केयूर कहीं पर, रत्नहार, संभ्रम-से होकर छिन्नतार,
पदतल आते थे निराधार, दर्शकगण थे आनंद-मग्न।
अंगों से च्युत हो अंगराग, औरों के लगता बन सु-राग,
पदतल बिछता था बन पराग, आई थी सुख की पुण्यलग्न।

थे चँवर डुलाते वंदीजन, मलयज था बाँट रहा चन्दन,
सौरभ ले आया था नंदन, वैदिक गाते थे सामगान !
उठता था सुरभित यज्ञधूम, मंगलमय दिशि-दिशि घूम-घूम,
लेता था आँखें-पलक चूम, पावन था उत्सव का विधान।

थे सजे कलश से सिंहद्वार, ध्वज, तोरण, वंदन द्वार-द्वार,
मंगल-घट, घृत-दीपक अपार, दीपावलि दिन में बनी मुग्ध।
जयकुंजर, मद से रक्त-लाल, संध्या-सी लहरों में मराल,
थे कहीं नृत्य करते रसाल, हो जाते थे लोचन विमुग्ध।

मल्लों के कहीं जमे दंगल, सागर-सा प्लावित दर्शक - दल,
वह जयी हुआ जिसके भुजबल, उसकी जय उसका तुमुल घोष।
था कहीं रसिक-कुल का संकुल, नव गणिकाओं का स्वर व्याकुल,
हर्षध्वनि, करतलध्वनि आकुल, भरते थे मन के रिक्त कोष।

अक्षर-मात्रा-च्युत विंदुमती, गूढ़ार्थ-पदक, गुरु-कूट - पदी,
अभिनव प्रहेलिका अर्थवती, थी होती कहीं काव्यचर्चा।
गुणमंडित पंडित आखंडल, शास्त्रार्थ निरत गुणगणिमंडल,
विद्या विनोद, था हर्ष तरल, होती रहती थी देवार्चा।

शोभित अशोक सिंहासन में, करके कलिंग जय जीवन में,
गंभीर जलधि-से थे मन में, चलती नवसुख की नई बात।
क्या हो प्रसंग, क्या राग-रंग ? उत्सवविधान का कौन ढंग ?
किस अनुरंजन के सजें अंग ? जिससे फूटे नवमधु प्रभात ?

निर्णीत हुआ हो नाटक नव, जिसमें कुणाल का हो वैभव,
अभिनेता सभी राज्य-संभव, सम्पूर्ण बने तब महोत्साह।
शत-शत विधान, शत-शत वितान, निर्णीत हुआ, हो नृत्यगान,
उमड़े जिससे नवरस महान, ऐसा हो सुख का मधु प्रवाह !

निर्माण हुआ शुभ नाट्यमंच, जिसमें न कहीं त्रुटि रही रंच,
रच गया इसे ज्यों आ विरंच, माणिक-मरकत से कान्तिमान।
ज्यों-ज्यों रजनी होती गँभीर, त्यों-त्यों जनकुल की महाभीर,
आकर टकराती मंचतीर, अभिनेता थे अति रूपवान।

जन-संकुल, आकुल नाट्यभवन, जन-संकुल गृह के वातायन,
बैठा रनिवास वहाँ शोभन, सुषमा बनती क्षण-क्षण नवीन।
सामंत, सभासद, महामात्य, सेनाधिप, योधा, भट उदात्त,
वैदिक, औलापिक, धर्म-आप्त, संभ्रांत यथापद सुखासीन !

गूँजी शंखध्वनि कर निनाद, सूचना बनी, हरती प्रमाद,
दृश्योद्घाटन का था प्रसाद, हो गये लक्ष दृग दृश्यलीन।
चित्रित से हो, हो एक ध्यान, विस्मृति-विमुग्ध जनकुल महान,
ऐसा प्रसंग का था विधान, चैतन्य बना सबका नवीन।

कुसुमायुध बन आया कुणाल, कर लिये पुष्पधन्वा विशाल,
शिव के त्रिनेत्र हो रहे लाल, अगजग था बना काम-व्याकुल।
पीछे रति ले मादक माया, फैलाती थी स्वप्निल छाया,
ले करके कनकमयी काया, करती थी जल-थल को आकुल !

था कभी नयन में तरल नीर, था कभी उच्छ्वसित उर अधीर,
थी कभी मूर्च्छना, मौन पीर, यों था रस का अभिनव प्रकर्ष।
थे कभी स्फुरित-से अंग-अंग, थी कभी हृदय में नव उमंग,
थी कभी रोमहर्षण तरंग, था द्वन्द्वों का संघर्ष-घर्ष !

वातायन औ' सुंदर गवाक्ष, थे देख रहे मादक कटाक्ष,
हो रहे राग-रंजित युगाक्ष, थे विकल किसी के बने प्राण।
हो गये रूप पर नयन लुब्ध, उत्कंठा से उर-सिंधु क्षुब्ध,
उत्सुकता से यौवन विक्षुब्ध, था पड़ा लक्ष्य पर काम-बाण !

यों जमा रूप - रस का सु-राग, छा गया दृगों में मद पराग,
हो गया किसी को चक्षुराग इस अभिनय ही की क्रीड़ा में।
आनंद कहाँ उत्सव महान ? कैसा परिवर्तन, क्या विधान ?
सुख बना सभी था दुख महान मानस की नीरव पीड़ा में।

रनिवास उठा, आगया सद्म, था खिला रात्रि का किन्तु पद्म,
किसने आकर यह किया छद्म ? था मथित आज मानस गँभीर।
पूछती सहेली सखी विकल, क्यों प्राणोद्वेलित हैं चंचल ?
सम्राज्ञी के दृग में था जल, उत्तर था—"सिर में उठी पीर !"

प्रतिहारी ले सुरभित चन्दन, कर्पूर नीर, मणिखचित व्यजन,
शीतोपचार कर, डुला पवन, लग गई मुक्त करने कबरी।
अब तिष्यरक्षिता बनी शांत, कुछ सजग, सचेत, गहन, प्रशांत,
लज्जारुण हो कमनीय कांत, बोली, "प्रकृतिस्थ हुई अब री !"

५. तिष्यरक्षिता

अभिनय उधर समाप्त, इधर आरम्भ और ही अभिनय,
तिष्यरक्षिता के मानस में हुआ प्रेम - अरुणोदय !
लगे कामना के पक्षीदल करने मधुमय कलरव,
लगीं वासना की कलिकायें बिखराने मधु वैभव,

सम्राज्ञी के जीवन-वन में फूटे नव-नव पल्लव,
अभिलाषा के इन्द्रधनुष थे लिये रंग-श्री अभिनव !
बाहु - लताओं में रस आया, बनी हर्ष से चंचल;
पल्लव - पाणि संपुटित खुलने लगे चाह से पागल !

मन का हंस उड़ा मानस-से चुगने मुक्ता उज्ज्वल,
उच्च नभोमण्डल में उड़कर पाने जीवन-संबल !
आँखों की नीलम घाटी में उगे नये दूर्वादल,
चारु कपोलों की सरसी में लहरें लहरीं कोमल !

यौवन के रसाल-वन में मञ्जरी रूप की मादक—
भरने लगी सुरभि तृण-तृण में विस्मृति - सुख उन्मादक।
आँखों में, प्राणों में उमड़ा, मधुर उमङ्गों का रस,
वक्षःस्थल में मिलनोत्कंठा, अंगों में मद आलस !

तिष्यरक्षिता लगी झूलने स्वप्नों के हिंदोल,
कब आयेगा मिलन - प्रात, उमड़ेगी सुख-हिल्लोल !

गीत

आज क्यों मन है बहक रहा ?
विकसा कौन पद्म मानस में, तन मन महक रहा ?

है उन्माद भरा आँखों में, नई प्रगति आई पाँखों में,
आज पपीहा-सा बन मन क्यों, पी - पी चहक रहा ?

खिली रूप की नव फुलवारी, फूली नये फूल की क्यारी,
विकसित पंखुरियाँ शतदल की, बही सुगंध अहा !
आज क्यों मन है बहक रहा ?

गीत

मधु - वसंत की खिली यामिनी, चुपके - चुपके आ जाना,
सुरभि बने रजनीगंधा में आकर, प्राण ! समा जाना।

चाँद मुसकराता अंबर में, ओ शशि ! तुम भी मुसकाना,
देखो, खिले नयन के तारे, जीवनधन ! छवि छिटकाना।
आँखों की यमुना उमड़ी है, कालिंदी—तट पर आना;
मेरे मन के वृन्दावन में मुरली मधुर बजा जाना।

मेरी वीणा की स्वरलहरी ! आ, तारों में सो जाना;
विलग हो सको फिर न कभी, प्राणों में, प्राण ! समा जाना।
दूर्वा के नवनव अंकुर-सी जगती नवनव अभिलाषा,
तिष्यरक्षिता रागरंजिता थी कविता की परिभाषा।

●

६. प्रणय-निवेदन

सुंदरता की नव उपमा-सी, नायिका नवीन निरुपमा-सी,
लावण्यमयी, खिलनेवाली, यौवन की मादक सुषमा-सी,
मानस की मधुमय आशा-सी, उर की मादक अभिलाषा-सी,
नयनों की नीरव भाषा-सी, लज्जा की नव परिभाषा-सी;

यौवन की पहली श्री बिखरी, उस ज्ञात-यौवना बाला-सी,
जिसके अधरों के कूल अरुण, उस प्लावित मधु के प्याला-सी
उन्नत कुच कुंभों को लेकर, फिर भी, युगयुग की प्यासी-सी,
आमरण चरण लुंठित होने वाली, प्रेयसि-सी, दासी-सी;

रागारुण-रंजित ऊषा-सी, मृदु मधुर मिलन की संध्या-सी,
माधवी, मालती, शेफाली, बेला-सी, रजनीगंधा-सी;
कुंदन-सी, कंचन, चंपक-सी, विद्युत् की नूतन रेखा-सी,
श्रावणघन के नीलांचल के तट के विशुभ्र अवलेखा-सी,

शत-शत आघातों-प्रतिघातों- संघातों को चुप सहती-सी,
निर्मल गंगा की धारा में स्वर्णिम तरणी-सी बहती-सी,
अपने ही सुख-दुख-चिंतन में तिरती-सी, डूब उतरती-सी,
आशा की और निराशा की लहरों के संग विचरती-सी;

खिल उठी आज सुषमा अपूर्व नूतन नख-सिख श्रृंगार धरे,
ज्यों आत्म-प्रार्थना सज उठती, जिसमें प्राणों के भाव भरे;
माणिक मदिरा-सी फूटी रही थी अरुण कपोलों पर लाली,
अधरों पर थी मुसकान मंद, जैसे आ सोई उजियाली।

नीरव थी नूपुर की रुनझुन, नीरव ही था किंकिणि का रव;
भय था, कोई सुन ले न कहीं इन चंचल चरणों का वैभव;
चलती दो चरण कभी द्रुतगति, गंभीर धीर पद, चिन्ताकुल,
तो कभी, जड़ित-सी, चित्रित-सी स्थिर हो जाती पथ पर व्याकुल।

थी खेल रही मुखमण्डल पर नव अभिनव भावों की लहरी,
था कभी हर्ष, तो कभी शोक, थी धूपछाँह घिरती गहरी;
शत-शत संकल्प-विकल्पों को अल्पों में कल्प बनाती-सी,
साकार कामना बनी चली, तम में नव ज्योति जगाती-सी।

आई कुणाल के पार्श्व तिष्यरक्षिता सजे सोलह शृंगार,
रति चली मुग्ध करने जैसे रूठे अनंग को, ले उभार।
थे इधर कुणाल विचारमग्न, गंभीर-धीर, घन नीर-भरे,
दृढ़ स्कंधों पर था उत्तरीय, थे लहर रहे कुन्तल गहरे।

बोली वीणा-वाणी नंदित. वंदित हो अभिनंदित रानी,
"बैठे युवराज यहाँ कैसे. है जहाँ नहीं कोई प्राणी?
कुछ समझा, कुछ देखा तुमने, है जग - जीवन में सार कौन?
अलि क्या कहता है सरसिज से, सरसिज खिल उठता त्याग मौन!

बोलो, कोकिल क्या कहती है मधुऋतु में आम्र पल्लवित से?
क्या कहतीं बहती सरितायें, मिलती जब सिंधु उच्छ्वसित से?
समझे, कैसे क्यों मलयज में कलिका का केसर उड़ता है?
अनजान पथिक पावस ऋतु में सहसा निज गृह को मुड़ता है?

क्यों दीपशिखा का रूप देख, नर्तन करने लगता पतंग?
क्यों लतिका है आकुल होती, पाने को तरु का सघन संग?"
विस्मित कुणाल इन प्रश्नों से, कुछ चकित, बँधे ज्यों बन्धन में,
कोई जैसे तन जकड़ रहा हो इंद्रजाल से क्षण - क्षण में।

"क्या कहती हो यह माता ! तुम, यह मेरे लिए पहेली है;
क्या हुआ तुम्हें है आज, कौन- सी सूझी यह रँगरेली है ?"
कुछ और पास में खिसक, निकट आ, स्कंधों पर धर भुज-मृणाल,
बोली सम्राज्ञी, "बतलाओ, संकुचित बन रहे क्यों कुणाल ?

है एक भार मेरे उर में, वह हलका करने आई हूँ;
कुछ मन की सुनने आई हूँ, कुछ मन की कहने आई हूँ।
ये प्रश्न किये मैंने तुमसे कुछ करने को संकेत आज;
कितने भोले, तुम समझ नहीं पाये मेरा अभिप्रेत आज ?

क्या नहीं देखते हो, मैंने युग-युग में यह श्रृंगार किया ?
अपना स्नेही मन मुग्ध बना इन चरणों में ही वार दिया;
उस दिन, जब मैंने अभिनय में तुमको नट-रूप धरे देखा,
मेरे मन के घन में सहसा चमकी नव सुरधनु की रेखा;

तबसे प्राणों की प्याली में अनुराग - राग ले फिरती हूँ,
जिसकी कोई पतवार नहीं, उस स्वर्ण तरी-सी तिरती हूँ।
मैं तो अपने अंतरतम का सौरभ-पराग धर चरणों में,
उत्कंठित देख रही मुख को, उत्तर आता किन वरणों में ?"

मर्माहत-से थे अब कुणाल, श्रद्धानत, प्रणत बने, अस्थिर !
"आर्ये ! तुम हो जननी मेरी, सोचो तो, क्या कहती हो फिर ?
कैसे यह साहस हुआ तुम्हें, माता ! अब राजभवन जाओ,
कुछ पूजन-यजन करो, जिससे हलचल में परम शांति पाओ।"

इस उत्तर से यों मर्माहत, जैसे तुषार से हत नलिनी,
वह मूक पंगु-सी बनी रही, कृति विकृत हुई, कुछ कृति न बनी।
पीकर आँसू के घूँट, रक्त के घूँट, गरल के घूँट, शांत,
निर्जीव शिला की मूर्त्ति-सदृश वह खड़ी रही, नीरव नितांत।

कुछ कहा नहीं सम्राज्ञी ने, खा करके व्रण में तीक्ष्ण बाण,
चल पड़ी बिना कुछ कहे सुने, करने को अपना मान-त्राण;
आँखों में था घन अंधकार, पदतल बिखरे थे अग्निखंड,
वह चलती थी अंगारों पर, लेकर के जलते प्राणपिंड।

सोचने लगी, इस घटना का कैसे होगा अब समाधान ?
अपमान घोर, अपमान घोर ! कैसे, होगा इसका निदान !
अपमान प्रार्थिता नारी का, फिर मगधदेश-सम्राज्ञी का !
जागरित हुआ दुर्भाग्य घोर है आज किसी हतभागी का।

जो मैं न करूँ प्रतिशोध, मुझे धिक् है अपने इस जीवन पर,
अबला नारी है नहीं—बनेगी शासक वह अब त्रिभुवन पर।
इतना है रूप-गर्व किससे— इसका दूँगी मैं दृढ़ उत्तर,
तब होगी शांत हृदय-ज्वाला, चुप कर दूँगी दंभी का स्वर !

सुलगेगा अनल उरस्थल में, वड़वानल ऊपर जल लेकर !
यह ज्वालामुखी फटेगा जब, तब कंपित होंगे भू, अम्बर !
इस मौन-प्रार्थना का उत्तर होगा भविष्य में मौन मंत्र,
विध्वंस, नाश इसका बदला, कितने ही करने पड़ें तंत्र।

७. अनुताप

'ना'—निराशा की गिरा से विकल, व्यथित, अधीर,
गिर पड़ी आ सद्म में, ले लगा व्रण में तीर,
धधकने रह-रह लगा उर-अतल में निर्धूम
छिपा स्तर में एक पावक, रक्त कणकण चूम।

"क्यों उठी यह प्रार्थना, क्यों वासना की बीन—
बजी मेरे उर-अजिर में, प्रणय रँग से लीन?
कौन मदिरा पी चुकीं पलकें विमुग्ध अजान?
उचित अनुचित का ज़रा भी कर न पाई ध्यान!

मूढ़ बन मैं क्यों गई एकांत ही चुपचाप?
व्यक्त करने चली अपना स्नेह अपने आप!
पाप है यह पूर्व संचित, या कि अविदित शाप?
नियति निष्ठुर ले गई, या गहन भावी ताप!

काम ने ही पुष्प-शर से किया दृग को अंध;
रूप-गंध-विमुग्ध भ्रमरी ने चहा सम्बन्ध!
ले रहा प्रतिशोध है किसका विकल आघात?
उमड़ता उर-सिंधु में किस वज्र का संघात!

क्यों न मैंने ही स्वयं इस विष-विटप को तोड़,
उर-अजिर से हटाकर, फेंका न दूर मरोड़?
पालती मैं ही रही नित, ढाल लोचन नीर,
अमर बेलि, सुखा दिया जिसने समृद्ध शरीर!

क्या न है इन चपल-चंचल दृगों का सब दोष?
और की मणि लूट भरना चाहते निज कोष!
आह! यह मैंने किया, कितना बड़ा व्याघात?
कांचना यदि जान ले, तो क्या न हो उत्पात?

दोष किसका, नयन का, मन का, कि देव-विधान?
किया क्यों यों पास इतने रूप का निर्माण?
प्रश्न थी मैं ही स्वयं, उत्तर स्वयं अनजान;
हो गई तन्मय न दुविधा का रहा कुछ ध्यान!

बो चुकी हूँ बीज अपने पाप का यह आज;
फल न जाने कब लगे, ले लूट सारी लाज !
हा ! विधाता आज भी यदि यह व्यथा हो शांत,
हो बड़ा उपकार मेरा, बढ़े अघ न नितांत !

अन्यथा, इस पाप के ही आवरण के हेतु,
कौन जाने बाँधने कितने पड़ें छल - सेतु ?
एक पातक को छिपाने के लिए अनजान,
मूढ़ मन जाने न कितने तानता है तान ?

नयन क्यों विधि ने रचे ये, मोह - ममता - मूल ?
ये न होते, तो न बनता रूप भी यों शूल !
अब स्वयं भगवान ही जाने अदृष्ट भविष्य;
कौन जाने क्या न देना पड़े मुझे हविष्य !"

मूर्त्ति बन अनुताप की, फिर पाप की बन पूर्ति,
व्यथित रानी, उड़ गई सब स्नेह - सौरभ - स्फूर्ति !
स्नेह - सागर था जहाँ लहरा रहा गंभीर,
घृणा का पर्वत वहीं पर खड़ा लिये शरीर !

आज बहती है जहाँ पर मलय मारुत मन्द,
कल वहीं चलता भयानक विषम आँधी - छंद ।
विश्व के वैचित्र्य का भी है अगम इतिहास,
रात - दिन से जहाँ रहते घुले आँसू-हास ।

८. प्रतिशोध

"क्यों दहक रहा मन बना अनल? अब तक न हुआ है यह शीतल!
अब तक न हुई है तृषा शांत, चेतन अब तक है बना भ्रांत;
आँखों के नभ में घिरा ध्वांत, देखने न देता मार्ग कांत;
कैसी ज्वाला में यह जल-जल, हो रहा क्षीण जीवन-संवल?

किस ज्वाला का यह वाष्प-धूम रह-रह पलकों को रहा चूम?
आकुल व्याकुल हो रही दृष्टि, धूमिल-सी लगती निखिल सृष्टि;
किस अंजन की हो रही वृष्टि; ले गया हाथ की कौन यष्टि?
दुर्बल मैं गिरती घूम-घूम; कैसी उठती यह व्यथा झूम?

अब इस पीड़ा का क्या उपाय, जिससे अंतस की कसक जाय?
है गड़ा अतल में मौन शूल, की मैंने कितनी बड़ी भूल?
पकड़े जाकर वे चरणमूल, मधु क्या, जो दे सकते न धूल!
अनुताप कह रहा हाय-हाय! हो चली राख यह कनककाय!

मैं भी तो थी कितनी अजान, माँगा जो उससे प्रणयदान;
कुछ भी न मुझे क्यों हुआ बोध? पहले की इसकी कुछ न शोध।
अब विफल विनय पर सफल क्रोध मेरी गति का कर रहा रोध;
जब कुसुमायुध का लगा बाण, हो गये विसर्जित क्यों न प्राण?

होने दूँगी क्या कथा मुखर? 'मैं उपेक्षिता नारी कातर!'
क्या नहीं कहेगा कभी समय— 'मैंने था अर्पित किया हृदय?
पर प्रियतम था मेरा निर्दय, लौटे रीते ही कुम्भ-निलय।'
तब तो होगी यंत्रणा प्रखर; मैं सह न सकूँगी यह वासर!

क्यों करूँ न वाणी वही मूक, जो करती है उर टूक-टूक?
फैलाकर अपना इंद्रजाल, भेजूँ इस कंटक को निकाल
उस प्रलय गर्भ में, जहाँ काल फेंकता न अपनी किरणमाल,
तब तो कसकेगी नहीं हूक; मुझसे कितनी हो गई चूक!

ममता कहती है, 'मान मान; निर्मम हो इतना हठ न ठान,'
पर, घाव कह रहा, 'पुनः भूल? अपने पथ पर फिर रख न शूल!'
कह रही लाज, 'मर जलधिकूल, या प्रक्षालन कर पंकमूल।'
मैं सोच न पाती, थका ज्ञान; इस दुख से कैसे मिले त्राण?

मैं निर्झरिणी पत्थर हूँगी, अपने हाथों से विष दूँगी।
ऐसा चालित मैं करूँ चक्र, ऋजु ग्रह बन जायें सभी वक्र;
कंपित हो भय से स्वयं शक्र, जीवन का मधु बन जाय तक्र!
मैं इस छल का बदला लूँगी, प्रतिहिंसा बनकर धधकूँगी।

गूँजी मगधेश्वर की वाणी, "क्यों हो भू में लुंठित रानी?
हैं धूलि-धूसरित बने केश; क्यों आज तुम्हारा मलिन वेश?
है छिपा अतल में कौन क्लेश, जो यौवन-श्री कर रहा शेष?
सूझी है कैसी नादानी? क्यों अशिव वेश यह, कल्याणी?

वह पहले का शृंगार-हार क्यों दिया आज तुमने उतार?
आँखों का वह मधुमय पराग सूखा-सा बैठा बन विराग,
औ' मस्तक का कुंकुम सुहाग दिखलाता हो जैसे विहाग;
मणि-कंकण, भूषण-अलङ्कार उत्सर्ग कर दिये क्यों अपार?

कोमल कपोल की वह लाली, खो गई कहाँ वह मधुप्याली?
अधरों का मधुमय मंद हास है आज नहीं पाता विकास;
वेदना-व्यथित बह रही श्वास, किस व्रण के गोपन का प्रयास?
कैसी नीरव पीड़ा पाली? क्यों क्रूर बनी, भोली-भाली!"

बोली रानी,—"मन है उदास;" सब विफल हुए मेरे प्रयास!
चिर दिन चरणों का कर सेवन, तन-मन-धन-जीवन कर अर्पण,
पा सकी आर्य का किंतु न मन, सब हुए व्यर्थ ही आयोजन;
फिर क्यों न चित्त हो यह निराश, हो गया आज जीवन हताश!"

बोले मगधेश्वर, "क्या वर दूँ? क्या संपति चरणों में धर दूँ?
जिससे हो मन का क्षोभ नष्ट, बोलो लिख दूँ मैं वही पृष्ठ।
है गूढ़, न पाया समझ कष्ट, समझूँ भी तो कुछ बात स्पष्ट;
प्रियतमे, कहो, मैं क्या कर दूँ? जिससे मन की पीड़ा हर लूँ!"

अधरों में छाया मंद हास; रानी उठ, कुछ आ गई पास,
बोली, "क्या दोगे वर, नरेश, जिससे न रहेगा कहीं क्लेश?
कितने उदार, सहृदय विशेष, सचमुच महान् तुम मागधेश!
दोगे वर या परिहास, हास?" बोली फिर रानी, मुख उदास!

बोली रानी, "क्यों जीवनधन! क्या स्मरण तुम्हें, संकट के क्षण?
तुम रुग्ण पड़े, दुर्भाग्य हाय! कुछ था न सफल औषध-उपाय!
मैं ही विगलित कर प्राण-काय, कर सकी तुम्हारी तब सहाय!
तुम हुए स्वस्थ, सुंदर, शोभन; दो पुरस्कार का वह अब धन!

जो मुझ पर है इतनी करुणा, तो अपनी प्रीति करो अरुणा!
सप्ताह मात्र के लिए राज करने दो मुझको, महाराज!
कौतुक, कौतूहल चपल आज, पहनूँ मैं भी यह स्वर्ण ताज,
है जगी यही तृष्णा तरुणा, बह रही कामना की वरुणा।"

बोले अशोक, "बस यही साध, लो, करो राज्य तुम अब अबाध!
बस इतने ही के लिए रोष? भर गया तुम्हारा रिक्त कोष?
इसमें न तुम्हारा रंच दोष, जानतीं उमंगें नहीं तोष;
स्वप्नों ही में है सुख अगाध, है सत्य न उतना सुखद आध!"

था आज हर्ष का प्रथम प्रात, कहती थी सौरभ लिये बात—
सम्राज्ञी हो आसनासीन, खिल उठी शक्ति पाकर नवीन;
बज उठी हृदय की बंद बीन, अब क्या अशक्य, क्या कार्य दीन?
था कसक रहा उर पदाघात, कहता था गुप चुप एक बात—

"जो करना हो, सो करलो अब, अपने घावों को भर लो अब !
अवसर है यही, यही सुयोग, प्रक्षालन कर लो हृदय रोग;
छोड़ो करुणा का अबल ढोंग, निष्कंटक हो ऐश्वर्य भोग !
जलनिधि तरना हो, तर लो अब, जो निधि धरना हो धर लो अब !"

बस हुआ तरंगित यह विचार, "निर्मूल शोक हो अब अपार,
जिससे विस्मृत हो पदाघात, जिससे अतीत का हो निपात।
यह राज्यशक्ति, वह उपोद्घात, जो कर सकती है दिवस, रात;
क्यों आज न यह राज्यधिकार उपयोग करूँ ? हट चले भार !"

लिखने बैठी वह छद्म लेख, ज्यों नियति खींचती निठुर रेख;
आकृति थी उसकी बनी क्रूर, सिंहनी जिस तरह झपट दूर
मृगशिशु पर कर-नख घूर-घूर करना चहती हो उदर पूर।
रहकर अदृष्ट से चिर अदेख, लिखने बैठी वह छद्म लेख !

"है कुल-कलंक, कुल-अरि, कुणाल, खुल गई आज सब छिपी चाल !
यह राजाज्ञा है, राज्यदंड—, परिपालन हो इसका अखंड;
षड्यंत्र किया इसने प्रचंड, हो मौर्यशक्ति जिससे विखंड,
दोषी के दोनों दृग निकाल, निर्वासित कर दो, राज्यपाल !"

"कर दूँगी इसका भी प्रबंध, मगधेश्वर भी बन जायँ अंध;
देगा अमात्य यह समाचार, कांचना-कुणाल विरक्ति धार,
तज तक्षशिला, गृह, राज्य-द्वार, अज्ञात गये बन को सिधार।
चर लायें ऐसा ही निबन्ध, फैले मेरे यश की सुगंध !"

थे दृग से झरते अग्नि-खंड, लोहित थे, ज्यों हिंसा प्रचंड,
हो गई भ्रकुटि कुछ और बंक, लिखते ही लिखते चार अंक।
कर कठिन, अचल, अविचल, अशंक, लेखनी तिरोहित पाप - पंक !
यात्रा का था यह कठिन खंड, थे उद्वेलित से प्राणपिण्ड !

अब था आनन का कृष्ण रंग, जैसे प्रस्फुटित हुआ कुढंग !
अधरों से उठती तीक्ष्ण भाप, सह सकी न जिसको स्वयं आप;
प्रत्यक्ष खड़ा हो गया पाप, पलभर वह भी थी उठी काँप;
फिर, सावधान कर स्खलित अंग, वह उठी पत्र को लिये संग !

चर को दे करके पत्र हाथ, बोली, "लो कोई तुम न साथ;
अविलंब अभी ही सावधान ! करना है तक्षशिला प्रयाण;
मंत्री को करना यह प्रदान, अनिवार्य कार्य है यह महान् !"
संदेश सभी कर आतमसात, चर चला, पत्र ले, विनत-माथ।

९. चर

चर ले आज्ञापत्र चला मन में सकुचाता,
"यह मेरे ही हाथ पाप था लिखा विधाता !
किया कौन-सा कर्म ? मिला यह जिसका बदला,
निर्दोषी के लिए मृत्यु का पाश ले चला !

दासवृत्ति भी है कितनी यह चेतन घातक ?
करना पड़ता सभी, पुण्य हो चाहे पातक !
कुछ अपना अधिकार नहीं, 'हाँ' 'ना' करने का
धर्म एक ही, जो आज्ञा, शिर पर धरने का।

पशु-जीवन से अधम! चेतनामय यह जीवन।
जान-बूझकर जहाँ पाप हम करते क्षण-क्षण!
कितनी नियति कठोर? नहीं कुछ वश है अपना,
ढो संकट का पर्वत पड़ता निशिदिन खपना।

पर संभव क्या नहीं, न आज्ञा ही ले जाऊँ?
दे दूँ अपने प्राण, आर्य के प्राण बचाऊँ।
किन्तु आह! विश्वासघात मुझसे न बनेगा!
अनुचर का यह कपट और अघ अधिक तनेगा।

सेवक का कर्त्तव्य, कार्य सेवा का करना,
स्वामी के संतोष-कोष को श्रम से भरना;
पराधीनते! सर्वनाश हो तेरा जग में!
कुछ न सोचने देती तू मानव को मग में!

दस्युवृत्ति से श्रेष्ठ बहुत है भूखों मरना,
परवश होकर नहीं किन्तु वैतरणी तरना।
पर क्या करूँ उपाय? आह! कुछ मार्ग नहीं है,
दूँ चल आज्ञापत्र, शेष अवलंब यही है!

तक्षशिला है कहाँ? पाटलीपुत्र कहाँ है?
यात्रा भी है अधिक, पहुँचना शीघ्र वहाँ है!
ईश्वर! इच्छा बलीयसी है रही आपकी!
मानव कब कर सका समीक्षा पुण्य-पाप की?

जो स्वीकृत हो तुझे वही मुझको स्वीकृत है;
स्वामी रहे प्रसन्न, यही सेवक का व्रत है।
कितना आह अधर्म! धर्म पर जो चलता है,
उसको ही दुर्दैव दुःख से भी दलता है!

तिष्यरक्षिता भी है कितनी चक्रचालिनी ?
अधरों में है अमृत, किंतु है स्वयं व्यालिनी !
कूटचक्र, षड्यंत्र, कभी तो यह टूटेगा,
कालकूट का कुंभ उसी के सिर फूटेगा !

नहीं पाप का घट जब तक ऊपर तक भरता,
उतराता है नहीं, न कोई उसमें तरता।
यह अदृष्ट से छिपा कार्य करती अनार्य है;
क्या उसका भी धर्म नहीं कुछ भी विचार्य है।

धर्म-अधर्म समस्त भार, उस पर ही छोड़ूँ;
यह विचार - शृंखला क्यों न मैं अपनी तोड़ूँ ?
हाँ ! अशोक भी पूर्व शाप से ज्यों अभिशापित,
देख न पाते, क्या रहस्य घर में संचालित।

यह ममता का रंग ढंग अभिनव गढ़ता है,
यौवन से भी अधिक जरा पर यह चढ़ता है;
होता मानव वृद्ध, विरस, तब रस के कण को
दौड़ पकड़ता, जैसे डूबा पकड़े तृण को !

तिष्यरक्षिता का उज्ज्वल नक्षत्र चमकता;
आज किसी का और राग है नहीं गमकता।
किन्तु मूढ़ मैं कितना ? उलझा हूँ उलझन में;
ढूँढ रहा आनन्द समस्या की सुलझन में।

है अधीन बस तन ही, पर मन तो स्वतन्त्र है,
वह अपना ही पढ़ता रहता महामंत्र है !
नहीं किसी ने अब तक उसको वश कर पाया;
उसने अपना मेघमंद्र रव सदा सुनाया !

क्यों महेन्द्र को भी कुणाल की याद न आती ?
है बुझने - सी लगी स्नेह चुकने पर बाती !
किन्तु, आह ! क्या सभी स्नेह का सूखा सोता ?
स्वार्थ मात्र ही एक स्मरण का बन्धन होता ?

महामात्य, मंत्रीगण, सबका ज्ञान ढहा है;
सावधान कोई न यहाँ पर आज रहा है !
यह विधि का ही व्यंग्य, नियति की ही यह छलना,
माता सुत के लिए सजाती विष का पलना !

चारुमती को भी न कांचना की सुधि आती,
पर उसको क्या ज्ञात, दैव इतना संघाती ?"
किंकर्तव्य - विमूढ़, गूढ़तम व्यथा छिपाये,
चला विवश चर, दीन - हीन चेतना गँवाये !

क्षत - विक्षत करती थीं रह - रह विषम तरंगें,
पीछे थीं पद खींच रहीं उर उमड़ उमंगें;
श्रांत - वदन, मुख - क्लान्त, भ्रान्त - चित्त कुछ श्रमसीकर
छलक उठे थे, तप्त भाल पर, दुख से कातर !

पोंछ उन्हें औ' सुखा अश्रुमय व्याकुल लोचन,
दृष्टि बनाकर स्वच्छ, चला करता अनुशोचन।
गये दिवस कुछ बीत, पंचनद पर वह आया;
तक्षशिला को संध्या होते उसने पाया !

देख प्रधानामात्य दंतमुद्रा से मुद्रित—
पत्र खोल अविलम्ब लगा पढ़ने चिंतित - चित !
धक से उर हो गया, हाथ से कागद छूटा;
"हा ! किसने, दुर्भाग्य ! मौर्यकुलमणि को लूटा ?"

हुआ नहीं विश्वास नयन पर उसको अपने;
सोच रहा, "यह सत्य देखता हूँ या सपने?"
पुनः पत्र कर में लेकर, साहस समेट कर,
पढ़ने लगा सभीत यत्न से अक्षर अक्षर।

"स्वामी, शासक, बन्धु, सुहृद, सहृदय कुणाल के—
नेत्र काढ़कर भिजवा दूँ, आदेश पाल के।
है इसमें षड्यन्त्र, तन्त्र कुछ काम कर रहा!
हो कोई भी चाहे इसमें मन्त्र भर रहा।

सोच रहा होगा, निष्कंटक राज्य करूँ मैं,
अधिकारी का स्वत्व छद्म से प्रथम हरूँ मैं।
या कि सत्य ही है, अशोक ने आज्ञा भेजी?
हो पालन अविलंब, इसी से इसे सहेजी!

उन सा स्नेही, न्यायशील, जनता का पालक,
कौन दूसरा अन्य, शांति - समता - संचालक?
जन - सेवा में लीन, जिन्होंने विभव न चाहा,
सबसे सरल स्वभाव, बन्धु - सा स्नेह निबाहा!

सर्व विभव संपन्न, बने हैं फिर भी त्यागी,
त्यागी भी हो नित्य लोक - सेवा - अनुरागी!"
स्तब्ध, ज्ञानहत, श्रीउदास, व्याकुल हो मन में,
पहुँचे मंत्री हो अधीर तब राज्य - भवन में।

अचल मूर्ति - सा खड़ा, समझ कुछ बात न आई,
"मंत्रीवर! क्या बात?" गिरा गम्भीर सुनाई!
शुष्क अधर थे, और कंठ था मानो घुटता,
कह न सके कुछ बात, प्राण था जैसे छुटता।

"मौर्यश्रेष्ठ युवराज! पत्र पाटलि से आया,
यह लें कर में आप, अभी चर इसको लाया।"
ले कुणाल ने पत्र ध्यान से उसको देखा,
मुखमंडल पर खिंची एक नव स्मित की रेखा।

बोले, "यह राजाज्ञा है, इसका पालन हो,
इसी प्रकार कलंक मौर्य का प्रक्षालन हो!
राजाज्ञा, फिर पूज्य पिता की है यह इच्छा,
यह मेरा सौभाग्य, पूर्ण हो एक सदिच्छा!"

मंत्रीवर जड़मूक, पंगु - से, खड़े अचल थे,
लकवा - सा लग गया, बुद्धि के अणु दुर्बल थे।
आनत, करके शीश, कृतांजलि करके अर्पित,
बोले, "क्या कह रहे? धैर्य हो रहा न संचित!

है इसमें षड्यंत्र, तंत्र, कुछ छिपा भेद है,
इससे होता शोक, इसी का मुझे खेद है!
आप सरलचित, धीर, वीरवर, श्रेष्ठ आर्य हैं,
इसीलिए कुछ सोच न पाते कलुष कार्य हैं।

इसी राज्य के लक्षागृह में कितने ही नर—
निरपराध ही झोंक दिये जाते हैं भीतर!"
"सचिवश्रेष्ठ! सद्भाव तुम्हारा जान रहा हूँ,
यह मुझ पर आभार तुम्हारा, मान रहा हूँ!

आज्ञा पालन करो, यही मेरी भी आज्ञा,
उल्लंघन में दंड लिये फिरती राजाज्ञा।"
मंत्रीवर निस्तब्ध, पड़ रहा हो हिम जैसे,
शोणित शीतल बना, खड़े थे वे जड़ ऐसे!

कह न सके कुछ, अचल रहे क्षण भर से मूर्च्छित,
आया चेतन, बोध हुआ, तब हुए व्यवस्थित।
आर्यपुत्र ने कहा, "न आज्ञा हो अपमानित,
देना होगा तुम्हें स्वयं सिर फिर इसके हित !"

दिन में आई रात्रि, प्रलय के गीत सुनाती,
धूमिल छाया तक्षशिला में थी मँडराती।
क्रूर नियति ने लीं निकाल अंबुज-सी आँखें;
उड़े न ऊपर प्राण, रह गईं कँपती पाँखें।

उन आँखों की कथा व्यथा बनकर मँडराई;
एक अछोर वेदना बन प्राणों में छाई।

१०. निर्वासन

निर्वासन के लिए हुए जब उद्यत-प्रस्तुत शांत कुणाल !
आ पहुँची कांचना कुमारी, खड़ी चरणतल में नतभाल !
"क्या कहती हो ? प्रिये विकल क्यों ? तुम जा करके पाटलिपुत्र,
सुख से रहो वहीं पर, गृह में, सुख-सुविधा सब हैं एकत्र !

निर्वासन का दण्ड मुझे है, नहीं तुम्हारा कुछ अपराध
फिर वन में चलने की कैसी, पगली ! यह ठानी है साध ?"
बोली गद्गद कण्ठ कांचना, "नाथ, तुम्हारा तज कर साथ,
कहाँ सुखी होगी यह दासी, छोड़ तुम्हारा पावन हाथ।

पाणिग्रहण जब किया, किया था तब तो तुमने ही संकल्प,
कभी तजोगे इसे नहीं तुम, कुछ भी सुख-दुख का हो कल्प !
कैसे तुम्हें छोड़ सकती हूँ, प्रियतम ! इस भीषण दुख में ?
मैं गृह रहूँ सुखी हो, औ' तुम जाओ कानन के मुख में ?

नाथ, असम्भव है यह सब कुछ, संग चलूँगी मैं निश्चय।
मना कर सकोगे न पुनः तुम, मैं दुख में हो गई अभय !"
"मना नहीं करता, सुकुमारी ! कहता किन्तु धर्म की बात,
मैं हूँ पुरुष कठोर प्रकृति से, तुम कोमल, जैसे जलजात !

युद्ध किये हैं मैंने अगणित, वज्र हो गई है यह देह !
सुख से सह सकता बाणों को, फिर क्या धूप, शीत, या मेह ?
कभी नहीं निकलीं तुम गृह से, तुम गृह दीप-शिखा न्यारी !
झंझा से तुम लड़ न सकोगी, दुर्बल हो, तुम हो नारी !"

"प्रियतम, मैं दुर्बल-निर्बल हूँ, तुम बलिष्ठ हो, यह सच, प्राण !
किन्तु समय पर कलिका भी हो सकती निश्चय वज्र-समान !
मैं सिर-आँखों पर ले लूँगी, जो भी होगा दुख का भार;
किन्तु अकेले कभी न जाने दूँगी तुमको, प्राणाधार !

पर्वत हो, घाटी, वन-उपवन, सदा रहूँगी अनुगामी;
पाओगे पद-पास सदा ही, दासी को, मेरे स्वामी !"
अधिक कह सके कुछ न कंठ से, हुए कुणाल शोक से मौन;
कहा, "चलो यदि नहीं मानतीं, वन प्रिय तुम्हें, न सुखप्रद भौन !"

ज्यों भिखारिणी को मिल जाये किसी रत्न का अनुपम दान,
हुई कांचना प्रमुदित, जैसे दरिद्रिणी हो धनी महान !
जिस दिन थे कुणाल चलने को, करने को गृह से प्रस्थान,
साथ कांचना भी प्रस्तुत थी, निर्वासन का आया ध्यान।

सेनाधिप, सरदार, प्रजा सब, शोकातुर, व्याकुल, कातर,
आये देने बिदा, उस समय उमड़ा करुणा का सागर।
अब कुणाल थे नहीं प्रजापति, स्वेच्छा से समस्त अधिकार–
त्याग दिये त्यागी ने तृण-से, हलका हुआ हृदय का भार !

फिर भी मना रहे थे मन्त्री, दुख से हो-हो अधिक अधीर,
कुछ न कहा जाता था मुख से, दृग से बह-बह आता नीर !
कैसे कहें, बिदा करते हैं ? हृदय हो रहा था दो टूक,
कंठ रुद्ध था, हृदय रुद्ध था, वाणी पंगु, बनी थी मूक।

फिर ऐसा व्यवहार स्नेह का, सभी हृदय से बने अधीन;
इस बन्धन में प्रेम-रज्जु के पाते वह सुख नित्य नवीन।
खड़ी शोक-कातर सब सेना, सेनापति लेकर संन्यास,
चला सदा के लिए राज्य से करने अब दूर प्रवास !

किसी-किसी सैनिक के उर में उमड़ा महा ज्वार-सा रोष,
गरज उठा, "यह ठीक नहीं है, यह है महाराज का दोष !
राजकुमार, आप मत जायें ऐसे कायर बनकर दीन;
अवसर दें यदि हमें, आज भी हम लावें सिंहासन छीन।

दूर देश में पड़े हुए हैं, नहीं आपको कुछ भी ज्ञात,
कूट यन्त्र, षड्यन्त्र कहीं हो रचा किसी ने यह अज्ञात !
और बन्धु भी कई आपके, क्या जाने उनका ही चक्र—
वक्र बना यह घूम रहा हो, निश्चित कोई गूढ़ कुचक्र !

किया आपने अरिदल-मर्दन, एक-एक से धीर-महान;
क्यों न युद्ध को एक बार फिर मिलकर करें आप अभियान ?"
थे कुणाल गंभीर सिंधु-से, अटल-अचल जैसे हिमवान;
टले न अपने निश्चित व्रत से, शांत हुआ तब क्रोध महान !

राजकुमार मंद्र घन रव में बोले गिरा धीर गम्भीर,
"शासक हूँ मैं नहीं आज से, फिर भी, आप न बनें अधीर !
राजाज्ञा का मान यही है, यही पितापद का सत्कार,
मुद्रित मुद्रा देख असंशय दण्ड करूँ सुख से स्वीकार।

आज्ञा है सम्राट उन्हीं की, जिनका है यह राज्य विशाल,
वंदित-नंदित हुए दस्यु - दल चरण - धूलि को धरकर भाल।
यदि मैं करूँ अवज्ञा उनकी, तो फिर क्या होगा कल्याण ?
उद्धत होंगे और क्षुब्ध अरि, होगा विप्लव का आह्वान !

क्या जाने अपने ही कुल की यह छोटी-सी चिनगारी ---
भस्म न कर दे, चिर-तप-अर्जित यह विशाल सत्ता सारी !
केवल अपने स्वार्थ-हेतु दो दिन जीवन के लिए अशेष —
यह कलंक लूँगा न शीश पर; कितने दिन जीवन अवशेष ?

फिर, मेरे वे बन्धु सभी हैं मुझ प्राण से भी प्रिय नित्य;
वे षड्यन्त्र करें जीवन में, यह मिथ्या है बात असत्य !
अब न कभी दुहराना मुख से, ऐसी पापमयी यह बात;
पुण्यशील वे, स्नेहशील वे, न्यायशील वे, मुझको ज्ञात !

आज्ञा शिरोधार्य करके यह मुझको अब चलना होगा;
स्नेह, कृपा, अनुकंपा, यह सम्बन्ध सदा रखना होगा !
आप नहीं कुछ भी अब सोचें, तभी हो सकूँगा निश्चिन्त;
शोक करेंगे आप, न मेरे दुख का कहीं मिलेगा अंत !

यह गभीर ममता का अंचल और न करें आप विस्तार;
मैं हूँ सुखी, सुखी हों इससे, यही एक है अब निस्तार !"
चुप हो गये सभी सैनिकगण, व्यथित हृदय, पर वाणी मौन;
था किसमें साहस ही इतना, कहता फिर, "प्रभु तजें न भौन !"

थी कांचना खड़ी करुणा-सी, छाया-सी होकर, अम्लान,
जैसे हो प्रतिबिंब दूसरा यह कुणाल का ही द्युतिमान !
उसकी नीरवता दुहराती थी कुणाल ही की ज्यों बात,
लज्जाशील आर्य-ललना का यह चरित्र है किसे न ज्ञात ?

मूर्तिमंत वह खड़ी रही चित्रित-सी, शिल्प-कला सी रम्य,
यह पत्नी की नीरवता है समझी गई शिष्टता, क्षम्य !
फिर भी वह बोली कोमल स्वर ! दीन गिरा थी, कंठ अधीर,
"भूलें नहीं आप सब हमको।" बहा और भी दृग से नीर !

"इतने दिन हम रहे यहीं पर पुरजन - परिजन - स्वजन- समान,
स्नेह किया हम पर सबने ही, कभी न भूलें इसका ध्यान !
हमसे आज्ञावश, स्वधर्मवश, जो कुछ भी हो गया प्रमाद,
क्षमा करें इस बिदा घड़ी में, देवें अपना स्नेह-प्रसाद !"

पुरवासी, दर्शक एकत्रित, जनमण्डली शोक - संतप्त,
लगे डूबने अश्रु-सिंधु में, कर न सका कोई कुछ व्यक्त।
एक-एक करके कुणाल फिर सभी वहीं पर वस्त्र उतार;
रखने लगे नित्य ही जैसे, जैसे उतर रहा हो भार।

राज्यमुकुट को ले मस्तक से सचिव श्रेष्ठ के कर में धर,
राज्यदंड भी दिया हाथ में, शीश झुकाया फिर सादर !
झुकी साथ ही अचल प्रार्थना– सी कांचना कुमारी भी,
सावित्री बन रहनेवाली सत्यवान की नारी भी !

जनसागर में उठा पुनः अब नये अश्रुजल का गुरु ज्वार;
लगा डूबने उतराने-सा अग-जग, विकल निखिल संसार !
सेनाधिप ने शीश झुकाया, झुका साथ ही सभी समाज;
खड़ी कांचना औ' कुणाल थे नल-दमयंती जैसे आज !

कानों के कुण्डल उतारकर, भुज से कंकण दिया उतार,
शिर से स्वर्णकिरीट उतारा, कर से स्वर्ण दंड सुकुमार;
एक-एक हीरक मालायें, मरकत, नीलम, माणिक लाल,
खोल-खोल अपने शरीर से देने लगे भूमि पर डाल !

रह न गया कुछ, लोग उठे कह, "क्या करते यह राजकुमार ?
इन पर तो अधिकार तुम्हारा, इन्हें छोड़ते ? यह भी भार ?
इन्हें साथ में रखें आप, तो यह उपकार रखेंगे नाथ !
यही हमारे प्रतिनिधि होंगे, दुख में देंगे अपना हाथ !"

राजकुमार न किंतु सुन सके, मर्मर रव था, अस्फुट बोल;
एक-एक कर, तिल-तिल करके दिये रत्नकण सारे खोल !
उत्तरीय भी, अधोवस्त्र भी लगे बदलने जहाँ कुणाल,
हाहाकार मचा जन-मन में, मूर्च्छा-सी आ गई अपार !

साधारण कौपीन दीन-सी पहन खड़े अब राजकुमार;
यह भिक्षुक का वेश देख कांचना न निज को सकी सँभाल!
टूक-टूक हो गया हृदय था, फूट-फूट रोई चुपचाप;
"आह ! विधाता ! सर्वनाश यह किया ! कौन था मेरा पाप ?"

भिक्षापात्र लिया कुणाल ने, जैसे राजदंड सस्नेह;
उनका यह सन्तोष देखकर कुछ-कुछ हटे शोक के मेह !
कहा मधुर स्वर से कुणाल ने, "ग्रहण किया मैंने कुछ भी न,
आज्ञा दें, तो करुणा करके दे दें मुझको मेरी बीन।

यही बनेगी मेरी जर्जर नौका की सुखमय पतवार;
मैं भवसिंधु तरूँगा सुख से, यह होगी जीवन-आधार।
बीन हाथ में दी लाकर जब, तब कुणाल अत्यन्त प्रसन्न;
सचिव श्रेष्ठ तब और पास तक इधर चले आये आसन्न !

भिक्षा - पात्र कांचना के कर, औ' कुणाल के कर में बीन;
प्रस्तुत दोनों थे चलने को, जनता थी चेतनहत, दीन !
शोक-सिंधु के महाज्वार को ही जैसे करने को शान्त,
गाने लगे कुणाल गीत तब मंगलमय, रमणीय नितान्त !

बिदा-गीत

दो बिदा आज, अंतिम प्रणाम !

चलता जीवन का यही चक्र, ऋजु कभी बना, तो कभी वक्र,
मधु बन जाता है तीक्ष्ण तक्र, भिक्षुक बनता है स्वयं शक्र;
यों ही संसृति की गति-विराम;
दो बिदा आज, अंतिम प्रणाम !

इसमें कैसा आश्चर्य-शोक ? भव की गति है यों ही अरोक,
राज्याभिषेक का दिन विलोक उत्सव-हर्षित सब बना लोक;
तब ही वनवासी हुए राम,
दो बिदा आज, अंतिम प्रणाम !

भोगा अब तक धन-धरा-धाम, क्या सुख न मिला मुझको प्रकाम ?
जीवन-प्रभात था कल ललाम, तो संध्या आई आज श्याम;
फिर, इसे रहे क्यों रोक-थाम ?
दो बिदा आज, अंतिम प्रणाम !

जिनके पद-तल थे बिछे फूल, होना ही चहिए वहाँ शूल,
इसमें न किसी की कहीं भूल, मिलने दो भव के युगल कूल;
ज्यों सुख, त्यों ही हो दुख प्रकाम;
दो बिदा आज अंतिम प्रणाम !

था कभी स्कंध पर मृदु दुकूल, तो कंथा भी ले वहाँ झूल,
जिन दृग ने चूमे सुरभि-फूल, पड़ने दो उनमें पंथ-धूल;

तज दंड, पाणि ले यष्टि थाम;
दो बिदा आज, अंतिम प्रणाम !

जो कल राजा, वह आज रंक, कुल-गौरव जो, वह कुल-कलंक,
यह परम सत्य लख ले अशंक, है पिता छुड़ाता स्वयं अंक;
यह पुत्र चला पथ में अधाम,
दो बिदा आज, अंतिम प्रणाम !

कोई धर देता मुकुट भाल, फिर वही छीन लेता अकाल,
मानव पाकर ही दुख विशाल, देखता सत्य का शुभ सकाल;
नर नियति-चक्र का क्षुद्र दाम;
दो बिदा आज, अंतिम प्रणाम !

जब हो जाता है विभव क्षीण, सब गर्व-दर्प होते विलीन,
तब क्यों न अभी से स्नेह-लीन, निशिदिन करुणा की बजे बीन;
है अभय सदा ही नर अकाम;
दो बिदा आज, अंतिम प्रणाम !

हुआ सभी दर्शक समाज यों मधुर गीत के रस में लीन,
भूल गया संताप, सचेतन बना वृन्द वह चेतनहीन !
पुष्पमाल, अक्षत, चन्दन, दधि— दूर्वा के ले-लेकर थाल,
बढ़ी आरती करने को जनता आनंदित, नंदित भाल !

गीत रचा था नागरिकों ने करने अभिनंदन - वंदन;
किया व्याज से उसके मानो अर्पित भावों का चंदन।

गीत

तुम्हें हो मङ्गलमय अनुकूल !
न जाना हमें कभी भी भूल !
जो भी शूल मार्ग में हों, प्रभु कर दें उनको फूल !

जब पथ में जलती हो काया, तब घन आकर कर दें छाया,
बनें लता-तरु सखा पथिक के दोनों आम्र - बबूल।
तुम्हें हो मङ्गलमय अनुकूल !

दूर्वादल का आसन देकर, वसुधा स्वागत कर अंक भर,
निर्मल निर्झर शीतल जल से धो दें पद की धूल !
तुम्हें हो मङ्गलमय अनुकूल !

दिन में दिनकर मधु बरसावे, निशि में शशि आ अमृत पिलावे,
पशु-पक्षी हिलमिल कर निशिदिन हों अनुरंजन - मूल !
तुम्हें हो मङ्गलमय अनुकूल !

धीरे-धीरे पहुँचो पथ पर, सुख से बैठे जीवन-रथ पर;
सफल मनोरथ बनें तुम्हारे, हो न कहीं पर भूल !
तुम्हें हो मङ्गलमय अनुकूल !

११. पथ-गीत

(१)

आया सुभग सबेरा,/राही !/आया सुभग सबेरा।
अग - जग की निद्रा है टूटी,/अरुण किरण अंबर में फूटी,
किया मलय ने फेरा,/राही !/आया सुभग सबेरा !

डाल डाल में फूटी कोंपल/स्वर्णिम, ताम्र, नील औ' उज्ज्वल,
किसने रंग बिखेरा?/राही !/आया सुभग सबेरा !

तुम भी अपनी आँखें खोलो,/कनक-किरण के जल में धो लो;
मन का मिटे अँधेरा,/राही !/आया सुभग सबेरा !

(२)

कमलनयन ये खोलो,/राही !

देखो तो—नभ में रवि आया; कैसी स्वर्ण-प्रभा है लाया;
किरणों से दृग धो लो,/राही !/कमलनयन ये खोलो !

जलनिधि में उठ रहीं तरंगें,/ज्यों मानव की महा उमंगें;
तुम मन का बल तोलो,/राही !/कमलनयन ये खोलो !

भर लो यह आलोक प्राण में,/विहगों का रव कंठ-गान में;
नव प्रभात बन डोलो./राही !/कमलनयन ये खोलो !

(३)

बोले तरु में काग !/राही !

रात नहीं रे प्रात आ गया,/अग-जग में आलोक छा गया;
रुकने लगा विहाग,/राही !/बोले तरु में काग !

आँखें क्यों अब भी मदमातीं ?/आँखें क्यों अब भी अलसातीं ?
निद्रा - तंद्रा त्याग,/राही ! बोले तरु में काग !

खगकुल हैं गा रहे भैरवी,/सोरठ में शोभा न वह रही;
जाग जाग, उठ जाग !/राही !/बोले तरु में काग !

(४)

कैसा मधुमय कलरव ?/राही !

बैठे खग, देखो, दल के दल, डाली में पुलकित हो चंचल,
भव में भरते वैभव,/राही !/कैसा मधुमय कलरव ?

लघु-लघु कंठों में लघु-लघु स्वर,/लघु-लघु अमृत बूँदों को भर,
करते कैसा उत्सव ?/राही! /कैसा मधुमय कलरव ?

मुखरित होते तृण-तृण, कण-कण,/डूब रहे विस्मृति में क्षण-क्षण !
बहा निराला आसव !/राही !/कैसा मधुमय कलरव ?

(५)

नभ में विहग अकेला,/राही !
अपने कोमल पंख पसारे,/दूर उड़ रहा क्षितिज-किनारे,
करता नव रँगरेली,/राही ! /नभ में विहग अकेला !

कोई साथी साथ नहीं है,/जाना उनको दूर कहीं है;
बीत रही है बेला,/राही !/नभ में विहग अकेला !

लो आया, लाया वह संबल,/नीड़ों में आये खग के दल;
लगा हर्ष का मेला,/राही !/ नभ में विहग अकेला !

(६)

झंझा मचल रही,/राही !
घिरे हुए हैं नभ में बादल,/बरस रहे हैं, उपल, महाजल;
पथ है बिछल रहा,/राही !/झंझा मचल रही !

बिजली कौंध रही क्षण-क्षण में,/वज्रघोष हो रहा गगन में,
जाता धैर्य बहा,/राही ! झंझा मचल रही !

बलि की अरुण शिखा ले पथ में,/तुम भी बढ़ो प्रलय के रथ में,
तो हो विजय अहा !/राही !/झंझा मचल रही !

(७)

आई मदिर सुगंध,/राही !
तन-मन-नयन-प्राण हैं आकुल;/कौन दे गया यह सुख-संकुल ?
मधुप बन रहे अंध;/ राही !/आई मधुर सुगंध !

किसकी श्वास मनोरम पावन ?/किन प्राणों का है यह रस-घन ?
लगा स्नेह - अनुबंध,/राही !/आई मदिर सुगंध !

कौन बुलाता दे आमंत्रण ?/भेज रहा है मौन निमन्त्रण ?
यह कब का सम्बन्ध,/राही ?/आई मधुर सुगंध !

(८)

लहरों से क्या मोह,/राही ?
दूर, दूर अति तुमको जाना,/जहाँ रश्मि का ताना-बाना;
इनसे कौन विछोह,/राही ?/लहरों से क्या मोह ?

इनकी अलकें, इनकी पलकें,/जिनमें पात्र सुरा के छलकें,
इनकी इतनी टोह,/राही ?/लहरों से क्या मोह ?

चल उस ओर जहाँ पर अपना/सत्य बना खिलता है सपना;
कर न किसी से द्रोह,/राही !/लहरों से क्या मोह ?

(९)

पाल तरी के खोल,/राही !
रह-रहकर हैं लहरें आतीं,/भ्रू-भङ्गों से पास बुलातीं,
करके अलकें लोल,/राही !/पाल तरी के खोल !

मलयज धीरे - धीरे बहता,/मन में मधुर कथा-सी कहता;
यह बेला अनमोल,/राही !/पाल तरी के खोल !

कोई दूर मलार सुनाता,/मन में कैसी मीड़ उठाता ?
खे तरणी, जय बोल,/राही !/पाल तरी के खोल !

(१०)

बैठो श्रान्त न पथ में,/राही !
अभी छलक आये ये जल-कण,/पोंछो ये मस्तक के श्रम-कण;
रुको नहीं इस अथ में,/राही !/बैठो श्रान्त न पथ में !

अभी दूर है तुमको चलना,/निद्रा को न बनाओ पलना;
पड़े न चरण विपथ में,/राही !/बैठो श्रान्त न पथ में !

आँखों में भर मधुर प्रभाती,/चलो जहाँ मधु - निशा बुलाती;
बढ़ो प्रगति के रथ में,/राही !/बैठो श्रान्त न पथ में !

(११)

बैठो देख न छाया,/राही !
इस सुख में न कहीं सो जाओ,/स्वप्नों में न कहीं खो जाओ;
प्रतिपद मोहक माया,/राही !/बैठो देख न छाया।

इस छाया से धूप भली है,/खिलती मन की जहाँ कली है,
बनती कंचन काया,/राही !/बैठो देख न छाया।

इससे तो तन होगा कोमल,/इससे तो मन होगा कोमल;
खो दोगे जो पाया,/राही !/बैठो देख न छाया।

(१२)

क्यों तुम आज उदास,/राही ?
हे मुखकमल म्लान-सा लगता;/कौन व्यथा का दीपक जगता ?
अब तो प्रातः पास,/राही !/क्यों तुम आज उदास !

रात गई, मधुमय दिन आया,/दिशि-दिशि में प्रकाश है छाया;
हुआ तिमिर का नाश,/राही ! क्यों तुम आज उदास ?

यों ही होगी दूर व्यथा यह,/होगी भूली एक कथा यह;
भर मन में उल्लास,/राही !/क्यों तुम आज उदास !

(१३)

रहे अधर में गान,/राही !
जहाँ चलो, बाजे मधु-मुरली,/खिल जाये निस्पंद उर - कली;
हँसें कुंज, उद्यान,/राही !/रहे अधर में गान !

भूलो अपनी लय में सुख-दुख,/चले चलो निज पथ में सम्मुख;
पुलकित प्रतिपल प्राण,/राही !/रहे अधर में गान !

गाओ, बहे मधुर मधु-धारा,/टूटे जड़ जीवन की कारा;
हो आनंद महान,/राही !/रहे अधर में गान !

(१४)

तुम कैसे मतवाले,/राही ?

सुख के घूँट निरंतर पीते,/दुख के घूँट रह गये रीते !
सध न सके ये प्याले,/राही ?/तुम कैसे मतवाले ?

फूलों की माला में आगे,/शूलों की माला से भागे;
सह न सकोगे छाले,/राही !/तुम कैसे मतवाले ?

मधु का पान किया मुसकाते,/विष भी पियो, जियो मदमाते;
तब, तुम मेधावाले,/राही ?/तुम कैसे मतवाले ?

(१५)

मुझको बड़ी दूर है जाना।

सबने अपनी सीमा बाँधी, सब चलते हैं बचकर आँधी;
मेघों में, बिजली में धुलमिल मुझको चरण बढ़ाना;
मुझको बड़ी दूर है जाना।

सबके अपने लक्ष्य बने हैं, हैं विश्राम, पड़ाव घने हैं;
मेरा पथ उस ओर, अभी तक जिसका छोर न जाना;
मुझको बड़ी दूर है जाना !

× × ×

गाते पथ पर गीत मनोरम, जिनसे बढ़े शक्ति उत्साह,
जाते चले कुणाल धीर, गंभीर, अगम था शक्ति-प्रवाह !
जो जीवन में बढ़े इसी विधि, अधरों पर धरकर मुसकान,
पहुँचे सुख से वही छोर तक, उन पथिकों का सफल प्रयाण !

हो न कांचना दुखी, सुखी रखने को उसे दिवस औ' रात,
चिर - प्रसन्न रहते कुणाल, मुख पर खिलता-सा पुण्य प्रभात !
मिले जिन्हें जीवन में ऐसे बल - विवेक वर्धक सहचर,
श्रम में भी विश्राम उन्हें है, पथ भी उनको जैसे घर !

सुख भी बन जाता है दुख ही, एकाकी जीवन निस्संग !
दुख भी बन जाता सुख सुन्दर, कोई स्वजन रहे यदि संग।

१२. प्रत्यागमन

गये युग-युग बीत, अनजाने पथिक उद्भ्रान्त,
आज निकले मगध-पथ से युगल करुणा-कांत;
कांचना ने कहा, "कैसा है, समय का चक्र ?
कल खड़ा ऋजु वट जहाँ था, आज है वह वक्र !

ताम्र, लोहित और लाक्षा से अरुण थे पात,
आज जर्जर पत्र वे ही, वृद्ध तरु का गात !
भूमि में आ धँसी स्तर में कुछ जटायें घूम,
श्मश्रु श्वेत विकीर्ण, जैसे रहीं पदतल चूम।

वहीं कितने ही विहंगों ने बनाये नीड़,
गिरे कुतरे फल तले, कुछ पंख हैं आक्रीड़,
और वह मंदाकिनी है, वही स्वच्छ प्रवाह
पुण्य दर्शन मात्र से मिटती हृदय की दाह !

उठ रही है अर्चना की मधुर कंठ हिलोर;
स्नात पुरवासी चले जाते नगर की ओर।
किन्तु पाटलिपुत्र अब भी है बहुत कुछ दूर;
हो गया तन कंटकित, कितनी मधुस्मृति क्रूर ?

याद है प्रियतम ! यहीं पर कभी हम तुम संग—
बैठते, पहरों निरखते तरल-तुंग तरंग !
आम्रतरु अब भी वही, जिसके तले चुपचाप,
बैठते घड़ियों, मुखर बनता मधुर आलाप।

यहीं पर हमने बनाये स्वप्न के प्रासाद;
इन्द्रधनु-से उन दिनों की क्या न आती याद ?
पर नहीं है स्फटिक मंच, उजड़ गया उद्यान;
चलो, जी है देख लें वह आज फिर से स्थान !"

"कांचना, धूमिल घनों-सी स्मृति-पटल के बीच
खुल रही पिछली कथा है अश्रु-जल से सींच;
यह समय का स्रोत है, बहता अनंत अगाध;
कल नहीं, जो आज है, यह नियम, अचल, अबाध !

चलो, चलकर वहीं हम-तुम करें फिर विश्राम;
जीर्ण-शीर्ण भले रहे वह, किन्तु प्रिय निजधाम !"
आज युग-युग बाद वे दोनों पथिक उद्भ्रान्त—
आम्रतरु के तले पहुँचे, वन सघन एकान्त।

मंच था, जिस पर वहीं वल्मीक-शृंख-सुमेरु—
अब खड़ा था, मृत्तिका का मृदुल-पांडुर ढेर,
था जहाँ जलकेलि का शुचि स्नान-गृह का कुंज,
झुरमुटों औ' झाड़ियों के थे वहाँ अब पुंज !

लता-मंडप का दिखाता नहीं कोई पत्र,
द्वार प्रस्तर का अचल था किन्तु फिर भी तत्र।
कांचना ने कहा, "बैठो—यहीं पर, आ, पास,
यह अचल साथी पुरातन है, मधुर आवास।"

श्रान्त थे, मस्तक - भ्रकुटि के स्वेद-कण को पोंछ,
स्थिर वहीं दोनों हुए कटितट लँगोटी कोंछ।
"घाट का सोपान अब वैसा रहा न अटूट,
लगा है शैवाल पथ पर, गया ज्यों पथ छूट।

अब न पहले-सा यहाँ पर समारोह अपार,
धार लहराती जहाँ पर वहाँ आज कछार,
और वह मंदिर, जहाँ पर नित्य ही उठ प्रात
थी सतत देवार्चना, अभिवंदना की बात,

पड़ा नीरव और निर्जन, द्वार भी है बन्द,
सुन न पड़ता वैदिकों का एक भी अब छंद!
अब न वह तरणी हमारी दृष्टिगोचर आज,
समय का अंधड़ उठाकर चला ले ऋण ब्याज।

और—कुछ मंदाकिनी का भी विकृत-सा रूप,
अब न वह लावण्य है, वह छटा दिव्य अनूप;
निभृत निर्जन में पड़ा संन्यस्त - सा तट प्रान्त,
अब न अच्छा लग रहा, धूसर बना एकान्त।

कूप के हैं गिर गये दो स्तूप, वह है भग्न,
अब न जमघट है यहाँ, सब हैं कहाँ पर मग्न?"
उमड़ आईं भावनायें, मधुर - मधुर अतीत,
लगा बजने बीन में, बनकर मनोरम गीत।

गीत

है कहाँ आज मधु की बहार?

हैं कहाँ आज वे दिन अपने? जब आते थे दिन में सपने;
वे कहाँ रँगीले प्रहर गये, जो भरते थे दृग में खुमार?

किस ओर गये वे सुधा-पात्र ? अब तो दुर्लभ है बूँद-मात्र;
है सूनी पड़ी रंगशाला, किसने समेट ली वह बजार ?

है निर्जन-सा सरिता का तट, जिसमें होता व्याकुल जमघट;
निर्जन नीरव वासर आकर, ले जाते मन का मद उतार !

कुसुमित कदंब भी बना वृद्ध, पुष्पों से अब न रहा समृद्ध;
इसका यौवन भी ढरक चला, अब नहीं कोकिला की पुकार !

जीवन–वन में था समारोह, कितना था सबसे मधुर मोह ?
वे कहाँ गईं परिचित आँखें, जिनमें बहती थी स्नेह–धार ?

वे स्निग्ध-श्याम-सुरभित अलकें, माणिक-सी, मदिरा - सी पलकें,
देकर किसने ले लिया चषक, बन गया कृपण क्यों वह उदार ?

मेरे वैभव का इन्द्रचाप, तनता था जो बनकर अमाप,
किसने इसको कर दिया भंग, प्रत्यंचा भी दी है उतार ?

है कहाँ आज मधु की बहार ?

शैल-खंड अखंड पर फिर हो वहीं आसीन,
लगे कहने—"कांचना, है प्रकृति - धर्म अदीन;
लता, द्रुम, पल्लव, कुसुम, कृमि, कीट, कोटि पतंग,
क्या लड़ेंगे क्षीण दुर्बल ये समय के संग ?

सह सके जो नग्न तन पर, शीत - वर्षा - घाम,
खड़ा अविचल एक पद पर, धीर शांत प्रकाम,
वंदनीय, प्रशस्य है उसका अमिट अस्तित्व,
हो कठिन पाषाण-सा जिसका सुदृढ़ व्यक्तित्व !

लिये कंथा स्कंध पर, औ' दूसरे कर बीन,
कांचना झोली लिये औ' कुछ उपलियाँ बीन,

चल पड़े दोनों पथिक पथ पर पुनः अश्रान्त,
छोर ही जिसका न जाना, वे चले उस प्रान्त !

इधर पाटलिपुत्र में थे वृद्ध बने अशोक;
किन्तु शासन था व्यवस्थित, सुखी प्रमुदित लोक;
धुल चुका था स्मृति-पटल से पुत्र का प्रिय चित्र,
कांचना की रेख - कंचन भी अदृष्ट पवित्र !

लोक - सेवा का निरन्तर बढ़ रहा अनुराग;
वृद्ध नृप के हृदय में था जग चुका वैराग !
हो चुकी थी विभव - वैभव से असीम विरक्ति;
कामना थी मुखर, लें काषाय, तब हो तृप्ति !

१3. पुनर्मिलन

आज मधु-ऋतु का मनोरम प्रथम प्रथम प्रभात;
लिये अभिनव गंध, मधु, सौरभ, लता—तृण - पात।

हो चला था शिथिल कुछ-कुछ मलय मधु के भार,
और कलिका में अभी कुछ - कुछ सुरस संचार।
दूर्वादल में अभी कुछ - कुछ हरा संभार,
और कुछ - कुछ लगा होने, विपिन का शृंगार।

कोकिला भी कूक देती एक ही दो बोल,
एक ही दो घूँट भरती सुरस के अनमोल !
झर रहे कुछ पत्र तरु के, कुछ अभी संलग्न;
यह पुरातन और नूतन का प्रसंग अभग्न !

इन नवल दल का विमोहक और ही कुछ वर्ण,
ताम्र कुछ, कुछ रजत-लोहित, और कुछ ज्यों स्वर्ण !
सांध्य - अंबर - से अरुण कुछ, लाख-से कुछ लाल,
नील, पीत, विशुभ्र कुछ, कुछ श्याम ज्यों घन-माल।

कुछ बने काषाय, कुछ भूरे, हरित छविधाम,
कुछ अभी नवजात खग के पंख - से अभिराम।
और सरसी में लगा खिलने मुकुल जलजात;
स्वच्छ दिखलाने लगे वन-विपिन, तरु के पात।

हरसिंगार खिला, खिली शेफालिका, कचनार;
स्वप्न पलकों से सिमिट जाने लगे उस पार;
एक वर्ण, द्विवर्ण, औ' त्रयवर्ण से परिपूर्ण—
पत्र कुछ, कुछ इन्द्रधनु-से सप्तरंगी पूर्ण।

शीत कुछ, कुछ ग्रीष्म, कुछ युग का समन्वय मंद —
अंग को था स्पर्श देता मलय भर मकरंद !
रात्रि के बुझने लगे जब मंद शीतल दीप,
दिग्वधू जाने लगी, छिप अंतरिक्ष समीप।

प्रात के पिछले प्रहर की मूकता को चीर,
आज कैसी रागिनी यह बज उठी गंभीर ?
गंधवह जब चला लेकर प्रात - प्राण - प्रवाह
और भी होकर विमोहन हुआ स्वर - प्रस्तार।

लगे पीने तृषितकंठ अमृत - प्रवाह अशोक;
हुए विस्मृति में निमग्न, समाधिलय, गतशोक !
तान में कैसा भरा था विकल-सा आह्वान !
स्वयं आकर्षित, निमंत्रित, तृप्त होते प्राण !

मूर्च्छना में थी छिपी कोई कसकती आह;
तड़प उठता था हृदय सुन, विकल बनती चाह!
एक अन्तर्वेदना - सी कसकती अनजान,
दूर हो कोई, निकट ज्यों कर रहा आह्वान!

एक मूक रहस्य का होता करुण विस्तार;
सिंधु की लहरें बुलातीं सिंधु के उस पार।
गूँजती उर में निरंतर एक करुण पुकार,
बन अनादि, अनंत, टकराती इधर सौ बार।

गा रहे थे अतिथि-गृह में ये प्रभाती तान;
और कोई नहीं, वे ही दो पथिक अनजान,
जो कि पाटलिपुत्र में टिक रात, होते प्रात,
बढ़ रहे थे आज आगे युगल, पथ अज्ञात!

राजमंदिर से हुआ इनका अचिर आह्वान;
पहुँच चर ने कहा--आज्ञा का करें सम्मान!
कांचना आगे चली कर लिये भिक्षा-पात्र,
और पीछे चले भिक्षु कुणाल जर्जर - गात्र।

बँधे जिसके दो सिरों में वस्त्रखंड मलीन,
और सूखे अश्रु जिसके काष्ठ में प्राचीन,
भिक्षुकों के दूसरे प्रतिबिंब - से अम्लान,
एकतारा बीन - कर में जीर्णशीर्ण महान।

कठिन रेखायें छिपाये, विगत आँसू - हास,
लिखा आनन में निठुर निर्वास का इतिहास;
नेत्र क्या थे? अंधकूप, उपत्यका के गर्त,
कुछ न पढ़ सकते जहाँ इस विश्व के आवर्त।

लिये लकुटी हाथ में, पथ टोहते, पग नाप,
चले भिक्षु कुणाल कुछ मन गुनगुनाते आप;
राजमंदिर में गये लाये युगल सहमान;
कहा नृप ने, "आइए हे मगध के मेहमान!"

"देव जय हो"–कह चरणतल पर हुए प्रणिपात;
किया दोनों भिक्षुकों ने नमन हो नतमाथ।
"कहाँ पर तुमने किया संगीत का अभ्यास?
कौन गुरु, गायक! तुम्हारे, रहे जिनके पास?"

"आर्य! जय हो, जानता कुछ भी नहीं मैं राग,
माँग खा लेता किसी विधि, बुझा बड़वाआग।"
"विनयशील नितांत हो तुम, राज्यविधि से विज्ञ;
नामधेय गुणी तुम्हारा जानते क्या विज्ञ?"

"नाम क्या? औ' धाम क्या? पथ के पथिक हम दीन;
हम अनाम-अधाम हैं अब, पूर्व - परिचयहीन।"
"सत्य है, भिक्षुक! पथिक हो, किन्तु इससे पूर्व
कौन थे तुम, पुत्र किसके? कहो वृत्त अपूर्व।"

इधर रह-रहकर हृदय में नृपति के अनजान––
बोध होता था कि इनसे हो कभी पहचान;
आ रही थी कभी रह-रह प्राण में यह बात,
कभी देखा हो इन्हें, ये आत्मज-से ज्ञात।

ढूँढ़ते थे अतल में कोई अनूपम रत्न;
ग्रंथि खुलती थी नहीं, थे व्यर्थ होते यत्न!
तीव्रतम दे दृष्टि अपनी, उन्हें पुनः विलोक,
लगे उत्तर परखने अपलक अधीर अशोक।

"महाराज ! खड़ा चरणतल नर बना कंकाल,
माँगता जो भीख गृह-गृह, आज बन कंगाल !
भाग्य का वह व्यंग्य है, वह दुःख का इतिहास;
क्या करेंगे जानकर, उसका निठुर निर्वास !

मगधिपति, श्री मौर्यकुलभूषण, भुवन - आलोक,
पुत्र यह उनका कि जिनका नाम नृपति अशोक!"
गिरी विद्युत्-सी सभा में, सब अचेतन मौन,
जड़ित, चकित, थकित, अचल थे, बना स्तंभित भौन!

चेतना - सी खो गई, यों हर्ष - व्याकुल प्राण,
हो गये मूर्च्छित वहीं पल भर अशोक महान !
जब हुए प्रकृतिस्थ, संभ्रम बढ़े मत्त अशोक,
उर लगाकर पुत्र को, वे हो गये गतशोक।

मगधपति के अंक में सुत हो गया यों लीन,
नीड़ पा जैसे श्रमित खग हो सुखी स्वाधीन।
कांचना थी दूर, विगलित लाज से, भूचीर—
चाहती थी मुख छिपा ले, थी व्यथा गंभीर।

कहा नृपवर ने, "न हो संकोच से अब दूर;
राजरानी ! दूर रह तुम बनो मत अब क्रूर !"
कर सके इस मधु-मिलन को शब्द में जो बंद,
वह न कवि जन्मा अभी तक, वह न अब तक छंद !

●

१४. क्षमा-दान

जब खुला सब भेद, उर में बढ़ा अति अवसाद !
हुए क्रुद्ध अशोक इतने, हुआ एक प्रमाद:
अधर कंपित, नेत्र लोहित, भृकुटि बंकिम रंग;
अट्टहास किया भयानक, देख विधि का व्यंग !

"है कहाँ कुलघातिनी, कुलनाशिनी, वह पाप ?
मौर्यकुल के कीर्तिकेतन की अमित अभिशाप !
दी अरे जीवंत दंपति को अनंत समाधि;
मेट दी कुल से युगों की ख्याति की चिरव्याधि !

स्वयं ही विधि की विधात्री बनी विधि को मेट,
राजकुल भिक्षाचरण से लगा भरने पेट ।
आज करना युगों का ज्वालामुखी यह शान्त,
है कहाँ यमदूतिनी वह, काल, व्याल, कृतान्त ?

कहाँ, लाक्षागृह सजाने चली जो निर्धूम ?
क्षार करने मौन ही जलती चिता में झूम ?
कहाँ लाक्षागृह - विधात्री, कूटिनी, पैशाच ?
राक्षसी अप्सरि बनी करती रही रस-नाच !

धूमकेतु, अशनि, कहाँ वह राहुकुल अंगार ?
लिये विष के अधर मेरी पूतना अनजान !
अधर में मधु ले, हृदय में कालकूट कठोर,
कूटिनी थी महारानी ! भाग्यहत हा ! घोर ।

त्रस्त जिसके भ्रकुटि से हों अंग, बंग, कलिंग,
भस्म करने चली उसको एक आज स्फुलिंग।
आ ! मुकुटमणि शीश धर दूँ, राज्यदंडोत्सर्ग,
राज्य कर संहारिणी तू, भस्म कर दे स्वर्ग !

आज ही सम्राट के उर पर पड़ा आघात !
वह पराजित, पददलित है, है पतित, प्रणिपात !
तोड़ दूँगा किंतु तेरा भी जटिल छल, दंभ;
आज अंतिम सर्ग का होगा मधुर विष्कंभ !

ले कमललोचन, लिये ये हाथ में नवजात,
बुझा ले तृष्णा हृदय की, सुधा से हो स्नात।
कामुकी ! पशुवृत्तिके ! चांडालिनी ! कूटज्ञ !
खोल दीं आँखे, अभी तक मैं बना था अज्ञ !

आज अपनी नग्न असि का करूँगा शृंगार;
शान्त युग से, पुनः उमड़े आज शोणित धार !
बने अकलंकित, कलंकित का कलेवर चीर,
स्नान शोणित में करे रणनर्तकी गंभीर !

शांत हो तब हृदय का यह रोष — उल्कापिंड !
सुखी ग्रहमंडल बने, शीतल सकल ब्रह्मांड !
चल इधर पूर्णहुती रण- यज्ञ की ! बलिदान !
है किधर प्रच्छन्न तू, ओ गुप्तचर की तान !

करूँगा विच्छेद जर्जर अंग औ' प्रत्यंग,
तृप्त प्रतिहिंसा तभी होगी, प्रशांत सुढंग !
मूर्च्छिता, पतिता, च्युता, हतचेतना, मृतप्राण !
गिरी सम्राज्ञी धरा पर– "त्राण ! हा हा ! त्राण !"

कांचना निस्तब्ध, क्षुब्ध, चली व्यथित उस ओर;
वदन फेनिल, नेत्र धूमिल, था न दुख का छोर!
सभासद, मंत्री, सभी थे, राजमंदिर मौन;
हिम गिरा इतना, सभी जड़, बोलता फिर कौन?

हो रहे थे रोषदीप्त, कठोर, क्रूर अशोक;
इधर राजकुमार अपने सके भाव न रोक!
"महाराज! सुनें इधर, कुछ तो कहूँ मैं आर्य!
एक भिक्षा आज दें, निज पुत्र - भिक्षु, विचार्य!"

हुए शांत, प्रशांत नृपवर, कहा — "तुम्हें कुणाल,
क्या अदेय रहा? सभी कुछ तो तुम्हारा लाल!"
"पुत्र के हित राजमाता को मिले यह दंड,
कौन होगा और इससे पाप अधिक प्रचंड?

महाराज! प्रथम हमारा शीश कर लो छिन्न,
फिर जननि का शीश होगा कंठ से विच्छिन्न!
या विनीत भिखारियों को आज दो यह दान,
राजमाता को करो, प्रभु! पिता! क्षमा - प्रदान।"

गईं टकरा रोष की लहरें कठिन तट-प्रान्त,
लौट आईं उच्छ्वसित, फेनिल, गँभीर, प्रशान्त।
व्यथित, थकित अशोक आगे बढ़े बस चुपचाप!
"धन्य! वत्स कुणाल, तुमने ले लिया अभिशाप!

है यही इच्छा तुम्हारी, तो रहे न अपूर्ण,
हो तुम्हें संतोष जिससे, हो वही संपूर्ण!
दुर्दिनों के मेघ से था घिरा मौर्याकाश;
एक कुल - नक्षत्र से छाया अनंत प्रकाश!"

हो गईं अगणित आँखें बन्द; सह न वे सकीं अतुल आनंद।
'जयति युवराज कुणाल महान!'– गूँजते थे अंबर में छन्द!
दिखाई पड़ा अलौकिक दृश्य; वही लख सब हो गये विमुग्ध;
लौट आई आँखों में ज्योति; देखते थे कुणाल अब मुग्ध!

हर्ष की उमड़ी और हिलोर, हुई जनता सुख में तल्लीन;
कांचना पुलकित चकित असीम, आज सब विधि वह बनी अदीन!
हुआ वितरित मणियों का दान, आज था हुआ लोक-कल्याण;
देख तपसी के तप को पूर्ण, हुए जैसे प्रसन्न भगवान!

१५. राज्याभिषेक

आज है जन - जन में उत्साह; हर्ष की मिलती कहीं न थाह;
सभी जनता उत्सव में लीन; आज बहता आनंद-प्रवाह!
आज उमड़ी आती है भीर; उड़ रहा केसर कनक अबीर;
सजे हैं मङ्गल-घट गृहद्वार; आज आँखें हो रहीं अधीर!

जगा है पाटलि का सौभाग्य; तिरोहित हुए आज सब पाप;
मौर्यकुल नभमण्डल में दीप्त बालरवि से कुणाल हैं आप!
आज मणि-मणिक का रच चौक, कर रहे पूजन विविध प्रकार;
वेदध्वनि करते वैदिकवृन्द, ऋचायें छूतीं गगन अपार!

आ गये तक्षशिला के लोग निमंत्रण पाकर, मुदित अपार;
मिलेंगे इनको बिछुड़े नाथ, उन्हें परिजन, पुरजन, परिवार!
आज लौटा उनका चैतन्य, बिदा में जो थे बने अचेत;
देखने को कुणाल मुखचंद्र, बढ़ा जनगण-जलनिधि समवेत।

आज लज्जा-विगलित हो, मौन घूमती सम्राज्ञी लाचार;
अधर में कभी नाचती हँसी, नयन में कभी अश्रु दो-चार।
चेदि, कुरु, वृजि, कलिंग, पांचाल, राष्ट्र, जनपद, अगणित साभार,
आज सुन राज्यतिलक का पर्व हर्ष से लाये निज उपहार!

आज अविकल दरिद्रता दूर, कांचना बन लक्ष्मी की मूर्त्ति,
मगध के सूने मंदिर बीच चली करने अभाव की पूर्ति!
आज कहते कुणाल, "क्यों प्रिये! धर्म का मर्म हुआ कुछ ज्ञात?
कहा था—आता स्वर्ण प्रभात, जहाँ भी हुई अँधेरी रात!

मिट गये अब तो मन के शूल; नहीं की हमने कोई भूल;
आज, जितने भी थे प्रतिकूल, हुए प्रभु-करुणा से अनुकूल!"
"देव! सच था मेरा अपराध, सकी मैं संयम अधिक न साध;
आपका निर्मल सदा विवेक, न अपना पाई उसका आध!"

आ गये हर्षित वहीं अशोक, लगे कहने यह उनको रोक—
"न मङ्गल का मुहूर्त टल जाय, कहाँ थे तुम? हम रहे विलोक।"
कांचना हुई लाज से लाल; प्रणत चरणों में विनत कुणाल;
"राजमन्दिर में जायें देव," कहा, "हम आते हैं तत्काल!"

राजमन्दिर था सजा अपार, न वैभव का मिलता था छोर;
मौर्यलक्ष्मी ही हो साकार, आ गई जैसे गृह की ओर!
विजय के रत्नहार, केयूर, मुकुटमणि, कंकण, कुंडल लोल—
पहनकर मागध आज सगर्व रहे थे राजभवन में डोल!

आज कारागृह के सब द्वार कर दिये नृपवर ने उन्मुक्त;
हर्ष-मङ्गल-उत्सव के बीच न जिससे हो कोई भी त्यक्त!
राजमन्दिर में सबके बीच उठे हर्षित अशोक भूपाल,
लिये निज कर में स्वर्ण किरीट, कि पहनावें कुणाल के भाल!

और सम्राज्ञी तिष्य प्रसन्न, हुई वाणी जड़, सुख से मूक;
मूर्त्ति-सी खड़ी अचल निर्वाक, हो रहे प्राण आज सौ टूक!
"क्षमा माँगूं कैसे मैं आज? किया मैंने हा, कितना पाप?
देवदुर्लभ सुत को पा गोद, दिया था मेंने इनको शाप!

क्यों न यह धरा हुई सौ खंड? उसी में धँस होती मैं चूर्ण;
आह! विधि ने मेरे ही व्याज, कौन सी इच्छा की निज पूर्ण!"
बढ़ी जब तिष्य लगाने अंक, झुके पदतल कांचना-कुणाल;
बह उठी नयनों से जलधार, न रानी निज को सकी सँभाल!

कहा, "चिरजीवो, देवी, देव! क्षमा दो मुझ पापिन को आज।"
नयन से उमड़ा करुण प्रवाह, कि डूबा विह्वल सकल समाज!
"न जननी इसमें था कुछ दोष, इसी विधि था विधि को संतोष;
न होता तप मेरा यों पूर्ण, न भरता सुख से इतना कोष?

शाप में छिपा हुआ वरदान, यही प्रभु का रहस्य है गूढ़;
रात में बैठा छिपा प्रभात, समझ पाते कब उसको मूढ़?
मिला जो गौरव मुझको आज, तुम्हारा ही वह चरणप्रसाद;
न लघुजन पाते कोई कीर्त्ति, बिना गुरुजन के आशीर्वाद!

तुम्हारा शाप बना वरदान, आज छाया दिशि-दिशि कल्याण;
दुःख मत करो, जननि तुम, आज, हर्ष से पुलकित उर-उर, प्राण!"
हो गया राज्यतिलक संपूर्ण, आज जन-जन में क्षण-क्षण हर्ष;
हो रहा नृत्य, वाद्य, संगीत, हुआ रस का उत्कर्ष प्रकर्ष!

●

१८. काषायग्रहण

अभी कल राजतिलक की धूम, उमड़ता था उत्सव उत्साह,
मौर्यकुल का जैसे हो हर्ष बह रहा बनकर पुण्य प्रवाह;
दुर्दिनों के युग के पश्चात खिली थी शरच्चंद्रिका रम्य;
मिला इतना आनंद अपार, हो गये बंदीगण भी क्षम्य !

किसी के उर में रहा न शोक, सभी जैसे बन गये अशोक;
राज्य-अभिषेक मधुर था पर्व, हुए आनंदित सभी विलोक।
रंक के गृह में धन की राशि हुई एकत्रित, रहा न दीन;
मिल गया उसको पारावर, विकल थी जो पानी बिन मीन !

मरुस्थल में उग आये पद्म, बहा मलयज लेकर आमोद;
अन्न की वर्षा कर आपूर्ण, इन्द्र ने भरी अवनि की गोद !
युगों के जप, तप, व्रत के बाद एक दिन होता है यह प्राप्त,
जहाँ सुख छता अंबर छोर, और दुख होते सभी समाप्त !

किन्तु यह विधि का कौन विधान, नियति का रे ! यह कैसा व्यंग ?
हर्ष की बेला पल दो-चार शोक का आता पुन. प्रसंग !
विश्व का परिवर्तन ही मूल ? हो गई निश्चय विधि से भूल;
नहीं मानव के सुख का फूल, कभी पल में बन जाता धूल।

उदय होता जो पुण्य प्रभात वही करता दिन भर आलोक;
प्राण, सुख, सुरभि. शक्ति, उत्साह श्वास में बहते, चिंता रोक !
किन्तु दो क्षण ही सदा प्रभात, दोपहर, फिर आ जाती रात;
हर्ष के पल केवल दो-चार, दुःख का छोर न होता ज्ञात !

न बुझने पाये गृह के दीप, हरित अब तक थी बंदनवार;
मांगलिक गीतों की मृदु तान, गूँज उठती थी बारंबार!
दूसरे दिवस राजप्रसाद हुआ जब सभासदों से पूर्ण,
विज्ञ, सामन्त, प्रधानामात्य कर रहे थे वैभव संपूर्ण!

राज्यसिंहासन पर आसीन कांचनादेवी, आर्य कुणाल;
जटित माणिक-मणियों से मुकुट, झुकाते थे नृप पदतल भाल!
अगरु औ' धूम लहरियाँ चूम' रही थीं पुलक बनी-सी घूम,
सभी के आनन में आनंद झलकता था, आँखों में झूम।

तभी आ गये महान् अशोक, और सम्राज्ञी भी थीं साथ;
आज दोनों तन पर काषाय, झुके थे दोनों ही के माथ!
देख तन पर गैरिक परिधान, किसी को हुआ न कुछ भी ज्ञान;
भोग के समय योग का ग्रहण, आज असमय कैसा आह्वान?

"सभासद! मंत्री! सभ्य विशिष्ट!" सुदृढ़ स्वर बोले धीर अशोक,
"आज मेरा आनंद असीम, नृपति-जनता-आनंद विलोक।
हो गये सभी मनोरथ पूर्ण, रही है साध न कोई शेष;
उचित अब यही करें सब त्याग, देह पर हो काषाय विशेष!"

सभी जनता का नव उत्साह बन गया क्षण भर को उच्छ्वास;
हृदय में हुआ एक आघात, हो गई सबकी कान्ति उदास।
लगे कहने अशोक गंभीर, "प्रतीक्षा में मैं था दिनरात,
किसी को दे उत्तरदायित्व, चलूँ में वनपथ में अज्ञात।

युगों में आया वह संयोग, सका जब मैं यह भार उतार;
और पाकर कुणाल सम्राट, आप भी सब हैं सुखी अपार;
मिले अनुमति मुझको यह आज, ग्रहण मैं करूँ अभी संन्यास,
देह पर हो गैरिक काषाय, प्राण में आत्मबोध-विन्यास!

युद्ध कर, जनपद अगणित जीत, गया हो फिर मन जैसे हार;
विभव-वैभव में कहीं न तृप्ति, तृप्ति है जहाँ आत्म-उद्धार !
न जाने कितने मैंने पाप, न जाने कितने छल औ' छद्म,
किये होंगे अब तक अनजान पूर्ण करने को पाटलिसद्म;

आज वृश्चिक-दंशन-से वही रहे जैसे प्राणों को छेद;
मानवों का महान संहार बन रहा अंतरतम में खेद।
आप सब क्षमा करें अपराध, हो गई जो भी हमसे भूल;
जानकर जन-सेवक ही मात्र, रहें नव नृप पर सब अनुकूल !''

सभी की वाणी में था मौन, न कोई भी स्वर उठा अजान;
आँख की भी भाषा थी मूक, हृदय उद्वेलित—आकुल प्राण !
सभी के मुख पर था अवसाद, सभी के मुख पर एक अभाव;
किन्तु जाने क्या पड़ा प्रभाव ! न कोई व्यक्त कर सका भाव।

"आप यह क्या करते हैं, देव ! आप यह क्या करते हैं आर्य !
आप जायें न कहीं भी, नाथ ! अभी यह तो है प्रश्न विचार्य।''
गया अगणित कंठों में गूँज। एक ही प्रश्न, एक ही भाव;
"आप जायें न कहीं भी, देव ! आपका ही यह पुण्य-प्रभाव !''

"यही निर्णय है अंतिम बार, न कोई भी हठ होगा पूर्ण !''
देख मगधेश्वर का संकल्प, सभी की थी उत्सुकता चूर्ण !
झुके नृप साश्रु महान अशोक, झुकी सम्राज्ञी तिष्य अधीर;
गये जन शोक-सिंधु में डूब, बहा अविरल आँखों से नीर !

खड़ी जड़, बन पत्थर की मूर्त्ति, तिष्य सम्राज्ञी, आर्त अपार !
"क्षमा !'' भर कह पाई, आकंठ उमड़ आया मानस का ज्वार !
किसी में रहा न साहस, शक्ति, देखकर निश्चित दृढ़ संकल्प;
बीतते थे ये पल दो-चार, व्यथा के ज्यों मन्वंतर, कल्प !

लगे करने अशोक प्रस्थान, खड़े हो गए सभी चुपचाप;
त्याग सिंहासन, बढ़े कुणाल, बने आग्रह की प्रतिमा आप।
किन्तु कुछ वे भी सके न बोल, कर रहे थे दृग उधर निषेध;
आज था अचल आत्मसंकल्प, गया जो सब प्राणों को भेद!

बढ़े आगे अशोक सम्राट आज धरकर भिक्षुक का वेश;
अतुल थी मुखमंडल पर शांति, कहीं चिंता की रही न रेख!
त्याग से बन तपतेज-निधान, कर रहे हैं अशोक प्रस्थान;
सभी के श्रद्धा से नत माथ, सभी के शांत, अचंचल प्राण!

सभी बन शिल्पकला की मूर्ति, कर रहे नीरवता की पूर्ति;
न कोई जैसे हो सप्राण, गई सबकी चेतनता-स्फूर्ति!
भरा था आँखों में बस नीर, कंठ थे बने सभी के मूक;
न हिलते अधर, बने थे अचल, उठ रही थी अंतर में हूक!

कर रहे थे ज्यों प्रतिपद पार द्वार, आँगन, प्रकोष्ठ, प्रासाद,
बढ़ रहा था करुणा का वेग, हुए कुछ मूर्च्छित, दुखद विषाद!
गये प्रतिपद पर लिख आख्यान, लिखे हैं जिनमें आँसू, हास;
अमिट वे चरण-चिह्न हैं आज, छिपाये आर्यों का इतिहास!

× × ×

गूँजता था बाहर संगीत,
प्राण-मन जिससे बने पुनीत;
लगे नव मधु करने सब पान,
बज रहा था वीणा पर गीत!

गीत

करुणा की वर्षा हो अविरल !

संतापित प्राणों के ऊपर
लहरे प्रतिपल शीतल अंचल।

मलयानिल लाये नव मरंद !
विकसें मुरझाये सुमनवृन्द;
सरसिज में मधु हो, मधुकर के
मानस में मादक प्रीति तरल।

कोकिल की सुन कातर पुकार !
आवे वसंत ले मधुर भार;
कानन की सूखी डालों में
फूटें नवदल कोमल - कोमल।

काली रजनी का उठे छोर,
लेकर प्रकाश - मधु हँसे भोर;
अवनी के आँगन में ऊषा
बरसावे मङ्गल कुंकुम जल !

करुणा की वर्षा हो अविरल !

प्रभाती

[राष्ट्रीय जागरण के चलचित्र]

सूचना

आज हमें उस काव्य के चमत्कार की आवश्यकता नहीं, जो पण्डित-मंडली का ही अनुरंजन कर सकता है, जिसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों का ऊहापोह देखकर प्रतिभा की प्रखरता पर हम प्रशंसा के पुल बाँधते आए हैं। काव्य के चमत्कार का युग गया। आज तो हमें अपने उन कोटि-कोटि भाई-बहिनों के भावों को संसार के समक्ष रखना है, जिसे वे स्वयं नहीं रख सकते। कोटि-कोटि मूक पंगु मानवों को हमें वाणी एवं गति प्रदान करनी है।

यह देश का सौभाग्य है कि रहस्यवाद या छायावाद के आकाश से उसका कवि धरती पर उतर आया है। उसने अपनी भूल स्वीकार की, यह तो उसकी महत्ता है। आज न अदृष्ट के दर्शन में उसे सुख मिलता है, न प्रेमिका की प्रतीक्षा में ही। आज उसके कंठ से भी युग-वाणी का प्रसार हो रहा है।

'कस्मै देवाय हविषा विधेम' का उत्तर और हो ही क्या सकता है? इसका एकमात्र उत्तर यही है कि शताब्दियों से उपेक्षित, तिरस्कृत एवं बहिष्कृत जनता के लिए हम लिखें, और उसकी भाषा में लिखें, जिसे वह समझ सके। आज हमारे राष्ट्र की माँग यही है कि हम जनता के लिए साहित्य-सृजन करें।

इस दृष्टि से प्रारम्भ ही से 'बहुजनहिताय' लिखने की मेरी चेष्टा रही है। जानबूझकर मैं कल्पना के पंखों पर चढ़कर हिम-शृंगों पर नहीं उड़ा, क्योंकि मेरा पाठक उतनी दूर न जा सकता था। काव्य की लक्षणा एवं व्यंजना का मोह भी मुझे छोड़ना पड़ा। अभिधा से ही मैंने अपना काम चलाया। कविता न लिखकर मैंने तुकबन्दी लिखना स्वीकार किया; और यदि इससे वे रचनाएँ जनता के हृदय तक पहुँच सकी हैं, तो मैंने अपने प्रयत्न को असफल नहीं माना।

'प्रभाती' उसी प्रयास का प्रतीक है। आशा है, पाठक मेरी यह अकिंचन भेंट स्वीकार करेंगे।

प्रयाग
२ सितम्बर, १९४३

सोहनलाल द्विवेदी

भावों की रानी से

कल्पनामयी ओ कल्यानी ! ओ मेरे भावों की रानी !
क्यों भिगो रही कोमल कपोल ? बहता क्यों आँखों से पानी ?
कैसा विषाद ? कैसा रे दुख ? सब समय नहीं है अंधकार !
आती है काली रजनी, तो दिन का भी है उज्ज्वल प्रसार !

अधरों पर अपने हास धरो, बाधाओं का उपहास करो,
जीवन का दिव्य विकास धरो, तुम यों न निराशा-श्वास भरो !
विश्वास अमर, साधना सफल, सत्कर्मों से शृंगार करो;
धुँधली तस्वीरें खींच - खींच मत जीवन का संहार करो !

वेदों - उपनिषदों की धात्री ! चिर-जीवन, चिर-आनंद यहाँ;
मंगल चिंतन, मंगल सुकर्म, है जीवन में अवसाद कहाँ ?
हे आर्यों की गौरव विभूति ! तुम जीवन में मत अमा बनो;
कल्याण-अमृत की वर्षा हो, तुम आशा की पूर्णिमा बनो !

तुम जगद्धात्रि ! जग कल्याणी ! तुम महाशक्ति ! सोचो क्या हो ?
कविते ! केवल तुम नहीं अश्रु, जीवन में जय की आत्मा हो !
तुम कर्मगान गाओ, जननी ! तुम धर्मगान गाओ, धन्ये !
तुम राष्ट्र-धर्म की दीक्षा दो, तुम करो राष्ट्र - रक्षण पुण्ये !

गाओ आशा के दिव्य गान, गाओ, गाओ भैरवी तान;
युग-युग का घन तम हो विलीन, फूटे युग में नूतन विहान !
कल्मष छूटे अंतरतम का, गाओ पावन संगीत आज;
जागे जग में मंगल - प्रभात, गाओ वह मंगल - गीत आज !

कवि से

ओ नवयुग के कवि ! जाग, जाग !

प्राचीन - पुरातन कलाकार वैभव - वंदन में हुए लीन;
महलों को तज झोपड़ियों में कब उनके मन की बजी बीन ?
यह गुरु कलंक का पंक मेट, तू बन शोषित का अभयगान;
नंगा, भूखा, प्यासा समाज देखता राह तेरी, महान !
नवजीवन के रवि ! जाग ! जाग !
ओ नवयुग के कवि ! जाग ! जाग !

है एक ओर पीड़ित जनता; दूसरी ओर साम्राज्यवाद;
गा जनगण के जागरण - गीत, टूटे जिससे युग का प्रमाद !
पिस गई हमारी रीढ़ आह ! ढोया है अब तक राज्य भार;
बल का संवल दे दुर्बल को, वह उठे आज निज को निहार !
नवचेतन की छवि ! जाग ! जाग !
ओ नवयुग के कवि ! जाग ! जाग !

गाओ, मेरे युग के गायक ! वह महाक्रान्ति का अभयगान,
झुलसें जिसकी ज्वालाओं में अगणित अन्यायों के वितान।
रूढ़ियाँ, अन्ध - विश्वास घोर, रे ! जड़ जीवन का तिमिर चीर !
आलोक सत्य का फैला दे, बह चले मुक्त जीवन - समीर !
ओ नव बलि की हवि! जाग! जाग !
ओ नवयुग के कवि ! जाग ! जाग !

उमंग

उठ - उठ री, मानस की उमंग !
भर जीवन में नव रक्त - रंग !

उठ सागर की गहराई - सी, पर्वत की अमित उँचाई - सी,
नभ की विशाल परछाईं - सी, लय हों अग - जग के रंग - ढंग !
उठ - उठ री, मानस की तरंग !

छा जीवन में बन एक आग, अनुराग रहे या हो विराग,
चमके दोनों में आत्मत्याग; जल - जल चमकूँ मैं वह्नि-रंग !
उठ-उठ री, मानस की उमंग !

प्रण में मरने की जगा साख, रण में मर कर में बनूँ राख,
उठ पड़ें राख से लाख-लाख शर से भर कर खाली निषंग !
उठ - उठ री, मानस की उमंग !

प्रभाती

किस रोषी ऋषि का क्रुद्ध शाप है किये बंद स्मृति-नयन छोर ?
जागो, मेरे सोनेवाले ! अब गई रात, आ गया भोर।
देखा तुमने निज आँखों से, जब थी जगती में सघन रात,
गूँजे वेदों के गान यहाँ, फूटा जग में जीवन-प्रभात !

देखे तुमने निज आँखों से कितनों ही के उत्थान-पतन;
इतिहास विश्व के द्रष्टा तुम, स्रष्टा कितनों के जन्म-मरण !
देखे तुमने निज आँखों से सतयुत, त्रेता, द्वापर, समस्त,
कैसे कब किसका हुआ उदय, कैसे कब किसका हुआ अस्त !

हो गया सभी तो नष्ट-भ्रष्ट; अवशिष्ट रहा क्या यहाँ हाय ?
विस्मरण हो रहे दिवस-पर्व, संवत्सर भी विस्मरणप्राय !
ईंटें, पत्थर, प्राचीर खड़े; क्या और पास में है विशेष ?
देखो अब तो ध्वंसावशेष, देखो अब तो भग्नावशेष !

किसका इतना उत्थान हुआ, औ' किसका इतना अध:पात ?
हे महामहिम ! क्या और कहूँ, क्या तुम्हें और है नहीं ज्ञात ?
बोलो, वे द्रोणाचार्य कहाँ ? वह सूक्ष्म लक्ष्य-संधान कहाँ ?
है कहाँ वीर अर्जुन मेरा ? गाँडीव कहाँ है, बाण कहाँ ?

गीता-गायक हैं कृष्ण कहाँ ? वह धीर धनुर्धर पार्थ कहाँ ?
है कुरुक्षेत्र वैसा ही, पर, वह शौर्य कहाँ, पुरुषार्थ कहाँ ?
हैं कहाँ महाभारतवाले योधा, पदातिगण सेनानी ?
गुरु, कर्ण, युधिष्ठिर, भीष्म, भीम, वे रण-प्रण-व्रण के अभिमानी ?

हैं कालिदास के काव्य शेष, विक्रमादित्य का राज कहाँ ?
मेरा मयूर सिंहासन वह, मेरे भारत का ताज कहाँ ?
वह चन्द्रगुप्त का राज कहाँ ? अपना विशाल साम्राज्य कहां ?
वे महा-क्रान्ति के संचालक गुरुदेव कहाँ, चाणक्य कहाँ ?

वैभव-विलास के दिवस कहाँ ? उल्लास-हास के दिवस कहाँ ?
है कहाँ हर्षवर्धन मेरा ? अंकित केवल इतिहास यहाँ !
हैं यत्र-तत्र बस कीर्ति-स्तंभ, सम्राट अशोक महान कहाँ ?
दुर्जय कलिंग के मद-ध्वंसक, शूरों के युद्ध-प्रयाण कहाँ ?

प्राचीरों में बंदिनी बनी बैठी है सीता सकुमारी;
गल रहे कुसुम से अंग-अंग, दृग से अविरल धारा जारी !
धन्वाधारी हैं राम कहाँ ? वे बलधारी हनुमान कहाँ ?
है खड़ी स्वर्ण लङ्का अविचल, अपमानित के अरमान कहाँ ?

जब प्रणय बना जग में विलास, तब वह अपना ही बना काल।
सब तुम्हें ज्ञात था, पृथीराज! तब क्यों न चले पथ पर सँभाल!
जग जातीं तुम ही, सँयोगिते! मत सोतीं यों बेसुध, रानी!
तो क्यों होते हम पराधीन, खोते अपने कुल का पानी?

अब कब जागोगे, पृथीराज? खोलो अलसित पलकें अजान!
अँगड़ाई लेती है ऊषा, हट गई निशा, आया विहान!
जागो, दरिद्रता के विप्लव! जागो, भूखों की प्रलय-तान!
जागो, आहत उर की ज्वाला! जागो नवयुग के नवविहान!!

उद्‌बोधन

(महाराणा प्रताप के प्रति कवि पृथ्वीभट्ट का पत्र)

सजल नेत्र, मुखम्लान, गतश्री, कहाँ आज सरदार चले?
किसने कहा? संधि करने तुम अकबर के दरबार चले!
रोको चेतक, उठे न फिर अब क़दम कहीं फिर भी आगे।
सोचो किधर जा रहे हो तुम यों अधीर आकुल भागे?

सब तो ही झुक गए, लगा कालिख पुरखों के माथों में,
रजपूतों की लाज आज, रजपूत! तुम्हारे हाथों में!
तुम शिशोदिया गौरव-गिरि के एकमात्र हो स्तम्भ खड़े;
झुकना नहीं, आज तुम ही तो अंतिम दुर्ग अखर्व चढ़े!

आज युगों के तप, संयम, क्षत्रिय! शोणित की बारी है;
अग्नि-परीक्षा, मत्स्य-भेद, वरमाला की तैयारी है!
क्षत्रिय-जननी का अमृतपय आज कलंकित हो न कहीं!
आनेवाली पीढ़ी में कायरता अंकित हो न कहीं!

बढ़ें कहीं रजपूत युद्ध में, तो उर शंकित हो न कहीं!
करके स्मरण तुम्हारा, मुखनत लघुता झंकृत हो न कहीं!
हो कंचन तन रज का ढूहा, या वल्मी निज घर कर ले,
विषधर डस ले, व्याघ्र-सिंह अनजाने उदर-दरी भर ले!

अरावली फट जाय खंड हो, शैल - खंड हो गर्त गहन!
क्षत्रियकुल-गौरव अशेष, तुम भले रसातल करो वरण!
ओ बप्पारावल के वंशज! ओ राणा प्रताप मेरे!
आत्मसमर्पण करो न तुम, मर जाओ, भले मृत्यु घेरे!

यही समय है, काल भाल पर बनो अमृत की अवलेखा!
यही समय है, प्रलय-मेघ पर चमक बनो विद्युल्लेखा!!

कणिका

खिल उठी हैं राष्ट्र की तरुणाइयाँ!
आज प्राची में फटीं अरुणाइयाँ!
यह नहीं भूकम्प है, या है प्रलय;
ली जवानी ने फ़क़त अँगड़ाइयाँ!

ये चले क्या? क्रान्ति के नारे चले,
और नभ पर खिसकते तारे चले!
है चिता की भस्म मस्तक पर लगी;
ये धधकते लाल अंगारे चले!

गांधी

कहा हिन्दुओं ने, भारत में फिर से मनमोहन आया;
और मुसलमानों की आँखों ने पैग़म्बर को पाया !
करुणामय भक्तों की आँखों में सुख की गंगा उमड़ी;
शुद्धोदन के लाल लाड़ले की सुन्दर छवि दीख पड़ी !

समा गया अगणित प्राणों में, धारण करके अगिन स्वरूप;
ओ मेरे प्यारे बापू ! कितना विराट है तेरा रूप !

सेवाग्राम

वर्धा से दूर/एक छोटा-सा बसा ग्राम,
चर्चा और अर्चा नित्य/जिसकी है धाम-धाम।
मिट्टी के कच्चे घर,/प्रार्थना-से झुके नीचे,
करते हैं स्वागत आगत का, नवीन अभ्यागत का।
देते हैं दूध, घृत-भात,
हाल के उगाये हुए ताजे-ताजे साग-पात,
मोटी रोटी,/स्वच्छ वायु,/जिससे बढ़े आयु,
होता निर्माण नहीं तन ही का कोष,
मन का भी कोष;/देता अन्न यहाँ जाने कैसा सन्तोष ?

फूस की कुटीर बनी,/रहते हैं कौन यहाँ ?
त्यागी-से, विरागी-से, चिन्तारत अनुरागी से;
चर्खे का नहीं टूटता है तार,/कानों में सुन पड़ती झङ्कार।
क्या है सब यही योग ? यहाँ का उद्योग ?
होता जहाँ प्रभात,/यह ऋषि-मुनियों की जमात—
जाती चली खेतों में,/लग जाती जोतने में, बोने में,

जगता अभिमान उन्हें कृषक होने में ।
छातीं रक्त-रश्मियाँ उनके मुखमण्डल पर;
खिल जाता अन्तर !

कैसा यह देश केन्द्र ?/आते रङ्क औ ' नरेन्द्र,
मूर्ख, विज्ञ, निर्बल औ बलवान,
सभी ढूँढ़ते-सा अपना यहाँ त्राण,/योगक्षेम, कल्याण !
कैसा यह राष्ट्र-केन्द्र ?/परिधि से दूर-दूर,
आते हैं यहाँ देश के योधा-शूर
करने को मंत्रणा-सी,/पाने को आदेश,
ले जाने को ग्राम-ग्राम, धाम-धाम/किसका पावन सन्देश ?

कौन वह अग्रणी ?/जिसका जगत ऋणी ?
कौन यह तीर्थधाम ?/आते दर्शनार्थी जहाँ प्रतियाम,
मन्दिर है कहाँ यहाँ ?/प्रतिमा वह कौन कहाँ ?
किसकी यहाँ महिमा है ?/किसकी यहाँ गरिमा है ?
लघिमा बनी जहाँ भूतल की सब विभूति !
कौन वह दिव्य मूर्ति,/देती जो शक्ति स्फूर्ति ?

सेवाग्राम,/यह है हिमगिरि अभिराम,
जहाँ से प्रवाहित, प्रवहमान/सेवा की सुरसरि छविमान,
बहती ही रहती/सहस्रधार,
सींचती-सी, ताप-शाप खींचती-सी,
अमृत उलीचती-सी,
हरित-भरित करती नित्य/राष्ट्र के तन-मन-प्राण !
देश की समस्या सभी/सुलझती रहती यहीं,
राजनीति की है चटशाला यह भारत की ।

यहीं से जाते राष्ट्रदूत,/करते है कार्यपूत,
बाँधते हैं कच्चे सूत से विश्व को,/आगत भविष्य को,
चर्खे के तार से,/स्नेह झङ्कार से,
मृदु मुसकान से,/आत्म-बलिदान से ।

सुलगता रहता है यहीं अग्नि-होत्र/दिन-रात,
शीतल नहीं होती है जिसकी कभी/अरुण शिखा,
होमते रहते हैं सब आहुतियाँ,/कोई धन, कोई मन, कोई तन,
कोई-कोई होम देता सर्वस्व, जीवन !

मुक्ति-यज्ञ का यहाँ बड़ा समारोह है,
मुक्ति-छन्द की यहाँ/गमक, मीड़, मूर्च्छना, मन्द, तीव्र,
आरोह, अवरोह है।
शीतल-से बनते क्यों भव-ताप-तप्त प्राण ?
कौन वह यती, व्रती,/कौन वह सुकृती ?
ईश्वर के अंश ने किया है यहाँ विकास,
आत्मा का यहाँ है परमोज्ज्वल प्रकाश,
सत्य की ज्योति यहाँ,/करुणा का यहाँ निवास !

कुष्ठी कोई, कोई बधिर,/ कोई अपरूप, कोई चित्त स्थिर,
कोई सुन्दर, सुरूप, कोई कान्तिमय अनूप,
कैसा यह खेला है !/जुड़ा शम्भु मेला है !
कौन है महोत्सव आज, कैसी यह बेला है !

राष्ट्र-मस्तिष्क यही,/उठते जहाँ विचार,
ग्रन्थियाँ जटिल जहाँ नीति की सुलझतीं,
बन करके आदेश,/अङ्ग अङ्ग में नवीन रक्त ले उतरतीं,
अङ्ग, बङ्ग, गुर्जर, द्रविड़, कलिङ्ग/चलते कर्म-पथ में,
रुकते हैं न अथ में,/बढ़ते प्रलय-रथ में !

राष्ट्र का हृदय यही,/होते जहाँ आघात-प्रतिघात,
व्यथा वेदनाओं के जहाँ पर संघात !
उठती है जहाँ उमङ्ग,
बढ़ती है आगे ले आत्म-शक्ति की तरङ्ग;
तमतोम चीर, हटा गहन पीर,/लाने को जीवन की प्राची में—
स्वर्णिम हर्षमय, अभिनव प्रकर्षमय,
नव उत्कर्षमय/पावन प्रभात !

हाथ पाँव भी यही/देश का, राष्ट्र का,
करता जो यह काम/पुण्यधाम/सेवाग्राम,
उसको अनुसरते,/उसे सब वरते,
तरते हैं अगम सिन्धु, जिसमें भी उतरते !

जाति-पाँत का है यहाँ कोई नहीं विचार,
ईश्वर के पूत सभी./उर उदार,
'मानव-मानव समान,'/एक गान,
गूँजता रहता महान !
जो भी यहाँ आते हैं
एक साथ बैठ एक पङ्गत में खाते हैं
एक क्षण को ही सही,/निज में परिवर्तन-सा पाते हैं;
'मानव मानव समान'—
उनके भी प्राणों में बज उठता यह/महागान !

संस्कृति का नव विधान
यहीं ले रहा है आज अपनी शैशव उठान,
जहाँ नहीं भेदभाव, जहाँ नहीं है दुराव,
जाति-वर्ण-धर्म का जहाँ नहीं है प्रभाव।
यहाँ नहीं कोई कहीं अछूत,/मानव हैं सभी पूत;
विश्व-कोलाहल, हलचल, महारव
छोर छूकर ग्राम का होता शान्त;
किसका यह तप प्रशान्त ?
होते दुरित मनके ताप, पाप, अभिशाप,
किसका यह बल-प्रताप,/कौन पुण्यश्लोक आप !

कैसे दारिद्रय हटे,/दुर्दिन का मेघ फटे,
इसकी ही है चर्चा औ' शत विचार,
सेवा-कर्म,/सेवा-धर्म,
सेवाग्राम का यही है रहस्य-मर्म !

उन्हें प्रणाम

भिदा हुआ है दीन-अश्रु से जिनका मर्म,
मुहताजों के साथ न जिनको आती शर्म,
किसी देश में, किसी वेश में करते कर्म,
मानवता का संस्थापन ही जिनका धर्म !
ज्ञात नहीं हैं जिनके नाम !
उन्हें प्रणाम ! सतत प्रणाम !

कोटि कोटि नंगों - भिखमंगों के जो साथ—
खड़े हुए हैं कंधा जोड़े, उन्नत माथ,
शोषित जन के, पीड़ित जन के कर को थाम,
बढ़े जा रहे उधर, जिधर है मुक्ति प्रकाम,
ज्ञात और अज्ञात मात्र ही जिनके नाम !
वन्दनीय उन सत्पुरुषों, को सतत प्रणाम !

जिनके गीतों के पढ़ने से मिलती शान्ति,
जिनकी तानों के सुनने से झिलती भ्रान्ति,
छा जाती मुखमंडल पर यौवन की कान्ति,
जिनकी टेकों पर टिकने से टिकती क्रान्ति,
मरण मधुर बन जाता है जैसे वरदान,
अधरों पर खिल जाती है मादक मुसकान,
नहीं देख सकते जग में अन्याय - वितान,
प्राण उच्छ्वसित होते, होने को बलिदान,
जो घावों पर मरहम का कर देते काम !
उन सहृदय हृदयों को मेरे कोटि प्रणाम !

उन्हें, जिन्हें है नहीं जगत में अपना काम,
राजा से बन गए भिखारी तज आराम,
दर - दर भीख माँगते, सहते वर्षा - घाम,
दो सूखी मधुकरियाँ दे देतीं विश्राम !
जिनकी आत्मा सदा सत्य का करती शोध,
जिनको है अपनी गौरव - गरिमा का बोध,
जिन्हें दुखी पर दया, क्रूर पर आता क्रोध,
अत्याचारों का अभीष्ट जिनको प्रतिशोध !
उन्हें प्रणाम ! सतत प्रणाम !
जो निर्धन के धन, निर्बल के बल अविराम !
उन नेताओं के चरणों में कोटि प्रणाम !

मातृभूमि का जगा जिन्हें ऐसा अनुराग,
यौवन में ही लिया जिन्होंने है वैराग,
नगर - नगर की, ग्राम - ग्राम की छानी धूल,
समझे जिससे सोई जनता अपनी भूल,
ज़िनको रोटी - नमक न होती कभी नसीब,
जिनको युग ने बना रखा है सदा ग़रीब,
उन मूर्खों को, विद्वानों को, जो दिन-रात—
इन्हें जगाने को फेरी देते हैं प्रात,
जगा रहे जो सोये गौरव को अभिराम !
उस स्वदेश के स्वाभिमान को कोटि प्रणाम !

ज़ंजीरों में कसे, सीखचों के उस पार
जन्मभूमि जननी की करते जय-जयकार,
सही कठिन हथकड़ियों की, बेतों की मार,
आज़ादी की कभी न छोड़ी टेक, पुकार,
स्वार्थ, लोभ, यश कभी सका है जिन्हें न जीत,
जो अपनी धुन के मतवाले, मन के मीत,
ढाने को साम्राज्यवाद की दृढ़ दीवार
बार बार बलिदान चढ़े, प्राणों को वार !

बंद सीख़चों में जो हैं अपने सरनाम,
धीर-वीर उन सत्पुरुषों को कोटि प्रणाम!
उन्हीं कर्मठों, ध्रुव धीरों को है प्रतियाम—
कोटि प्रणाम!

जो फाँसी के तख्तों पर जाते हैं झूम,
जो हँसते - हँसते शूली को लेते चूम,
दीवारों में चुन जाते हैं जो मासूम,
टेक न तजते, पी जाते हैं विष का धूम!
उस आगत को जो कि अनागत दिव्य भविष्य,
जिसकी पावन ज्वाला में सब पाप हविष्य!
सब स्वतंत्र, सब सुखी, जहाँ पर सुख-विश्राम,
नवयुग के उस नव प्रभात की किरण ललाम!
उस मंगलमय दिन को मेरे कोटि प्रणाम!
सर्वोदय हँस रहा जहाँ, सुख - शान्ति प्रकाम!

प्रयाण-गीत

चल रे चल। अडिग! अचल!

धन गर्जन, हिम वर्षण! तिमिर सघन, तड़ित पतन!
शिर उन्नत, मन उन्नत! प्रण उन्नत, क्षत विक्षत!
रुक न विचल! झुक न विचल! गति न बदल!
अनिल! अनल! चल रे चल!

चिर शोषण, चिर दोहन! रक्त न तन, बुझे नयन!
बड़वानल! जल जल जल! जगती - तल कर उज्ज्वल!
करुणा - जल! ढल ढल ढल! सत्य - सबल!
आतम - प्रबल! चल रे चल!

कर बंधन, उर बंधन, तन बंधन, मन बंधन,
अविचल रण, अविरल प्रण, शत शत व्रण, हो क्षण क्षण,
शिर करतल ! जय करतल ! बलि करतल ।
बल करतल ! बल भर बल ! चल रे चल !

गढ़वाल के प्रति

जगा बंगाल, जगा पांचाल, जगा है सारा देश अशेष;
जाग ! तू भी मेरे गढ़वाल, हिमाचल के प्यारे गढ़देश !
साज सुन्दर केसरिया वेश, जाग ! रे जाग ! पहाड़ी देश !

बह रहा है नयनों से नीर, नहीं रे तन पर कोई चीर,
देखती तेरे मुख की ओर हो रही जननी आज अधीर;
देख जननी के रूखे केश, जाग रे जाग ! पहाड़ी देश !

लिया तुझ में गंगा ने जन्म, किया हरियाला सारा देश,
बहा दे स्वतंत्रता का स्रोत, अरे ओ पावन पुण्य प्रदेश !
यातनाएँ हो जायें शेष, जाग रे जाग ! पहाड़ी देश !

हिमाचल के प्यारे गढ़वाल ! आज भारत की लाज सँभाल !
शुभ्र अंचल में लगा न दाग़, उठा रे अपनी भुजा विशाल !
शक्ति है तुझ में अतुल अशेष, जाग रे जाग ! पहाड़ी देश !

प्रभात फेरी

खादी का बाना पहन लिया, आज़ादी ध्येय हमारा है;
आज़ादी पर मर मिटना है, हमने अब यही विचारा है,
जननी की जय जय गायेंगे। हम बलिवेदी पर जायेंगे।

थे शिवा प्रताप गए जिससे, है वीरों की यह वही गली,
श्री कृष्णधाम जानेवाली! यह तो पावन है राह भली;
तन - मन - धन - प्राण चढ़ायेंगे, हम बलिवेदी पर जायेंगे।

संतान शूरवीरों की हैं, हम दास नहीं कहलायेंगे;
या तो स्वतंत्र हो जायेंगे, या तो हम मर -मिट जायेंगे;
हम अमर शहीद कहायेंगे; हम बलिवेदी पर जायेंगे।
जननी की जय जय गायेंगे।

ऐतिहासिक उपवास

हे प्रबुद्ध !/आज तुम करने चले पुनः युद्ध !
अग्नि में प्रवेश कर बनने चले आत्म-शुद्ध;
मुक्त चले करने निज द्वार रुद्ध,/हे अक्रुद्ध !
क्षुब्ध हुए हमसे क्या, राष्ट्रदेव !/महादेव !
आज फिर गरल उठा अधरों से लगा लिया,/करुणामय !
किस पर यह महारोष ?/हम विमूढ़--
समझ नहीं पाते कर्तव्य गूढ़ ?

यों ही विश्वप्रांगण में/आज महा अग्निकांड,
पश्चिम से प्राची तक/ज्वालाएँ हैं प्रकांड !
आज लगता है ध्वंसमान/विश्वभांड !

तपोनिधे ! तब है यह व्रत-विधान !
तुम हो आत्मबल-निधान।
किन्तु, हम तो अशक्त,/धैर्य हो रहा है त्यक्त !
तुम हो उपवासरत, निराहार,/निखिल राष्ट्र निराहार !

तुम उदास,/हम उदास,
इस पद-निक्षेप में/रुद्ध आज राष्ट्रश्वास;
रक्त मंद, बुद्धि मंद, गिरा मूक;
आज किधर एकाकी तुम/कर रहे अचिर प्रवास ?

यों ही राष्ट्र क्षत-विक्षत,/रक्त-भरा जनपथ,
बढ़ता नहीं गतिरथ;
भस्मीभूत बने भवन,/निर्जन हैं बने सदन,
अग्नि दहन !/आज गहन !

देख-देख हाहाकार,/सूत्रधार !
तुम भी क्या कूद पड़े ?/हममें आ हुए खड़े ?
चलने को साथ-साथ,/जलने को साथ-साथ ?
जनता के हृदय-प्राण !
तुमसे ही राष्ट्र की धमनियों में/जीवन है प्रवहमान !
स्पन्दन है प्रवहमान !/यौवन है प्रवहमान !

हे दधीचि !
अस्थियों को आज नाश/करो मत, करुणानिधान !
ये ही वज्र के समान !
ध्वस्त करेंगी, महर्षि ! पाप-ताप,
असुरों का अभिशाप।

व्रत-समाप्ति

आज दिवस है व्रत-समाप्ति का, महाशान्ति का पर्व,
आज सुखद संवाद देश को, आज हमें है गर्व,
आज मेघ हट गए, खिल उठी, नभ में निर्मल राका,
बापू, चला तुम्हारे युग का फिर मंगलमय साका !

आज़ हुए संताप दुरित, अभिशाप-पाप सब खर्व;
आज दिवस है व्रत - समाप्ति का, महाशान्ति का पर्व !
आज राष्ट्र की शिथिल धमनियों में जीवन की धारा;
नव जीवन, नव चेतन मन में, आज छिन्न है कारा।

बापू ! बने रहे तुम, बन जायेंगी विधियाँ सर्व !
आज दिवस है व्रत समाप्ति का, महाशान्ति का पर्व !

जागो बुद्धदेव भगवान !

सारनाथ के जीर्ण - शीर्ण खँडहर हैं तुम्हें निहार रहे;
जागो ! काशी के प्रबुद्ध ! कितने यश आज पुकार रहे !

खड़ी सुजाता है वट-तल फिर, आकुल हृदय अधीर लिए,
पूर्णा खड़ी लिए झारी में, औ' दृग में भी नीर लिए !
यशोधरा पद-धूलि शीश धरने को व्याकुल कल्याणी;
शुद्धोदन भूपाल विकल सुनने को गौतम की वाणी !

छन्नक, वह सारथी तुम्हारा, खड़ा बिछा पथ पर पलकें;
राहुल देख रहा उत्कंठित, धूल धूसरित हैं अलकें !
उधर आम्रपाली आकुल है, उमड़ा आँखों में सावन !
भिक्षु-संघ है खड़ा समुत्सुक सुनने को प्रवचन पावन !

कृशा गौतमी, देखो, आई द्वार मृतक सुत गोद लिए;
आत्म - बोध दो, बोधिसत्त्व ! वह लौटे धाम प्रमोद लिए !
ऋषिपत्तन, मृगदाव तुम्हारे बिना सभी हैं म्लानमुखी,
कंथक खड़ा उदास पंथ में, आकुल आँखें, प्राण दुखी !

आज लुंबिनी की दूर्वा भी लगा रही मन में लेखा;
शाल वृक्ष देखते तुम्हारे अरुण चरणतल की रेखा!
नौरंजरा नदी की लहरें गाती हैं फिर कल - कल गान;
जागो पीड़ित की पुकार पर, जागो, बुद्धदेव भगवान !

अशोक की हिंसा से विरक्ति

क्यों दहक रहा उर बना अनल ?

यह भीषण नर संहार हुआ, पल-प्रतिपल हाहाकार हुआ,
मरघट - सा सब संसार हुआ, पर नहीं शान्ति - संचार हुआ,
क्यों अमृत आज बन रहा गरल ? क्यों दहक रहा उर बना अनल ?

सिंहासन पर सिंहासन नत, मानव पर मानव हैं हत, मृत !
मुकुटों पर मुकुट मिले श्रीहत, राज्यों पर राज्य हुए करगत !
फिर भी मन क्यों लगता निर्बल ? क्यों दहक रहा मन बना अनल ?

वह खड्ग रक्त की बन प्यासी, बन महाकाल की रसना-सी,
दौड़ी बन वीरों की दासी, पी गई रुधिर जल-तृष्णा-सी।
अब तक न हुआ यह मन शीतल ? क्यों दहक रहा उर बना अनल ?

विजयी कलिंग है पड़ा ध्वस्त ! दंभी का बल भी हुआ त्रस्त।
वैरी का दिनकर हुआ अस्त; किस उलझन में है विश्व व्यस्त ?
क्यों थका हुआ है सब भुजबल ? क्यों दहक रहा मन बना अनल ?

कब तक के लिए राज्य का मद ? कब तक के लिए राज्य का पद ?
दो दिन मानव हो ले उन्मद, शोणित के विपुल बहा ले नद !
बस, एक घाट जाना है कल ! क्यों दहक रहा उर बना अनल ?

दो दिन के ही हित यह महान ! वैभव-सुख-संपति का विधान;
मानव है कितना विगत - ज्ञान ? जो परम सत्य भूला निदान !
फिर दुःख क्यों न हो उसे सरल ? क्यों दहक रहा उर बना अनल !

मिट रही आज है सभी भ्रान्ति, झलकी है सुख की परम कान्ति;
मन - प्राणों में रम रही शान्ति, करुणा की मंगलमयी क्रान्ति !
मन - प्राणों में रम रही शान्ति, निर्बल पर क्रूर बने न सबल !
करुणा दे अग-जग का मंगल ! दहके न कभी उर बना अनल !

अहिंसा-अवतरण

तभी मैं लेती हूँ अवतार !

महाक्रान्ति हुंकार लिए जब करती नर - संहार,
रक्त - धार में उतराने लगता समस्त संसार;
सहम जाते हैं बुद्धि विचार, तभी मैं लेती हूँ अवतार !

कर्मकांड की लिए दुहाई नर करते नरमेध,
निर्बल के प्राणों की आहें जातीं अंबर भेद;
बहाते तारक आँसू - धार, तभी मैं लेती हूँ अवतार !

जब कलिंग-जय की लिप्सा में पीते सुरा अशोक;
विजय एक दिन बन जाती है अंतरतम का शोक;
उमड़ता उर में हाहाकार, तभी मैं लेती हूँ अवतार !

मैं अपने शीतल अंचल में लेकर जलता लोक,
चंदन का अनुलेपन करती, होता जग गतशोक।
न आती फिर दुख भरी पुकार, कि जब मैं लेती हूँ अवतार !

होलिका के प्रति

धधक रही है यों ही होली, तुम क्यों आई हो, दीवानी ?
क्या न अभी पर्याप्त अग्नि है, तुम्हें पड़ी जो ज्वाल जगानी ?
सतयुग जलीं, जलीं तुम द्वापर, त्रेता में तुम जलीं, सलोनी;
किन्तु जला पाईं कब अब तक अत्याचार, पाप, अनहोनी ?

तुमसे ज्यादा आग लगी है घर-घर में, दर-दर में क्षण-क्षण;
तुम भी जलो होलिके उसमें, आज काल का नर्तन भीषण !
चाहो भला, लौट जाओ तुम, नहीं झुलस जाओगी, रानी !
धधक रही है यों ही होली, तुम क्यों आई हो, दीवानी ?

चली जलाने थीं तुम उस दिन, किन्तु सत्य जल सका न तुमसे;
पावक में पंकज बन फूला, वह सोना गल सका न तुमसे !
जग ने समझा चली जलाने, पर तुम तो थीं चली जिलाने;
देवि होलिके ! अमरपुत्र को तुम आई थीं अमृत पिलाने !
पा प्रह्लाद गोद में उस दिन तुम होगी फूली न समानी !
धधक रही है यों ही होली, तुम क्यों आई हो, दीवानी ?

आज रक्त का रंग चल रहा, भीग रहा वसुधा का अंचल;
राग गूँजता महामरण का, है दिगंत व्याकुल औ' चंचल !
तन की भस्म अबीर बनी है, उड़-उड़ कर अंबर तक छाई;
खेल रहे सब फाग नाश से, सबने अपनी बुद्धि गँवाई;
युग में इससे अधिक और क्या आग लगाओगी, कल्यानी !
धधक रही है यों ही होली, तुम क्यों आई हो, दीवानी ?

जाओ, जाओ, अभी लौट जाओ, अच्छा हो, पुण्य - प्रसूते !
आज तुम्हारा काम नहीं है, जाओ, जाओ, अन् - आहूते !

तुम भविष्य के अतल गर्भ में रहो, नहीं जब तक यह ज्वाला—
राख बना ले निखिल विश्व को, भरे नहीं चंडी का प्याला;
आना तब तुम, जब रणाग्नि के उर में गूँजे अमृत - बानी !
धधक रही थी यों ही होली, तुम क्यों आई हो, दीवानी ?

●

अकबर और तुलसीदास

अकबर और तुलसीदास,
दोनों ही प्रकट हुए एक समय,
एक देश, कहता है इतिहास।

'अकबर महान'—/गूँजता है आज भी कीर्ति-गान।
वैभव प्रासाद बड़े,/जो थे सब हुए खड़े,
पृथ्वी में जो आज गड़े !
अकबर का नाम ही है शेष, सुन रहे कान !

किन्तु, कवि तुलसीदास !
धन्य है तुम्हारा यह/रामचरित का प्रयास,
भवन यह तुम्हारा अचल,/सदन यह तुम्हारा अचल,
आज भी है अडिग खड़ा,/उत्सव, उत्साह बड़ा—
पाता है वही, जो भी जाता है पास में !

एक हुए सम्राट्,/जिनका विभव विराट्,
एक कवि,—रामदास,/कौड़ी भी नहीं पास;
किन्तु आज, चीर महाकालों की/तालों को,/गूँजती है,
नृपति की नहीं,/ कवि की ही वाणी गँभीर !

अकबर : महान, जैसे मृत;
तुलसीदास : अमृत !

●

'रत्नाकर'

एक स्वर्णकण खो जाने से हो उठता उर कातर;
कैसे धैर्य धरे वह, जिसका लुट जाये 'रत्नाकर'!

प्रसाद जी की पुण्य स्मृति में

भारतीय सुसंस्कृति के गर्व औ' अभिमान!
बुद्ध की सद्बुद्धि के कल्याणमय आख्यान!
आर्य-गौरव के अलौकिक, दिव्य, उज्ज्वल गान!
राष्ट्रभाषा के विधाता, श्री, सुरभि, सम्मान!
नित्य मौलिक, ऐतिहासिक, चिर-विचारक आप;
भावना औ' ज्ञान के युगपत्, समन्वित छाप!
त्याग आज सकाम जगती, तुम चले निष्काम।
युग - प्रवर्तक, क्रान्तदर्शी, तुम्हें सतत प्रणाम!

प्रेमचंद के प्रति

मंद हो गई ज्योति आज अपने हिन्दी के आँगन की,
अस्त हो गया प्रेमचंद, सिमटी उजियाली जीवन की;
आज पूर्णिमा लुटी, अमा छाई है काली कण - कण में;
हा! कैसा दुर्भाग्य? भाग्य मिटता जाता है क्षण - क्षण में!

वज्रपात! यह सर्वनाश कैसा जननी पर टूट पड़ा,
माता का लाड़ला लाल माँ के अंचल से छूट पड़ा!
प्रेमचंद! तुमने अपने यौवन में ही संन्यास लिया,
वैभव - सुख पर पद - प्रहार करके कुटिया में वास लिया।

गला - गला अस्थियाँ, बहाकर रक्त विकसते यौवन का,
सींची हिन्दी की फुलवारी, कुंज देश के उपवन का;
पुरुषसिंह ! तुम वीर बाँकुरे ! देश प्रेम के मतवाले !
एक बार क्या ? कई बार पी गए उठा विष के प्याले !

चली तुम्हारी कला मिटाने जननी के मन की पीड़ा,
कड़ियाँ देख, सिमट आई आँसू बन नसनस की व्रीड़ा;
अंतिम बेला भी तो तुम निज प्राण लिये आगे आये;
मातृभूमि पर मर मिटने को प्राण तुम्हारे हुलसाये।

सह न सके क्या जन्मभूमि की पीड़ा, अपनी लाचारी,
इसीलिए, इतनी जल्दी की मृत्यु - लोक की तैयारी ?
हम कृतघ्न, हिन्दीवालों को कब आयेगा जग में ज्ञान ?
सीख सकेंगे कब बलि होने वालों का करना सम्मान ?

सजल स्मृति

[आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निधन पर श्रद्धांजलि]

चले अयोध्या सूनी करके क्यों, हिन्दी के राम ?
कौशल्या को कौन बँधावै धैर्य ? मिले विश्राम !
भरत ! चलो, वे चरण-पादुका ही ले आओ थाम;
उनका ही पूजन - अर्चन हो, पूर्ण बनें सब काम !

सिंहासन है रिक्त तुम्हारा, इस पर बैठे कौन ?
अधिकारी है कौन यहाँ पर ? उत्तर में सब मौन ?
वंदनीय, अभिनंदनीय, तुम गौरव - गरिमा - धाम !
सजल स्मृति नित झुका करेगी बनकर कोटि प्रणाम !

स्वागत

[गुरुदेव अयोध्यासिंह उपाध्याय के लखनऊ में स्वागत-समारोह पर लिखित]

आज नगरी में हमारी कौन - सा मेहमान आया ?
तिमिर में दीपक जला है, भक्त - गृह भगवान आया।

सित बने जो, कृष्ण केशों की कठिन कैसी तपस्या ?
भाव - भाषा - छंद की सुलझी सभी उलझी समस्या।
आज कवि के कंठ में नवरस लिए मधुगान आया;
आज नगरी में हमारी कौन - सा मेहमान आया ?

आज किसकी अस्थियों पर उठ खड़ी भाषा हमारी ?
सींच किसने रक्त में कर दी हरी आशा हमारी ?
कौन पतझर में हमारे मधुर मधु का दान लाया ?
आज नगरी में हमारी कौन - सा मेहमान आया ?

गोमती के भाग्य पर करती स्पृहा है गंगधारा,
अवध के उत्संग में ही अवध का हरि है पधारा ?
रंक - रसिकों की कुटी में आज नव वरदान आया।
आज नगरी में हमारी कौन - सा मेहमान आया ?

कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त के प्रति

तुम जननी के शृङ्गार - हार !

ले लघु - लघु शब्दों की गागर, तुम भरते अर्थों का सागर,
शुचि शिल्पी कलाकार नागर,
वाणी - वीणा के मधुर तार ! तुम जननी के शृङ्गार-हार !

दे दिया काव्यतरु में पल्लव, नव - रूप - रंग - रस का वैभव,
कोकिल बन किया मधुर कलरव,
पतझर में ले आये बहार; तम जननी के शृङ्गार - हार !

रच रम्य प्रकृति के ललित चित्र, जग-जीवन-रँग से भर विचित्र,
मन प्राण किये तुमने पवित्र,
तम में प्रकाश लाये उतार; तुम भाषा के शृङ्गार - हार !

वैभव - बंधन से, गृही ! भाग, यौवन ही में लेकर विराग,
दिखलाया संयम, आत्म - त्याग,
कविता में जीवन दिया ढार; तुम जननी की गरिमा अपार !

तुम भाषा के गायक अनन्य, पूजा तज की सेवा न अन्य,
तुमको पा जननी हुई धन्य !
सज उठा मातृमंदिर अपार पा, सुकवि! तुम्हारा अमर प्यार!
तुम जननी के शृङ्गार-हार !

उठे मातृभाषा का मंदिर

स्वागत ! सूरदास के गृह में, सूरश्याम के आँगन में,
ब्रज - कोकिल कवि सत्यनरायन की कुटिया के प्रांगण में !

स्वागत नूरजहाँ की सुन्दरता से सिंचित नगरी में,
स्वागत ! जहाँगीर के प्राणों से अभिसिंचित नगरी में।
ताजमहल की मीनारें ये हाथ उठा स्वागत करतीं;
पद पखारने को आगत के यमुना अंजलियाँ भरती !
स्वागत ! भारत के अतीत- गौरव के अचल निकेतन में,
स्वागत ! सूरदास के गृह में, सूरश्याम के आँगन में !

शत - शत शिल्पी निशिदिन पलकों पर ले - ले मादक सपने,
उठा तूलिका यहीं कर गए अमर काव्य चित्रित अपने।
विश्व-नयन विस्मित, आह्लादित, देख मनोरम ताजमहल !
रसिक उरों में राज कर रहा खड़ा प्रेम का राजमहल ?
इन्द्रप्रस्थ के सिंहद्वार में, वैभव के खँडहर - वन में,
स्वागत ! सूरदास के गृह में, सूरश्याम के आँगन में !

अकबर के वैभव - प्रदीप थे कभी यहीं पर छवि भरते,
कितने ही लोचन के शतदल रूपराशि - जल पर तरते,
वे दिन रहे, न अब वे रातें, जब सौरभ सिंचित करते,
पथ पर कंकण-किंकिणि के स्वर पथ की श्रान्ति-क्लान्ति हरते !
स्वागत ! पलकों पर, आँखों पर, स्वागत है हृदयासन में,
स्वागत! सूरदास के गृह में, सूरश्याम के आँगन में !

आज आम्र - कानन में कोयल रह - रह कैसी बोल रही ?
तन - मन में, जीवन - प्राणों में फिर - फिर नवमधु घोल रही,
बंदनवार बँधी है पथ में, मृदुल मंजरित अमराई;
आज आगरा धन्य ! देख आये गृह में कितने भाई !
स्वागत ! आगत ! अमृत-प्रदाता मृतकों के मृतजीवन में,
स्वागत ! सूरदास के गृह में, सूर श्याम के आँगन में !

मंगलमय हो घड़ी आज, यह मंगलपर्व बने आशा;
उठे मातृभाषा का मंदिर, फूले मन की अभिलाषा !
रहे अलंकृत रत्नाभरणा धर संस्कृत - सुहाग - बिंदी;
कोटि - कोटि कंठों में गूँजे मधुर मातृभाषा हिंदी !
स्वागत ! भाषा-भाग्य विधाता ! ज्योतिरूप तम के घन में,
स्वागत ! सूरदास के गृह में, सूरश्याम के आँगन में।*

*प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के आगरा अधिवेशन के अवसर पर लिखित।

अभिनन्दन

वृन्दावन की गलियों में उल्लास आज है छाया।
बाँसुरी बजानेवाला, मनमोहन मोहन आया।
मेरी ममता मतवाली खुश होकर झूम रही है।
ओ आनेवाले ! तेरे चरणों को चूम रही है।

पथ पर मृदु पलक बिछा कर मैं करता हूँ अभिनन्दन।
तेरी पद - रज बनती है मेरे मस्तक का चन्दन।
मैं सागर बन कर तेरे पद - प्रक्षालन हित आता।
स्वागत के गीत सुनहले मैं मलय-पवन बन गाता।

सम्मेलन एक तपोवन, करते ऋषि जहाँ तपस्या;
बस, यहीं राष्ट्र जीवन की सुलझे सब कठिन समस्या।
माँ के पद-नख-किरणों में यह ओस सदृश लघु जीवन;
सब भक्ति-भाव में लय हों, कर दें सुख-दुःख समर्पण।*

अखंड भारत

तुम कहते—मैं लिखूँ तुम्हारे लिए नई कोई कविता,
मैं कहता—क्या लिखूँ! अस्त है अपनी गरिमा का सविता!
कलम बंद, मुँह बंद, लिखूँ क्या तुमको फिर, मेरे साथी !
आज चले वे संग छोड़, पथ मोड़, कि जिनसे आशा थी !

राजा की मति रंक हुई, तब औरों की हो क्या गणना !
ये अखंड भारत को खंडित करने चले, समझ बढ़ना !
क्या बतलाऊँ, बड़े बुज़ुर्गों की तुमको बहकी बातें,
जो दिन समझ ला रहे हैं अपने ही आँगन में रातें !

*कलकत्ता राष्ट्रभाषा-सम्मेलन के अवसर पर गांधी जी के स्वागत में लिखित।

"बुद्धिभेद जनयेत् न कदाचित्" क्या इनसे कहना होगा;
"पंक्ति भेद है पाप", अलग हो ! ताकि अलग रहना होगा !
क्या गैरों से लोहा लेंगे, जब घर में ही फूट हुई ?
जो भी संघशक्ति थी अपनी, पथ में उसकी लूट हुई !

आज बहाने चले भगीरथ उल्टी गंगा की सरिता;
तुम कहते—मैं लिखूँ तुम्हारे लिए नई कोई कविता !

बुभुक्षित बंगाल

शस्य श्यामला के आँगन में भीषण हाहाकार मचा;
दो मुट्ठी है अन्न न मिलता, निष्ठुर नर-संहार मचा।
भूखे तड़प रहे हैं भाई, भूखी बहनें माता हैं !
त्राता ने है हाथ समेटा, बैठा दूर विधाता है।

वह देखो, पथ पर कितने ही हाथ उठ रहे हैं ऊपर;
रोटी एक सामने है, सैकड़ों खड़े हैं नारी-नर;
सूख गया तन, रक्त नहीं है, आँखे धँसी हुई भीतर;
काल-गाल में चले जा रहे कितने ही ठठरी बनकर !

'रोटी-रोटी' की पुकार है राहों में, चौराहों में;
'भात-भात' की है गुहार आहों मैं और कराहों में।
कितने ही शव निकल चुके मरकर भूखों की मारों में;
देख रहे अधमरे तुम्हें, डूबे हैं रुद्ध पुकारों में !

सोचो, होते, काश, तुम्हारे ये अनाथ बेटा–बेटी.
सह सकते क्या इनकी आहें, सह सकते इनकी हेठी ?
कितने प्यार - दुलारों से माँ बापों ने पाला होगा !
आँसू इनके देख हृदय में छाला–सा फूटा होगा।

यह अपना बंगाल क्षुधित है, किया भरण - पोषण जिसने;
यह अपना बंगाल व्यथित है, नित धन-धान्य दिया जिसने।
लो समेट आकुल बाँहों में क्षुधित बंधु को करुणाकर!
ओ पांचाल, बिहार, सिंधु, गुजराज! बढ़ाओ अगणित कर।

ओ अशेष भारत! उद्यत हो, तन-मन-धन बलिदान करो!
हे कठोर! तुम ढरो आज, अपनी करुणा का दान करो!

विक्रमादित्य

वह था जीवन का स्वर्णकाल, जब नव प्रभात था मुसकाया;
क्षिप्रा की लहरों में केसर, कुंकुम का जल था लहराया!
आलोक अलौकिक छाया था, वरदान धरा ने पाया था;
विक्रमादित्य के व्याज स्वयं आदित्य तिमिर में था आया!

वैभव-विभूति के पद्म खिले, सुख के सौरभ से सद्म खिले;
बहता मलयज संगीत लिए, आनंद चतुर्दिक् था छाया।
कवि कालिदास की वरवाणी गाती थी गौरव कल्याणी;
नव मेघदूत के छन्दों ने मकरन्द मेघ था बरसाया!

नवरत्नों की वह कीर्ति-कथा, बनती प्राणों में मधुर व्यथा;
वह दिन कितना सुन्दर होगा, जब था इतना वैभव छाया।
उज्जैन-अवंती का वैभव दिशि-दिशि करता फिरता कलरव;
उस दिन दरिद्रता धनी बनी, सब ने ही था सब कुछ पाया!

इतिहास न वह भूला मेरा, डाला विदेशियों ने घेरा;
वह विक्रम ही का विक्रम था, पल में पदतल अरिदल आया!
उस विजय-दिवस की स्मृति-स्वरूप प्रचलित विक्रम संवत् अनूप;
रे, दिवस-मास वे पुण्य-पृष्ठ, जब जय-ध्वज हमने फहराया!

कितनी शताब्दियाँ गईं बीत, झंकृत फिर भी अब भी अतीत;
सुनता रहता नीरव दिगंत, नभ प्रतिध्वनि करता दुहराया !
उस दिन की सुधि से है निहाल हिमगिरि का उन्नत-उच्च भाल;
गंगा-यमुना की लहरों में अमृत जल करता लहराया !

जागो फिर एक बार विक्रम ! नवजीवन का हो नव उपक्रम !
फिर कोटि-कोटि कंठों ने मिल जननी का विजय-गान गाया।

जिन्ना और जवाहर

ये जिन्ना और जवाहर हैं, दो नेता हैं, दो हैं चरित्र,
जातीय एक, राष्ट्रीय एक, दो मति हैं, दो हैं गति, विचित्र !
वैभव-गृह में इनका जीवन, बन्दीगृह में उनका जीवन—
बीता; दोनों ही वृद्ध हुए, फिर भी दोनों में है यौवन।

वे राव बन गये हैं राजा, ये राजा थे, अब हैं फ़कीर;
दोनों के दो जीवन-प्रवाह, ये भोगवीर, वे त्यागवीर।
वे मुसलिम हैं, ये हिन्दू हैं, दोनों के दो हैं ज्ञान-ध्यान;
वे जातिधर्म के संरक्षक, ये राष्ट्र-धर्म के महाप्राण !

ये भारत ही के दो स्वरूप, दोनों अपनेपन में अनूप !
वे पश्चिम हैं, ये प्राची हैं, दोनों भावों के बने भूप !
फिर भी क्या आयेगा वह दिन, गत होगा अंतर-अंधकार ?
ये बंधेंगे मिल एक साथ, बन कर स्वदेश के सूत्रधार !

पर, कबतक ? कौन कहेगा यह ? मेरा कवि तो हो रहा मौन;
पश्चिम-प्राची जो करे एक, वह व्यक्ति कौन, वह शक्ति कौन?

गांधी-तीर्थ या भंगीबस्ती

कल तक था जो निर्जीव पड़ा, बन दिल्ली का प्रान्तर अछूत,
है आज वहीं जीवन - प्रवाह, चेतन - प्रवाह, वह बना पूत।
है तरल तिरंगा लहराता, चरखे का उठने लगा राग;
उठ रही राम-धुन की हिलोर, फिर लगी सुलगने मुक्ति - आग।

नर आते, आते हैं नरेन्द्र, जनगण की भीड़ चली अपार;
उस ओर जहाँ गांधी जी हैं, पावन दर्शन का खुला द्वार।
कितना तप - तेज चरण - रज में है भरा हुआ, बापू मेरे!
तुम जहाँ बसे, बस गया वहीं पर तीर्थ, खड़ी जनता घेरे।

●

गांधी-मंदिर

[गांधी-मंदिर के निर्माता बिहार के मंजू भगत के प्रति]

तुम ग्रामभक्ति के सरल रूप, तुम आगत की श्रद्धा अनूप;
तुम तर्कवाद के परे एक गांधी - भक्तों के बने भूप!
आराध्य – देवता को देकर भौतिक मंदिर की मंजु मूर्ति,
अर्चना - आरती - पूजन से निज इच्छा की कर रहे पूर्ति!

वैसे ही, जैसे राम - कृष्ण की पूजा करते हम अपार,
पापों - तापों - अभिशापों से चाहते सभी हैं मुक्त द्वार।
तुम भले मान जाओ, तज दो भौतिक पूजन का यह स्वरूप,
जनगण - मन में जो समा गया बनकर श्रद्धा का अडिग रूप,

उसको न सकेगी शक्ति छीन, उसको न सकेगा समय छीन,
स्वागत में नये तथागत की यों बजा करेगी भक्ति - बीन!
केवल पूजन से, अर्चन से नर पा न सकेगा मोक्ष द्वार,
वे समझाते आये युग से पर भक्ति कह रही है पुकार—

यह ज्ञान-तर्क है कठिन पंथ, है भक्ति स्वयं में एक शक्ति;
है भक्ति शक्ति का सरल द्वार, पातक है पूजा में विरक्ति !
हम देख रहे तुम में भविष्य का वह उज्ज्वल इतिहास आज,
गांधी - मन्दिर होंगे गृह – गृह, 'जय गांधी' गूँजेगी अवाज !

जवाहर

[लाहौर कांग्रेस के सभापति होने पर]

ऐ वैभव की मृदुलगोद में पाले हुए भिखारी !
बलिहारी तुमपर, हैं सौ-सौ राज - मुकुट, बलिहारी ।
कोटि-कोटि हुलसित जनगण के प्राणों का वरदान,
आज तुम्हारे शीश राष्ट्र का स्वर्ण - मुकुट छविमान!

आज जवाहरलाल ! कौन विधि स्वागत - साज सजाऊँ ?
मेरा देश ग़रीब, कहाँ से मणि - माणिक्य लुटाऊँ ?
जन्मभूमि की व्यथा एक दिन यों प्राणों में जागी !
आग लगा वैभव-विलास में बन बैठे वैरागी !

विश्व जानता, पिता-पुत्र में होती कितनी ममता !
पर ममता से कहीं अधिक थी तुम में अपनी क्षमता ।
मातृ-भूमि की स्वतंत्रता पर चढ़ा पिता का प्यार,
बोल उठा विद्रोह तुम्हारा : लो पूरे अधिकार !

देश कह उठा—उड़े तिरंगा, बाजें समर - नगारे ।
तुम सेनापति बने, और हम सैनिक बने तुम्हारे ।
आग लगे नौकरशाही में, भस्मसात हों कड़ियाँ !
अरे वीर ! अपनी छाया में ला दो ऐसी घड़ियाँ !

वह दिन भी आया, जब टूटी ज़ंजीरों की कड़ियाँ !
तुम लाये अपनी छाया में ! स्वतन्त्रता की घड़ियाँ !

युगाधार

उत्सर्ग

उनकी पुण्य-स्मृति में,
जो जननी जन्मभूमि की शृंखला की
कड़ियों को छिन्न करने के
प्रयत्न में सदैव के
लिए बलिवेदी
पर सो गए हैं,
और उन्हें,
जो राष्ट्र की स्वतन्त्रता के अग्नि-पथ पर
निरंतर अग्रसर
हो रहे हैं।

सोहनलाल द्विवेदी

जब बंदी है राष्ट्र, बंदिनी
अपनी भारत - माता,
क्षुधित-तृषित-अ-वसन जनगण हैं,
बैठा दूर विधाता ।

पृथ्वीराज कसे घबड़ाते
व्याकुल ज़ंजीरों में,
शब्द - वेध बनकर तुम आओ
सधे हुए तीरों में ।

वक्तव्य

आज हम जिस अहिंसात्मक जन-क्रान्ति की नभ-चुंबी अग्नि-शिखाओं के भीतर से पार हो रहे हैं, वह भारतवर्ष के तपोत्याग एवं तेज का अपूर्व युग है।

आज के कवि का सबसे बड़ा सुवर्ण अवसर यह है कि वह अपने युग की इस सर्वतोमहान् जन-क्रान्ति को काव्य का रूप प्रदान कर सके, जिससे आगे आनेवाली पीढ़ियाँ जब इस युग के राष्ट्रीय अभ्युत्थान को देखना चाहें, तब उनकी आँखे अंधकार में ही टकराकर न रह जायें।

हिंदी वाङ्मय राष्ट्र-भारती में एक से एक श्रेष्ठ प्रतिभायें हैं। मुझे आश्चर्य से अधिक दुःख होता है कि उनका हृदय आज के तपोत्याग से क्यों नहीं गर्वोच्छ्वसित होता? जननी-जन्मभूमि की शृंखला की कड़ियों से उनके प्राणों में दुर्वह व्यथा का महाज्वार क्यों नहीं उद्वेलित होता? और निर्ममता से मानवता का कंठ घोटनेवाले साम्राज्यवाद के प्रति उनका सक्रिय क्रोध क्यों नहीं धधक उठता?

अर्ध शताब्दी से अधिक अर्धमृत-राष्ट्र की धमनियों में नवीन प्राणों का स्पंदन भरनेवाला बापू का अहिंसात्मक अभियान एवं शताब्दियों से पिसते आते परतंत्र राष्ट्र के करवट बदलने का सुन्दर स्वरूप क्या किसी महाकाव्य—महान् साहित्य के लिए सामग्री नहीं उपस्थित करता?

यदि हम अपनी आँखों से देख-सुन-समझकर भी अपने इस बल एवं बलि के अपूर्व जीवन को अभिव्यक्ति नहीं प्रदान करते, तो हमसे अधिक हतभाग्य और कौन होगा?

भैरवी में मैंने राष्ट्र के इसी जीवन, जागरण एवं बलिदान के जीवित चित्रों को काव्य का रूप देने का प्रयास किया है। समाज को मैंने आग्रहपूर्वक राष्ट्र का क्रान्तिगायन सुनाया है। युगाधार में युग की राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सामाजिक जन-क्रान्तियों की चिनगारियाँ—कैसे कहूँ?—धूम्र रेखायें हैं।

मैं जानता हूँ, जितना महान् विषय मेरे सामने है, उसकी तुलना में मेरी योग्यता नगण्य है। किन्तु, फिर भी, मैं इस आशा में, जो कुछ बनता है, लिखे

जा रहा हूँ कि कभी इस राख की चिनगारी से वह आग्नेय-काव्य प्रकट होगा, जिससे इस युग का ज्वलंत इतिहास स्वर्णाक्षरों में प्रदीप्त हो उठेगा।

आज हमारे सामने सबसे जटिल समस्या यदि कोई है, तो वह एक ही है–दासता से भारत की मुक्ति। हमारी सभी व्यथाओं का एक ही उपचार है—स्वतंत्रता। जो इस मूल को परित्याग कर राष्ट्र के पल्लवों, शाखाओं को सींचते हैं, उनके संबंध में कुछ न कहना ही उचित है।

जिन्हें अहिंसात्मक राष्ट्रीय जन-क्रान्ति में ही राष्ट्र के कल्याण का दर्शन होता है, वे इन साधारण रचनाओं को असाधारण अनुराग से पढ़ेंगे, इसमें संदेह ही क्या है?

रामनवमो,
२०००१ विक्रमाब्द
बिंदकी, यू० पी०

सोहनलाल द्विवेदी

बापू के प्रति

तुम नवजीवन के नव विधान ! युग - युग - बंधन के मुक्ति-गान !

तुम आशा के स्वर्णिम प्रकाश, मानव-मन के मधुमय विकाश ।
तुम नवयुग के नूतन विहान ! तुम नवचेतन के नव विधान ।
तुम हो अतीत के अमर गीत, भावी की मधु-छाया पुनीत ।
तुम वर्तमान के कर्मगान ! तुम नवजीवन के नव विधान !

दुर्बल दलितों के क्रांति - घोष, तुम पददलितों के शक्तिकोश ।
मृत जीवन के तुम जन्म - प्राण ! तुम नव संस्कृति के नव विधान !
तुम करुणा के पावन प्रवाह, तुम अमर सत्य के गंधवाह;
समता - ममता के नववितान, तुम नव संस्कृति के नव विधान !

आत्माहुति के अनुपम प्रयोग, नूतन दधीचि के नवल योग;
बलिदान - गीत, बलिदान-गान ! तुम नव संस्कृति के नव विधान !

रेखाचित्र

उन्नत ललाट पर चिंता की कतिपय रेखायें लिए हुए,
विस्तृत भौंहें, आयत नेत्रों में ममता का मधु पिए हुए;
नासा सुदीर्घ, श्रुतिपुट सुदीर्घ सौभाग्य - बुद्धि - संकेत बने,
नित नमित देखते धरणी को, करुणामय विनय - निकेत बने ।

आजानुबाहु फैलीं दोनों, वक्षस्थल सघन, रोम - वेष्ठित
कटि-तट पर खादी की कछनी, अपनी कंगाली की प्रतिनिधि;
शिर पर छोटी सी चोटी के अनियंत्रित केश छहरते से,
दृढ़ अंग और प्रत्यंग खुले, मलयज के संग लहरते से ।

अनमोल सृष्टि की रचना यह दो अक्षर में हो गई बद्ध,
'बापू' के लघु संबोधन में सारा रहस्य युग का निबद्ध !

बापू

मन में नूतन बल सँवारता, जीवन के संशय - भय हरता,
विश्ववंद्य बापू वह आया, कोटि-कोटि चरणों को धरता।

धरणी - मग होते हैं डगमग, जब चलता यह धीर तपस्वी,
गगन मगन होकर गाता है, गाता जो भी राग मनस्वी;
पग पर पग धर-धर चलते हैं कोटि - कोटि योधा - सेनानी
विनत माथ, उन्नत मस्तक ले, कर निःशस्त्र, आत्म-अभिमानी !

युग - युग का घनतम फटता है, नव प्रकाश प्राणों में भरता,
विश्ववंद्य बापू वह आया कोटि - कोटि चरणों को धरता !

निद्रित भारत, जगा आज है, यह किसका पावन प्रभाव है ?
किसके करुणांचल के नीचे ? निर्भयता का बढ़ा भाव है ?
नवचेतन की श्वास ले रहे, हम भी आज जी उठे जग में,
उठा लगाया हृदय - कंठ से किसने पददलितों को मग में ?

व्यथित राष्ट्र पर आँचल करता जीवन के नव - रस - कन ढरता,
विश्वंद्य बापू वह आया कोटि - कोटि चरणों को धरता !

यह किसका उज्ज्वल प्रकाश है ? नवजीवन जन - जन में छाया,
सत्य जगा, करुणा उठ बैठी, सिमटी मायावी की माया;
'वैभव' से 'विराग' उठ बोला— "चलो, बढ़ो पावन चरणों में;
मानव - जीवन सफल बना लो, चढ़ पूजा के उपकरणों में।"

जननी की कड़ियाँ तड़काता, स्वतंत्रता के नव स्वर भरता,
वृद्ध, वीर बापू वह आया कोटि - कोटि चरणों को धरता !

गाँधी

किसने स्वदेश को युग-युग की गहरी निद्रा से जगा दिया ?
किसने भारत को पल-पल की अलसित तंद्रा से जगा दिया ?
चल पड़ा कौन मरने - मिटने लेकर कुछ वीरों की टोली ?
सुलगा दी मग - मग, पग-पग में किसने आज़ादी की होली ?

नीली सागर की लहरों को यह कौन अकेले चीर चला ?
लड़ने को सुभट लड़ैतों से यह कौन अकेले वीर चला ?
हैं मुट्ठी भर हड्डियाँ, भले ही कह लो तुम इसको शरीर,
संसार कँपाता चलता है यह भारत का नंगा फ़क़ीर !

हमने, तुमने, सबने जिस पर अपने सुख की आशा बाँधी,
अपनी यशुदा का मनमोहन, वह भारत का प्यारा गाँधी।

गाँधीग्राम

[सेवाग्राम की आत्मकथा]

[एक दिन अनायास गांधी जी वर्धा छोड़कर ग्राम में बसने के लिए चल पड़े। आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल के कथित वृतान्त पर यह कविता लिखी गई है।]

वर्धा में बापू का निवास सब कहते जिसको महिलाश्रम,
क्या देख रहे ये उन्मन हो नभ में घन के गिरने का क्रम !

घन विकल घूमते अंबर में, कैसे बरसावें वे जीवन ?
बापू हैं आश्रम में आकुल, कैसे लावें वे नवजीवन ?
बिजली थी रह-रह कौंध रही घनमाला के अंतस्तल में,
संकल्प - विकल्प इधर उठते थे बापू के हृदयस्थल में--

"वे नगर - विभव - वैभव-बंधन से चाह रहे हैं कसना मन,
मैं चला तोड़ने ये कड़ियाँ, आ रहा ग्राम का आमंत्रण।
आ रही ग्राम की सरल वायु, कहती, आओ, हे मनमोहन !
तुम बहुत रह चुके नगरों में, देखो मेरे भी गृह - आँगन !

आओ तुम पुरई - पालों में, आओ छप्पर - खपरैलों में,
आओ फूसों की कुटियों में, कुम्हड़े कद्दू की बेलों में!
आओ कच्ची दीवारों से निर्मित घर की चौपालों में,
रहते हैं दीन किसान जहाँ जामुन - महुआ के थालों में।

आओ, नवजीवन के प्रभात! आओ नवजीवन की किरणें।
इन ग्रामों का भी भाग्य जगे, ये भी तो पदनख को वरणें!
ये ग्राम उगाते अन्न - धान, वे नगर प्रेम से चखते हैं;
जो कृषक उगाते सागपात. वे नगर लूटते रहते हैं।

दधि - दूध और घृत की नदियाँ वे नगर पिये ही जाते हैं!
भूखे रहकर, नंगे रहकर, ये ग्राम जिये ही जाते हैं!
कुछ मूल, सूद - दर - सूद लगा, गृह छीन लिये ही जाते हैं;
चिकनी - चुपड़ी बातें कहकर, रे घाव सिये ही जाते हैं!

निशिदिन है हाहाकार मचा, कैसा यह अत्याचार मचा?
निर्धन को धनी खा रहे हैं, यह बर्बर नर - संहार मचा!
वैभव-विलास-मय उच्च नगर हैं तुम्हें उधर ही खींच रहे,
फैला कर इन्द्रजाल अपना, अन्तर के लोचन मींच रहे!

ओ आतमसाधना के यात्री! तेरा पावन आवास यहाँ,
निर्मल नभ, धरणी हरित जहाँ, लाती है वायु सुवास जहाँ।
भोले – भाले सच्चे किसान तुमको न कभी भटकावेंगे;
अपने खेतों - खलिहानों का वे तुमको वृत्त सुनावेंगे।

कैसे कटती है रात, दिवस कैसे, तुमको समझावेंगे;
हे ग्रामदेवता! ग्राम तुम्हें पाकर कृतार्थ हो जावेंगे।
आओ, नवयुग के निर्माता! आओ, नवपथ के निर्माता!
आओ, नवयुग के निर्माता! आओ, नवजीवन के दाता!

हैं जीर्ण – शीर्ण ये ग्राम, जहाँ युग - युग से छाया अन्धकार;
ये रौरव भव में बसे हुए, सुन लो तुम इनकी भी गुहार।''

घन चले, फूट कर बरस पड़े, भरने अमृत से भव सारा;
बापू भी आश्रम से बाहर, बह चली किधर गंगा धारा ?

घन लगे बरसने रिमिक-झिमिक, कुछ हुआ और भी अंधकार;
बह चला प्रभंजन भी सन-सन बिजली चमकी ले द्युति अपार।
बापू कटि-बद्ध चले आश्रम को त्याग, व्यग्र आश्रमवासी !
इस समय कहाँ, इस असमय में, जाते हैं अपने अधिवासी ?

आश्रमवासी चिंतित, व्याकुल, कहते, "जाने का यह न समय,
विश्राम करो, बापू ! चलना प्रातः, जब हो शुभ अरुणोदय !
दुर्दिन है, सुदिन नहीं है यह, हम सभी चलेंगे साथ-संग;
एकाकी जायँ न आप कहीं, तम सघन, गगन का श्याम रंग।"

पर सुनते कब, किसकी बापू, वे सुनते आत्मा की पुकार;
वे सुनते निज प्रभु की पुकार, चल पड़ते, खुलता जिधर द्वार !
रह गई विनय अनुनय करती, पर कहाँ, किसी की वे मानें ?
वे चले आज एकाकी ही, उन्नत ललाट, सीना ताने !

कर में लेकर अपनी लकुटी, तन में मोटा उजला कंबल,
दृढ़ दृष्टि, सुदृढ़ गति, प्रगति पुष्ट, देने को ग्रामों को संबल !
वे चले स्वयं घन - गर्जन - से, विद्युत् के अविचल वर्जन - से,
प्रलयंकर भीम प्रभंजन - से, जलनिधि के भीषण तर्जन - से !

रह गए देखते खड़े सभी चित्रित से, जड़ित, चकित, विस्मित !
कितने दुर्जय, निर्भय हैं ये, यह भी विभूति प्रभु की विकसित !
बापू आश्रम से दूर - दूर, थे बहुत दूर, अपनी धुन में,
जा रहे चले गंभीर, शान्त, आत्मा के मधुमय गुंजन में।

बह रहा प्रभंजन था रह-रह, बापू बढ़ते झोंके सह-सह;
बाधाओं की, विपदाओं की प्राचीरें जाती थीं ढह-ढह !
बिजली बन करके कंठहार बापू के उर में सजती थी;
घन थे प्रसन्न, अमृत जल था, वंशी स्वागत की बजती थी।

ग्रामों की उत्सुक आँख लगी थी अपने नव अभ्यागत पर;
किसको सौभाग्य प्रदान करें, सब उत्कंठित थे स्वागत पर!
पथ की लतिकाएँ फूल रहीं, फूलों के घट थीं साज रहीं,
मधु भर के मंगल-घट में वे प्रतिहारी बनी विराज रहीं।

मन में प्रसन्न खगमृग अतीव, वरदान उन्होंने पाया था;
आज ही अहिंसा का स्वामी गृह तज कर बन में आया था।
थे मुदित मयूर-मयूरी मिल, हिलमिल कर गरवा नाच रहे;
सुरधनु-से पंख खोल अपने निज भाग्य-पृष्ठ थे बाँच रहे।

कर्कश-कठोर वह भूमि बनी करुणा जल पा करके कोमल;
बापू प्रसन्न, उन्मुक्त, सबल; थे चले जा रहे ले नव बल
झंझा की इधर झकोरें थीं, पर हिमगिरि उधर महान चला;
वर्षा की बूँदें थीं सहस्र, पर उधर भीम तूफ़ान चला।

ग्रामों का नव उत्थान चला, यह भव का नव निर्माण चला!
पद दलितों का अरमान चला, आत्माहुति का बलिदान चला।
थे चरण-चिह्न बनते पथ में, दृढ़-पुष्ट चरण, मिट्टी धँसती;
इतिहास लिख रही थी दुनिया, थी आज नई बस्ती बसती!

कितनी ही आँखें बिछ पथ पर, पदरज ले धरती थीं शिर पर;
वनबालायें वन घूम-घूम गाती थीं गायन, मादक स्वर!
बापू चल आये दूर, जहाँ निर्जन वन था, एकांत प्रांत,
था गाँव एक सेगाँव, जहाँ दो चार धाम थे खड़े शांत!

जैसे ग्रामों के प्रतिनिधि बन, वे हों स्वागत में सावधान!
सौभाग्य समझ अपने गृह का, ले गए उन्हें गृह में किसान!
बीती वह रात वहीं उनकी कुटियों में, पुण्य प्रभात हुआ,
तब देखा दुनिया ने विमुग्ध हो, एक ग्राम नवजात हुआ।

सेवाग्राम

वर्धा से दूर, सुदूर, नया है एक मनोहर बसा ग्राम,
जिसका है सेवाग्राम नाम, हैं जिसमें लघु-लघु बने धाम।
है यही देश का हृदय तीर्थ, है यही देश का हृदय - प्राण,
हैं उठते यहीं विचार दिव्य, जो करते जनगण-राष्ट्र-त्राण।

नवयुग के नये विधाता की यह है अजीब छोटी बस्ती,
जिसमें नवीन जीवन का क्रम, जिसमें नवीन दुनिया हँसती।
यह तपोभूमि, यह कर्मभूमि, यह धर्मभूमि है तेजमयी,
जिसमें सुलझाई जाती हैं सब जटिल ग्रन्थियाँ नई-नई।

यह है हिमाद्रि उत्तुंग, धवल, जिससे बहकर गंगा धारा—
करती है उर्वर, हरा-भरा भारत का गृह-आँगन सारा।
है यहीं सौर्य-मंडल, जिसके चारों ही ओर प्रकाशपुंज—
करते रहते हैं परिक्रमा, साजते दिव्य आरती-कुंज।

लेकर प्रकाश की रश्मि, कर्म की गतिविधि, रति-मति का संबल,
अगणित नक्षत्र उदित होते सुंदर स्वदेश-नभ में निर्मल।
यह शक्ति-केन्द्र, प्रेरणा-केन्द्र, अर्चना - केन्द्र, साधना - केन्द्र,
वंदन - अभिनंदन करते हैं जिसमें आकर नर औ' नरेन्द्र।

है यहीं मूर्ति वह तपोमयी, जो देती रह-रह नवल स्फूर्ति;
भरती इस देश अभागे की झोली में संबल वही मूर्ति।
वह मूर्ति, जिसे कहते बापू गाँधी, मनमोहन, महतात्मा,
रहती है यहीं, यहीं सोती, जगती प्रणम्य वह युग-आत्मा।

●

गीत

ऊषा के मधुमय अंचल में।

सुन पड़ती है घंटा-ध्वनि घन, उठ पड़ते आश्रमवासी जन,
प्रार्थना समय आता पावन; चल पड़ते सब पूजास्थल में,
ऊषा के मधुमय अंचल में।

बापू की कुटिया के समीप, आ जुड़ती जनता औ' महीप,
खिलता भक्तों का एक द्वीप, उठता है अमृत स्वर पल में,
ऊषा के मधुमय अंचल में।

प्रातस्मरामि वह आत्म तत्त्व, सच्चित्सुख जिसका है महत्त्व,
हम उसी ब्रह्म के शुद्ध सत्त्व, केवल न धूलिकण भूतल में,
ऊषा के मधुमय अंचल में।

छाती है उर में महाशान्ति, हटती है उर की महाभ्रान्ति,
फटती नवयुग की चिर अशांति, खिलता प्रकाश अंतस्तल में,
ऊषा के मधुमय अंचल में।

रह - रह बापू की तपोमूर्ति, तन - मन में देती नई स्फूर्ति,
होती अभाव की आज पूर्ति, जीवन के इस सुवर्ण पल में।
ऊषा के मधुमय अंचल में।

खिंचता है सहसा वही चित्र, ज्यों बोधिसत्त्व बैठे पवित्र,
पदतल सेवक जनता विचित्र, सब मंत्र - मुग्ध भवमंगल में।
ऊषा के मधुमय अंचल में।

प्राणों का कल्मष पिघल - पिघल, चाहता भागना निकल - निकल,
वह रश्मि फूटती है निर्मल; पथ दिखलाता कोलाहल में।
ऊषा के मधुमय अंचल में।

वह पुण्यवान, वह भाग्यवान, जिसने यह क्षण पाया महान,
जब प्रभु उर में हो भासमान, बल आ जाता है निर्बल में।
ऊषा के मधुमय अंचल में।

भ्रमण

संध्या की स्वर्णिम किरणें जब ढल छा जाती हैं तरुओं पर,
कुछ कलरव करते-सा उड़ते खगकुल तृण चुन-चुन अपने घर।
गोधूलि बनी संध्या-समीर पथ में उड़ती है कभी-कभी,
लौटते कृषक खलिहानों से कंधे धर हल-पुर-वस्त्र सभी।

सब चलती है टोली पथ में कुछ इने-गिने मस्तानों की,
घूमने साथ में बापू के, आज़ादी के दीवानों की।
"लो चलो, घूमनेवाले सब!"— बापू कहते आकर बाहर,
सुनकर वाणी आश्रमवासी आते कितने ही नारी-नर।

कुछ नन्हें-नन्हें बच्चे भी आकर कहते हैं मचल, मचल,
"छात चलेंगे अंबी, बापू!" आगे बढ़कर उछल-उछल।
मातायें कहतीं, "चल न सकेगा, खेल अभी, बेटा! घर में।"
बापू कुछ क़दम चला देते, शिशु का कर लेकर निज कर में।

आँसू आते हैं नहीं कभी, है हँसी खेलती अधरों पर,
वह जादू बापू कर देते, बच्चों से बातें कर मनहर।
यों ही औरों को भी तो वे चलना भव-पथ में सिखलाते,
सब चलते हैं दो-चार क़दम, फिर शिशु-से पीछे रह जाते।

शिशु सोचा करता खड़ा-खड़ा, वह थोड़ा और बड़ा होता,
बापू के साथ-साथ चलता, वह यों न कभी पिछड़ा होता।

चलते अनेक हैं साथ, किन्तु कुछ ही मंज़िल तक चल पाते;
कुछ पहले ही रुक जाते, कुछ थोड़ा चल पीछे रह जाते।

यह भ्रमण खोल-सा देता है उनके जीवन का गहन मर्म,
जो साथ चल सकें बापू के, दो-चार, नित्य जो निरत-कर्म।
कितनी गति इनकी तीव्र, चले सो चले, नहीं रोके रुकते;
कुछ भी आये सामने : शीत, हिम, विघ्न, नहीं पर ये झुकते ?

इनके चरणों में ही चल-चल इस गिरे राष्ट्र को बढ़ना है;
जिस ओर चलें जनगणनायक, घाटी-पर्वत पर चढ़ना है !
बापू ! न चलो तुम इस गति से, जिससे न कभी जन बढ़ पायें,
अग्रणी ! अकेले पहुँचो तुम, सब जनगण यहीं पिछड़ जायें ?

जब चलो, चलो इस गति-मति से, हम भी चरणों में चल पायें;
इस तिमिरावृत भारत-नभ में नवजीवन का प्रभात लायें।
है जिनका निश्चित ध्येय, स्पष्ट है मार्ग, और साधन निर्मल,
उनके चरणों के अनुगामी होंगे यात्रा में क्यों न सफल ?

उगता राष्ट्र

आज राष्ट्र निर्माण हो रहा अपना शत-शत संघर्षों में।
कहीं विजय है, कहीं पराजय, राष्ट्र उगा करता वर्षों में।

वीरव्रती हैं डटे समर में, भीरु खड़े हैं बनकर दर्शक;
अपने तन का मोह जिन्हें हो, उनको रण क्या हो आकर्षक ?
हम रण के कंकण पहने हैं, मरण हमें त्योहार - पर्व है;
पुरुष पराक्रम दिखलाते हैं, बल विक्रम का जिन्हें गर्व है।
मिलता है उत्कर्ष सभी को, पार उतर कर अपकर्षों में।
आज राष्ट्र निर्माण हो रहा अपना शत-शत संघर्षों में।

मस्जिद से मन्दिर लड़ते हैं, गिरजा से लड़ते बिहार, मठ;
धर्म अनर्थ कर रहा कितना ? करते हैं अधर्म पामर शठ !
वर्ण - वर्ण में छिड़ा द्वन्द्व है, जाति जाति से जूझ रही है;
स्वार्थ किये है व्यग्र सभी को, सुमति-सुगति कब सूझ रही है ?
आज जागरण है, जीवन है, शक्ति जग रही निष्कर्षों में।
आज राष्ट्र निर्माण हो रहा अपना शत-शत संघर्षों में।

वृद्धों से लड़ रहा तरुण दल, उनमें भी सेवा-उमंग है;
स्वतंत्रता के नव गीतों में साम्यवाद का चढ़ा रंग है।
भू-पतियों से कृषक लड़ रहे, धनिकों से हैं श्रमिक युद्धरत;
"जीवन नहीं, जीविका दो तुम !" गरज रहा है आज लोकमत।
धधकी महा उदर की ज्वाला रणचंडी के प्रण-हर्षों में।
आज राष्ट्र-निर्माण हो रहा अपना शत-शत संघर्षों में।

साम्राज्यों की नींव कँप रही, कँपती राज्यों की प्राचीरें;
जन-सत्ता जग पड़ी आज है, अब असह्य जनता की पीरें।
आज दुर्ग की ईंटें ढहतीं, बंकिम भ्रकुटि उठी राजों में;
जहाँ क्रूर तांडव प्रभुता का, लज्जा लुटती है ताजों में।
सिंहद्वार खुल गए सदा को किसी तपस्वी के स्पर्शों में।
आज राष्ट्र-निर्माण हो रहा अपना शत-शत संघर्षों में।

हम तो हैं उनके मतवाले, बलि-पथ पर जो रक्त चढ़ाते,
विजय मिले, या मिले पराजय, अपने शीश दान कर जाते।
हम तो हैं उसके मतवाले,— कौन नहीं होगा मतवाला ?
भारत - गोवर्धन उँगली पर उठा देश का-भार सँभाला।
उन विशाल बाँहों के बल पर जय अपनी रण-दुर्धर्षों में।
आज राष्ट्र-निर्माण हो रहा, अपना शत-शत संघर्षों में।

धर्मों के पाखंडवाद का भ्रम मिटता है धीरे-धीरे;
राष्ट्र-धर्म जग रहा मोक्षप्रद गंगा के, यमुना के तीरे।

आज मातृ-मंदिर उठता है बलिदानों की अचल शिला पर;
तरल तिरंगा लहर रहा है विजय-केतु बन सबके ऊपर।
कोटि-कोटि चरणों की ध्वनि में, कोटि-कोटि स्वर के घर्षों में।
आज राष्ट्र-निर्माण हो रहा अपना शत-शत संघर्षों में।

हलधर से

देखो, हुआ प्रभात, उधर प्राची में है लाली छाई।
जगो, किसानो ! आज तुम्हारे जगने की बेला आई।

जब तक तुम न जगोगे तब तक नहीं जगेगा हिन्दुस्तान;
हिन्दुस्तान बसा है तुम में, क्या तुम हो इससे अनजान ?
गाँवों में, पुरई - पालों में आज जागरण-शंख बजे,
चले तुम्हारी टोली, प्यारे ! तब भारत की सैन्य सजे।
जगा रहा युग, जगा रहा जग, जागो, हे सोये भाई।
जगो, किसानो ! आज तुम्हारे जगने की बेला आई।

तुम्हें नहीं क्या ज्ञात ? तुम्हारे बल पर चलते हैं शासन;
तुम्हें नहीं क्या ज्ञात ? तुम्हारे धन पर निर्भर सिंहासन।
तुम्हें नहीं क्या ज्ञात ? तुम्हारे श्रम पर सब वैभव-साधन;
तुम्हें नहीं क्या ज्ञात ? तुम्हारी बलि पर है सब विजय-वरण।
करुणा है यह सभी तुम्हारी, जो वसुधा है हरियाई।
जगो, किसानो ! आज तुम्हारे जगने की बेला आई।

तुम्हें नहीं क्या ज्ञात ? तुम्हीं हो जननी की अगणित संतान !
तुम्हें नहीं क्या ज्ञात ? तुम्हीं पर निर्भर है अपना उत्थान !
तुम्हें नहीं क्या ज्ञात ? राष्ट्र के तुम होशक्त, ठोस आधार;
बिना तुम्हारे उठे न उठ सकती है उन्नति की मीनार।

पौ फट चुकी' हट गए तारे, किरणें हैं भू पर छाईं,
जगो, किसानो! आज तुम्हारे जगने की बेला आई।

कोटि-कोटि हो तुम्हीं, धीरधर! अपनी जननी की सन्तान;
हिन्दू, मुसलिम, सिक्ख, पारसी, जैन, बुद्ध या हो क्रिस्तान।
हल है झंडा सदा तुम्हारा, हल के गाओ गौरव गान!
हल से हल हों सभी समस्या, सहल बने अपना मैदान।
चलो आज तुम कोटि-कोटि मिल, बही जागरण-पुरवाई।
जगो, किसानो! आज तुम्हारे जगने की बेला आई।

हल के बल पर तुम उपजाते ऊसर में भी गेहूँ-धान;
हल के बल पर तुम देते हो क्षुधित-तृषित को जीवन-दान।
हल का पूजन करो आज फिर, हल की उठे निराली तान,
हल से हल हों सभी समस्या, हलका होवे भार महान!
हल के गाओ गीत निराले, बढ़ो, विजय वरने आई।
जगो, किसानो! आज तुम्हारे जगने की बेला आई।

चले तुम्हारा हल धरणी में, लिखे तुम्हारे बल के लेख;
शस्य श्याम जो भो लहराता, श्रमसीकर की जिन पर रेख।
चले तुम्हारा हल धरणी में, ऊसर बनें खेत उर्वर;
कूड़े का भी भाग्य जग उठे, अन्नराशि हो वहाँ प्रचुर।
दीन न निर्धन तुम रह सकते, साहस ने ही जय पाई।
जगो, किसानो! आज तुम्हारे जगने की बेला आई।

कितने भोले हो, ग़रीब हो, इसका तुमको ज़रा न ध्यान;
अपनी ही अज्ञान-दशा में पाते हो तुम कष्ट महान।
तुम अपने को पहचानो तो, फिर न रहेगा यह दुख दैन्य;
निर्बल की सब बलि देते हैं, बली सजाते हैं रण-सैन्य!
देख रही माता अधीर हो, उठो, लाल! जागो, भाई!
उठो, किसानो! आज तुम्हारे जगने की बेला आई।

●

मज़दूर

पृथ्वी की छाती फाड़, कौन यह अन्न उगा लाता बाहर ?
दिन का रवि-निशि की शीत कौन लेता अपनी सिर - आँखों पर ?
कंकड़ पत्थर से लड़-लड़कर, खुरपी से और कुदाली से,
ऊसर बंजर को उर्वर कर, चलता है चाल निराली ले।

मज़दूर! भुजायें वे तेरी, मज़दूर, शक्ति तेरो महान;
घूमा करता तू महादेव! सिर पर लेकर के आसमान!
पाताल फोड़कर, महाभीष्म! भूतल पर लाता जलधारा;
प्यासी भूखी दुनिया को तू देता जीवन - सबल सारा!

खेती से लाता है कपास, धुन-धुन, बुन कर अंबार परम;
इस नग्न विश्व को पहनाता तू नित्य नवीन वस्त्र अनुपम।
नंगी घूमा करती दुनिया, मिलता न अन्न, भूखों मरती,
मज़दूर! भुजायें जो तेरी मिट्टी से नहीं युद्ध करतीं!

तू छिपा राज्य-उत्थानों में, तू छिपा कीर्ति के गानों में;
मज़दूर! भुजायें तेरी ही दुर्गों के श्रृंग-उठानों में।
तू छिपा नवल निर्माणों में, गीता में और पुराणों में;
युग का यह चक्र चला करता तेरी पद-गति की तानों में।

तू ब्रह्मा - विष्णु रहा सदैव,
तू है महेश प्रलयंकर फिर।
हो तेरा तांडव, शंभु! आज
हो ध्वंस, सृजन मंगलकर फिर!

जागो, हुआ बिहान !

किस रजनी के मधुर अंक में खोई अलसित घड़ियाँ ?
राज्य ध्वंस हो गया, लुट गया वैभव, मणिक - मणियाँ !
देखो घर की श्री-संपद् का कौन बना अधिराज ?
जागो, जागो ऐ स्वदेश ! लुट गया तुम्हारा ताज !
मेरे हिन्दुस्तान ! जागो, हुआ बिहान !

काशी लुटी, अयोध्या अपनी, मथुरा लुटी विशाल;
परदेशी ले गए उठाकर, भर सुवर्ण के थाल !
इन्द्रप्रस्थ के सिंहासन पर देखो बैठा कौन ?
जागो, जागो, ऐ स्वदेश ! है व्यथा जगाती मौन !
मेरे हिन्दुस्तान ! जागो, हुआ बिहान !

यह दरिद्र का वेश, बन गये हो भिक्षुक, कंगाल !
छिपा रहे हो फटे जीर्ण वस्त्रों से तन कंकाल !
दो-दो दानों को तुम देते अपना हाथ पसार,
दग्ध कपोलों पर बहती रहती आँसू की धार !
मेरे हिन्दुस्तान ! जागो, हुआ बिहान !

मुट्ठीभर सेना का शासन, तुम असंख्य भी दीन !
इससे ज़्यादा और तुम्हारी क्या होगी तौहीन !
रणभेरी की चोट तुम्हारा करती है आह्वान,
जागो, जागो, कोटि-कोटि तुम, भारत की संतान !
मेरे हिन्दुस्तान ! जागो, हुआ बिहान !

भीम और अर्जुन के पुत्रो, बने हुए हो दास !
ऐसे पराधीन जीवन से मधुर मृत्यु का पाश !

कुरुक्षेत्र में गूंज रहा है भैरव शङ्ख - निनाद;
जागो, जागो, आज पांडवों के रण के उन्माद!
मेरे हिन्दुस्तान! जागो, हुआ बिहान!

जीना हो तो जियो आज बनकर स्वतन्त्र हे वीर!
नहीं, समा जाओ नीचे पृथ्वी की छाती चीर!
जागो, जागो, आज महा- भारत के भीषण गान!
भू को कंपित करनेवालो! जगो, करो प्रस्थान
मेरे हिन्दुस्तान! जागो, हुआ बिहान!

हमको ऐसे युवक चाहिए

ब्रह्मचर्य से मुखमंडल पर चमक रहा हो तेज अपरिमित,
जिनका हो सुगठित शरीर, दृढ़ भुजदंडों में बल हो विकसित
जिनका हो उन्नत ललाट, हो निर्मल दृष्टि ज्ञान से दीपित,
उर में हो उत्साह उच्छ्वसित, साहस, शक्ति, शौर्य हो संचित।
देश - प्रेम से उमड़ रहा हो जिनकी वाणी में जय-जय स्वर,
हमको ऐसे युवक चाहिए, सकें देश का जो संकट हर!

रस - विलास के रहे न लोलुप, जिनमें हो विराग वैभव का,
अतुल त्याग हो छिपा देशहित, जिन्हें गर्व हो निज गौरव का।
सेवाव्रत में जो दीक्षित हों, दीन - दुखी के दुख से कातर,
पर - संताप दूर करने को ललक रहा हो जिनका अंतर।
बने देश के हित वैरागी, जो अपना घरबार छोड़कर,
हमको ऐसे युवक चाहिए, सकें देश का जो संकट हर।

सदा सत्य पथ के अनुयायी, जिन्हें अनृत से मन में भय हो,
दुर्बल के बल बनने के हित जिनमें शाश्वत भाव उदय हो।

जिन्हें देश के बंधन लखकर कुछ न सुहाता हो सुख - साधन,
स्वतंत्रता की रटन अधर में, आज़ादी जिनका आराधन,
जो शिर-सुमन चढ़ा सकते हों हर्षित हो माँ के चरणों पर,
हमको ऐसे युवक चाहिए, सकें देश का जो संकट हर।

●

ओ तरुण !

ओ तरुण ! तेरी ज़माना देखता है राह !
किधर तेरी वाह उठती, किधर तेरी आह !
तू रहे औ' हो जवानी, देश हो लाचार ?
तो तुझे, तेरी जवानी पर, अरे धिक्कार !

देखता तू बाट किसकी ? देख अपना जोश;
देख, जननी बंदिनी, कब से पड़ा बेहोश !
रक्त की बूँदें न फिर भी जल बनें अंगार;
दूर हट, मत मुख दिखा, ओ मातृ - भू के भार !

अरुण आँखों में रहें घिरते प्रलय के मेघ;
चाल में बिजली चमकती हो सघन तम देख,
अभय मुद्रा में उठा हो हाथ बन वरदान;
मस्तकों पर पथ बना चल, ओ प्रबल तूफ़ान !

बढ़ उधर हुंकार भर, हो जिधर गर्जन घोर;
छीन ले झंडा कि जिनका घट गया हो ज़ोर।
आज मानवता तुझे ही देखती, हे वीर !
आँख में आँसू न हो, वह खींच दे तस्वीर !

●

ओ नौजवान

ओ नौजवान ! ओ नौजवान !

तेरे भ्रू-भंगों से सीखा करता है प्रलय नृत्य करना;
सीखा करता तेरी वाणी से काल ताल अपनी भरना।
तेरी उमंग से सिंधु-उर्मि नित सीखा करती हैं उठना;
सीखा करता तेरे मानस से गगनांगन विशाल बनना।
मेरे असीम ! सीमा मत बन, तेरी ही पृथ्वी, आसमान !
ओ नौजवान ! ओ नौजवान !

तेरे उभार के साथ उभरती है दुनिया में सुंदरता;
तेरे निखार के साथ निखरती है दुनिया में मानवता।
बनता है जर्जर विश्व तरुण, छाती है दिशि-दिशि में लाली;
पतझर में खिलता नव जीवन, हँस उठती तरु में हरियाली !
बुलबुल गुल को चटकाती है, कोकिल भरती है नई तान।
ओ नौजवान ! ओ नौजवान !

तेरी मस्ती के आलम में दुनिया को मिल जाती मस्ती;
तेरी हस्ती की बरकत में सब पाते हैं अपनी हस्ती।
क्या लेगा कोई दान और, तू जान किए रहता सस्ती;
तेरे बसने के साथ-साथ है एक नई बस्ती बसती।
तू खुद ही एक ज़माना है, गा रही जवानी जहाँ गान !
ओ नौजवान ! ओ नौजवान !

यह क़ौम तुझे ही देख-देख होती मन में मतवाली है;
फिर से दीपक में बुझे हुए उठने लगती नव लाली है !
जो मुरझ चुके, पानी न मिला, आती उनमें हरियाली है;
तू आता, तेरे पदनख से फटती जाती अँधियाली है !
तू प्राची का पावन प्रभात, तू कंचन किरणों का वितान !
ओ नौजवान ! ओ नौजवान !

तू नई पौध अरमानों की, तू नया राग मस्तानों का;
तू नया रंग, तू नया ढंग दीवानों का, मर्दानों का।
तू नया जोश, तू नया होश अपनों का औ' बेगानों का,
तू नया ज़माना, नई शान, ईमान नया ईमानों का!
है उथल-पुथल होती रहती लख तेरे पाँवों के निशान।
ओ नौजवान! ओ नौजवान!

प्रयाण-गीत

युग-युग सोते रहे आज तक, जागो तो, मेरे वीरो!
तरकस में बँध हुए जीर्ण, अब तो चमको, मेरे तीरो!
यह भी क्या जीवन है, जिसमें हो यौवन की लहर नहीं?
चढ़ ख़राद पर, तिलतिल कटकर चमको तो, मेरे हीरो!

वह यौवन क्या, जिसके मुख पर खिलता शोणित-रंग नहीं?
वह यौवन क्या, जिसमें बढ़ने की हो अमर उमंग नहीं?
शैशव ही सुखमय है ऐसा यौवन आने के पहले,
मर-मर-कर जीने की जिसमें उठती तरल तरंग नहीं!

चढ़ती हुई जवानी में तो आगे बढ़ जाओ, प्यारे!
बढ़ती हुई रवानी में तो आगे बढ़ जाओ, प्यारे!
पीछे ही हटना है फिर तो, आगे जाना सहज नहीं,
इस उभार की यादगार में कुछ तो गढ़ जाओ, प्यारे!

रूपराशि की दीप-शिखा पर मरनेवाले परवाने!
प्रेम-प्रेम के मधुर नाम को रटनेवाले दीवाने!
वह भी क्या है प्रेम, न जिसमें छिपी देश की आग रहे?
जन्मभूमि के चरणों में मिट, अमिट! तुझे दुनिया जाने!

अभियान-गीत

आज चली है सेना फिर से धीर - वीर - मस्तानों की;
आज़ादी के दीपक पर है भीड़ लगी परवानों की।

मनमोहन है शंख बजाता, कुरुक्षेत्र में हलचल है,
वर्धा के आँगन में सजता फिर शूरों का दल-बल है।
चले जवाहर से नरनाहर बनने बंदी दीवाने,
औ' आज़ाद कफ़स को लेने, पीने विष के पैमाने।
कौन रोक सकता है होली इन बढ़ते दीवानों की ?
आज चली है सेना फिर से धीर - वीर - मस्तानों की !

वे कल चले, आज हम जाते, परसों उनकी बारी है;
दर-दर में उत्सव जलूस है, घर - घर में तैयारी है।
मिला सुयोग युगों में हमको, माँ के पद का पूजन है;
कितने शीश चढ़े चरणों में, आज बृहत् आयोजन है !
अंबर में ध्वनि गूँज रही है माँ की जय-जय तानों की;
आज चली है सेना फिर से धीर - वीर - मस्तानों की।

सत्याग्रही बने वह, जिसका देशप्रेम से नाता हो,
प्राणों से भी प्यारी जिसको अपनी भारत - माता हो,
प्राण जायँ, छोड़ें न कभी प्रण, ऐसी टेक निभाता हो,
स्वतंत्रता की रटन अधर में जिसका भाग्य विधाता हो।
बलिवेदी पर भीड़ लगी है आज अमर बलिदानों कीं;
आज चली है सेना फिर से धीर - वीर - मस्तानों की !

जागरण

आज जागरण है स्वदेश में, पलट रही है अपनी काया;
नवयुग ने नव तन, नव मन से, देखो, नव चेतन लहराया।

आज पददलित पुनः उठ रहे, सह न सका अपमान अधिक चित;
पद-रज भी ठोकर खा करके सिर पर चढ़ आती उत्तेजित।
बंदीगृह के टूट चुके हैं लौह द्वार अब पद-प्रहार से;
हथकड़ियों की लड़ियाँ टूटीं वीरों के बलिदान-भार से।
विद्रोही हैं राष्ट्र-विधाता, सिमटी मायावी की माया;
आज जागरण है स्वदेश में, पलट रही है अपनी काया।

मिटी निराशा की अँधियाली, आशा की अरुणिमा उषा है;
नव शोणित की लहर उठी है, शिथिल शक्ति ने पिया नशा है।
भुज-दंडों के लौह-दंड में वज्र-शक्ति जग रही आज है;
जिसके वक्षस्थल में बल है, उसके सिर पर सदा ताज है।
आज आत्मबल ऊपर उठता, पशु-बल पद-तल पर झुक आया;
आज जागरण है स्वदेश में, पलट रही है अपनी काया।

दासों के पददलित हृदय में स्वतन्त्रता की जगी आग है;
कालों ने है शीश उठाया, महानाश का छिड़ा राग है।
कायर भी बढ़ते हैं रण में, वीर-भाव का वह प्रभाव है;
समर - सिंधु तरते मतवाले, जिनमें बल - विक्रम अथाह है।
डूब गये दुर्बल कुछ बढ़कर, धीरों ने दृढ़ तट है पाया,
आज जागरण है स्वदेश में, पलट रही है अपनी काया।

आज ग़ुलामों के भी दिल में उमड़े आज़ादी के शोले;
जुगनू से लगते आँखों में विस्फोटक ये बम के गोले।
महानाश का राग छेड़ते बढ़ते आगे विप्लववाले;
कालकूट के तिक्त घूँट को पीते हैं मधु-सा मतवाले।

सिंधु बिंदु में आ सिमटा है, वह उत्साह रक्त में छाया;
आज जागरण है स्वदेश में, पलट रही है अपनी काया।

अपने घर में आग लगाकर फाग खेलते हैं मतवाले;
शोणित के रँग से रँग लेते मतवाले निज कवच निराले।
नहीं हाथ में धनुष-बाण है, नहीं चक्र, शूली, कृपाण है;
लड़ते हैं फिर भी मतवाले, शीश सत्य का शिरस्त्राण है।
बलिदानों की मुंडमाल से हरि का सिंहासन थर्राया;
आज जागरण है स्वदेश में, पलट रही है अपनी काया।

आज मरण में जीवन जगता, यों तो जीवन बना भार है;
आज़ादी की नींव बनें हम, यह सबके मन की पुकार है।
बढ़ चलते जड़ चरण चपल हो, रण-प्रांगण में हृदय हुलसता;
वैभव के विलास के गृह में त्यागी का तप तेज झुलसता।
आत्मत्याग की अमर-भावना ने मृतकों को अमृत पिलाया;
आज जागरण है स्वदेश में, पलट रही है अपनी काया।

कणिका

अपने जीते जी मैं देखूँ तव पैरों में कड़ियाँ!
क्यों न टूट पड़ती हैं मुझ पर तो नभ की फुलझड़ियाँ?

यह असह्य अपमान जलाता है अन्तर में ज्वाला!
माँ! कैसे मैं ही पी लूँ प्रतिशोध–गरल का प्याला?

प्राण और प्रण की बाज़ी का लगा हुआ है फेरा।
उतरेंगी तेरी कड़ियाँ, या उतरेगा सिर मेरा!

बेतवा का सत्याग्रह

गंगा से कहती थी यमुना, तुम बहन, दूर से आती हो,
जाने कितने ही प्रान्त-नगर छू करके तीर्थ बनाती हो।
कुछ कहो बहन, ना, आज देश की ऐसी पावन नव्य कथा,
जिससे जागृति की ज्योति मिले, यह झिले हृदय की तिमिर-व्यथा !

गंगा बोली, यमुने ! तुम भी करती हो मुझसे अठखेली ?
तुम मुझसे पूछ रहीं, रानी, कुछ नये रंग की रँगरेली ?
तुमने वंशी का गान सुना, गीता के ज्ञानोपदेश सुने;
यमुने ! तुमको क्या बतलाऊँ ? तुमने सब वेद, पुराण सुने।

छोड़ो उन वेद-पुराणों को, छोड़ो गीता के गानों को;
कुछ नवयुग की प्रिय बात कहो, छोड़ो भूले आख्यानों को।
तो नवयुग की तुम, सखी, बनीं; नवयुग की तुमको लगी हवा;
आओ, दूँ तुमको एक धौल, हो जाय तुम्हारी ठीक दवा।

यमुने ! तुम कितनी भोली हो ? भूली बन बात बनाती हो;
भूले जा सकते क्या मोहन ? तुम मन में बात चुराती हो।
मैं छीन नहीं लूँगी तेरी गोदी से श्याम सलोने को;
यों बात बना न लगाओ तुम मोहन के श्याम दिठौने को।

यमुने ! तुम सदा सुहागिन हो, तुमको प्यारे घनश्याम रहें;
गंगा गरीबिनी नहीं, धनी है, घर में राजाराम रहें।
यमुने ! भूला जा सकता है क्या गीता का भी अमर गान ?
जो है अतीत का गर्व लिए, घेरे भविष्य औ' वर्तमान।

रानी मेरी ! तुम भूल गईं, इतिहास स्वयं दुहराता है;
वह कुरुक्षेत्र का मनमोहन अवतार नये धर आता है।
होता है फिर से द्वंद्व युद्ध, वह भारत नहीं अंत होता;
कौरव-पांडव फिर लड़ते हैं, धीरज, हा हंत ! विश्व खोता।

भूमिका बहुत तुम बाँध चुकीं, अब तो अपना मंतव्य कहो;
किस ओर चाहतीं ले जाना, वह मर्म-कथा, गंतव्य कहो।
गंगा बोली—मेरी सजनी ! मत आपस में यों रार करो,
लो सुनो, कथा मैं कहती हूँ, अब सुनो, हृदय उल्लास भरो।

बुंदेलखंड जनपद महान, गूँजे हैं जिसके अमर गान,
मैं आज उसी की कहती हूँ लघु कथा, किंतु अति कीर्तिमान।
बुंदेलखंड, सुन्दर स्वदेश, बेतवा जहाँ गलहार बनी—
बहती रहती, सींचती धरा, वन-उपवन का शृंगार बनी।

बुंदेलखंड, गौरव अखंड, जिसके वर वीर लड़ैतों ने,
कंपित दिगंत को किया, जिसे वर्णित है किया अल्हैतों ने,
इस नवयुग में भी नये वीर, ध्रुव-धीर जहाँ पर वर्तमान,
जिसके बलिमय सत्याग्रह के गीतों से अंबर गीतमान,

हम्मीरदेव का गौरव-थल अब भी हमीरपुर बसा जहाँ,
बेतवा जहाँ इठला-इठला खेला करती है यहाँ-वहाँ।
कुछ कृषक जा रहे एक दिवस, थी जिनके पास छदाम नहीं,
बेतवा पार, बेचारों के थे धाम बने उस पार, वहीं।

घाटिया देखकर आ पहुँचा, बोला—"बद्‌माशो ! चोरी कर
इस पार, इस तरह आ पहुँचे ! अच्छा दे दो अब अपना कर।"
देते क्या दीन किसान उसे ? जो पैसा होता पास कहीं,
तो क्यों जाते जल में हिलकर, जाते क्यों चढ़कर, नाव नहीं ?

बोले किसान, "सरकार! एक भी पैसा पास नहीं अपने,
फिर दूर घाट से हिल करके बेतवा पार की है हमने।"
"मैं कुछ न जानता हूँ, करते हो बहस, उतारो तो कपड़े;
नंगे जाओ अपने घर को, देखता, बहुत तुम हो अकड़े।"

घाटिया बड़ा था क्रूर, निठुर, उसको था धन से बड़ा लोभ;
यदि छूट जाय धेला भी, तो होता था उसको बड़ा क्षोभ।
बेरहम घाटिया हुआ, कहा— "आओ, ओ मेरे जमादार!
ये बहस बहुत मुझसे करते, आये करके बेतवा पार!

"हैं घाट छोड़कर आये हम,' कहते-'कर तुम्हें नहीं देंगे;'
ले लो कपड़े-लत्ते इनके, जो करना हो, ये कर लेंगे।"
जैसे मालिक, वैसे नौकर, वे कड़े कसाई-से थे, फिर
बोले—"खोलो कपड़े - लत्ते वरना, हंटर खाओगे फिर।"

अधनंगे यों ही रहते हैं भोले - भाले, मारे किसान;
उस पर प्रहार यह, हा! विधिना! यह न्याय निठुर तेरा महान!
कपड़े लत्ते खुलवा करके उनको दे करके चपत चार,
भेजा बस एक लँगोटी में, इस निर्धनता में कड़ी मार!

थे देख रहे इस नाटक को कुछ सहृदय सज्जन वहीं खड़े;
उनका मन भी फट गया, यदपि थे जी के वे भी ख़ूब कड़े।
सोचा—यह तो है अनाचार अपने उन दीन किसानों पर,
हम फलते और फूलते हैं, बलि पर, जिनके एहसानों पर!

वे चले गये, रोते - धोते नंगे - अधनंगे, ठिठुर - ठिठुर;
पर क्रूर घाटिया - सा होता है सबका हिरदय नहीं निठुर!
जो अश्रु गिरे थे धरती पर, वे अंगारे बनकर सुलगे;
थे खड़े देखते जो दर्शक, उनके मन में बन आग जगे!

जो खड़े हुए थे तेजस्वी, उनके कुल का सम्मान जगा;
हम खड़े रहें—हो अनाचार, उनके मन का अभिमान जगा!
तो धिक् है ऐसे जीवन पर, यदि हमीं मरे, तो जिया कौन?
इसका प्रतिकार करेंगे हम— थी हुई प्रतिज्ञा आज मौन?

कारा हो, चाहे फाँसी हो; प्रतिकार करेंगे हम इसका;
अन्याय न देखेंगे अब फिर, क्या मोह क्षणिक इस जीवन का !
वे धन्य वीर! अन्याय देख कर पड़ता खून उबल जिनका;
वे धन्य धीर! बलि होने को पड़ता हो प्राण मचल जिनका !

ऐसे ही तो दो-चार सत्य- बल वालों से धरती स्थिर है;
अन्यथा न जाने कितनी ही बेला धँस यह उबरी फिर है।
घाटिया जुल्म करता रहता; पर यह ज़्यादती घटाने को—
तैयार हुए कुछ मतवाले कर का अन्याय मिटाने को!

जिन मनमोहन की वंशी से निद्रित भारत यह जाग उठा,
उसके ही कुछ गोपों का दल बलि होने को अनुराग उठा।
जन-जन में यह चर्चा फैली, मन-मन में था यह कौतूहल,
है सत्याग्रह का दिवस कौन? पुर नगर प्रान्त में थी हलचल !

रणभेरी बाज उठी घर-घर, दर-दर से सजा जुलूस चला;
बेतवा नदी का सत्याग्रह देखने विपुल जनगण उमड़ा।
ये तपसी, तेजस्वी महान, जो देख न सकते अनाचार,
थे एक ओर, दूसरी ओर घाटिया और थे जमादार।

बेतवा किनारे लगा हुआ था आज अनोखा ही मेला;
बुंदेलखंड था उमड़ पड़ा, आई नवजीवन की बेला !
संघर्ष आज द्वन्द्वों का था जनता से औ' प्रभुसत्ता से,
संघर्ष आज द्वन्द्वों का था लघुता से और महत्ता से।

प्रतिबिम्ब पड़ रहा था जल में बुंदेलखंड के धीरों का,
जिनके चंदन-चर्चित मस्तक, अर्चित सुहृदय बरवीरों का।
बेतवा स्वयं ही दर्पण बन जैसे उनकी छवि आँक रही,
शत-शत आँखों शत-शत छवि भर अंतर में गरिमा टाँक रही।

थे ब्रिटिशराज के राजदूत शासकगण अपनी सैन्य लिए;
थे इधर बुँदेलों के सपूत, पावन थे इनके स्वच्छ हिए।

जिन देशव्रती मतवालों की रणभेरी बाजी थी पहले,
"बेतवा करेंगे पार आज !" घाटिया सभी वे थे दहले।

वेतवा आज लहराती थी, लहरों में थी नूतन उमंग;
युग - युग में आज बुँदेलों के मुख पर चमका था रक्त-रंग।
कुछ तो जीवन इनमें जागा, कुछ तो यौवन इनमें जागा,
युग-युग में सही, आज तो था प्राणों का अलस तिमिर भागा।

आल्हा - ऊदल की स्वर्गात्मा भी तृप्त हुई होगी मन में,
जागे तो अपने कुछ जवान, जीवन तो है कुछ जन-जन में।
है नहीं आज तलवार - खड्ग, पर आत्मा खूब चमकती है;
बलि होनेवालों के आगे असि कुंठित बनी दबकती है।

बोलो भारत माता की जय ! बोलो जनगणत्राता की जय !
गूँजी जय-ध्वनि यों बार-बार, बढ़ चले वीरवर इधर अभय !
हथकड़ी बेड़ियाँ लिए खड़े थे उधर लाल पगड़ी वाले;
ये इधर चले वेतवा पार करने अपने कुछ मतवाले।

वेतवा सोचती—धन्य भाग्य ! मैं इनके चरण पखार रही,
जो चले न्याय पर मिटने को, मैं जी भर उन्हें निहार रही।
लहरें आ-आ बल खाती थीं, पल-पल आ-आ इठलाती थीं;
जाने था उनको हर्ष कौन ? गुपचुप - गुपचुप बतलाती थीं।

कहती थीं—है जाग्रत् स्वदेश ! अब जागेगा बुंदेलखंड;
आया है नवयुग का प्रभात, होगा फिर निज गौरव अखंड।
जब बिना शस्त्र ही लड़ने को इन वीरों में जागा गौरव,
तब कौन रोक सकता उनको, आत्माहुति हो जिनका वैभव ?

उन्नत ललाट, नव तेज लिए, मुख पर नव श्री थी खेल रही;
जाने किस तपसी की आभा थी सभी भीरुता झेल रही !
जैसे वह सत्य स्वयं ही आ श्री का मंडल हो बाँध रहा;
सब निष्प्रभ थे इनके समक्ष, ऐसा था ज्योति-प्रवाह बहा।

आँखों में थी करुणा गहरी, अधरों पर थी मुसकान भरी,
उर में उमंग, स्वर में तरंग, थी नूतन दिव्य ज्योति निखरी !
जयमाल लहरती वक्षस्थल, वह देवों की वरमाल बनी,
ये देवमूर्ति - से थे त्रिमूर्ति, जिनको पा थी बेतवा धनी !

टूटी पड़ती थी भीड़ देखने को वीरों का महोत्साह,
व्याकुल उत्सुकता, उत्कंठा, इन सबका था अद्‌भुत प्रवाह।
थी एक मधुर-सी स्पृहा अमर तब जनगण-मन में जाग रही;
जग रही एक थो आत्मशक्ति, भीरुता सभी थी भाग रही।

सबके मन में यह भाव जगा, था नूतन एक प्रभाव जगा,
सब कुछ होकर भी कुछ न हुए, सब में था एक अभाव जगा।
यदि होते सत्याग्रही, सत्य के लिए अभय आगे बढ़ते,
तो होता जीवन-जन्म सफल, हम भी तब सुयश-शिखर चढ़ते।

हैं धन्य ! यही हम देख रहे आँखों के आगे वीर-कर्म।
अन्याय मिटाने जाते जो, उनका दर्शन भी पुण्य-धर्म।
थे ब्रिटिश राज के दूत—ज़िला के अधिपति और दरोग़ा भी;
"मत इधर बढ़ो, अन्यथा बनोगे बंदी," उनको रोका भी।

"क़ानून भंग कर रहे, समझते हम, इसका है हमें ध्यान,
तुम क़ैद करो, बंदी कर लो, दो दंड, कहे जो भी विधान !
है मान्य सभी, पर न्याय यही कहता है हमसे बार बार,
कर उसे नहीं देना चहिए जो घाट छोड़कर करे पार।"

"कर लो बंदी इनको, इनने क़ानून अभी है भंग किया;
कारागृह ले जाओ इनको, जिसका है इनने वरण किया।"
पड़ गईं हाथ में हथकड़ियाँ, वे जीवन की मधुमय घड़ियाँ,
हम जिन्हें पहनकर खंड-खंड कर रहे दासता की कड़ियाँ।

भारत माँ की जयकार हुई कूलों में और कछारों में;
गाँधीजी की जय-जय गूँजी लहरों में और कगारों में।

कारागृह भेजे गए वीर, वे चले हर्ष से मुसकाते;
जो बढ़ते दुःख मिटाने को, वे दुःख नहीं मन में लाते।

घर-घर में अति कौतूहल था दर - दर में उनकी चर्चा थी;
स्वर-स्वर में उनका नाम चढ़ा, उर-उर में उनकी अर्चा थी।
बैठे हैं न्यायाधीश आज, न्यायालय में जनता उमड़ी;
न्यायालय आये बंदीगण, हाथों में थी हथकड़ी पड़ी।

अधरों पर थी मुसकान मंद, मुख पर नवतेज छलकता था;
ये अपराधी हैं नहीं, वीर, रह-रह यह भाव झलकता था।
युग-परिवर्तन का क्षण आया, अब चल न सकेगा अनाचार;
सोई जनता है जाग उठी, युग-धर्म रहा सबको पुकार।

रह-रह बढ़ती थी अधिक भीड़, रह-रह जनता होती अधीर;
क्या दंड बंदियों को मिलता— था एक प्रश्न, थी एक पीर।
क्या निर्णय न्यायाधीश करें, क्या बने आज सबका विधान ?
ये दोषी हैं या नहीं, यही जिज्ञासा थी सबमें समान।

है घाट एक ही सीमा तक, हो सकता घाट असीम नहीं;
फिर सभी किनारे कर लेना, हो सकता है यह न्याय नहीं ?
गंभीर हुए चिंतन में पड़, जज उठे, भीड़ भी उमड़ पड़ी;
क्या निर्णय होता ? सुनने को जनता थी आकर द्वार खड़ी।

"बेतवा-घाट की," जज बोले, "निश्चित है जो सीमा रेखा,
उसके भीतर आ कर देना— यह नियम नहीं हमने देखा।
जो भी सीमा को छोड़, घाट से दूर, नदी से हैं आते,
उनसे कर लेना अनुचित है क़ानून, न्याय के भी नाते।

ये अपराधी हैं नहीं, नहीं अपराध यहाँ कोई बनता,
इसलिए मुक्त ये किए गए।" हर्षध्वनि में डूबी जनता !
इन धीर - वीर बुंदेलों ने अपने मस्तक पर ले प्रहार,
कर दिया सदा के लिए बंद दीनों - दुखियों पर अनाचार।

ये धन्य अग्रणी ! दीन-बंधु, जो उठा गरल को पीते हैं,
ये शिवशंकर, ये प्रलयंकर जग को अमृत दे जीते हैं।
उन बंदीजन की अरुणाभा थी विजय-आरती साज रही;
गाने को स्वागत—विजय-गीत थी सुकवि-भारती राज रही !

हो गया घाटिया पीतवर्ण, हत-कान्ति-दर्प, अभिमान गया;
नतमस्तक वह लौटा अधीर, उसका दर्पित अरमान गया।
तीनों ही थे हो गए मुक्त, कर हुआ मुक्त, अन्याय मुक्त;
वे आये दीन किसान वहाँ, जो थे पहले ही दुःख-युक्त !

जिनके कपड़े - लत्ते लेकर घाटिया बहुत ही अकड़ा था।
अन्यायी का था गर्व गलित, न्यायी का ऊपर पलड़ा था।
जनता में आया जोश, कहा–– "सब चलो बेतवा पार करें;
अधिकार मिला, उपयोग करें युग-युग का यह अन्याय हरें।"

जागी होगी करुणा अवश्य उस दिन उस जगन्नियंता की,
संकल्प उठा जिस दिन मन में, चल पड़े वीर वे एकाकी !
कुछ अस्त्र नहीं कुछ शस्त्र नहीं, कुछ सेना - साथो नहीं साथ;
ये चले युद्ध करने लेकर बस सत्य-न्याय की शक्ति साथ !

उन रघुपति की आ गई याद, जो एक दिवस थे इसी भाँति
चल पड़े युद्ध करने प्रबुद्ध, पैदल, रथ-गज की थी न पाँति।
बरसी थी नभ से सुमन-राशि उन रघुवंशी वर वीरों पर;
दशमुख बिंध पद पर लोट गए जिनके तेजस्वी तीरों पर।

अब तो क्या था ? वह सभी भीड़ पानी में उतरी पाँव-पाँव;
उस पार चली, इस पार चली, था आज घाटिया का न नाँव।
यह था न, घाटिया हो न वहाँ, पर आज पराजित बना मूक,
देखता रहा सब जड़ बनकर, उर में उठती थी एक हूक।

वह भी तो वीर बुंदेला था, उसमें था भावुक एक हृदय,
वह सोते से जागा जैसे, बोला, "बुँदेलवीरों की जय !"

वह सत्याग्रह, वह जागृति-क्षण, जय ध्वनि जो गूँजी प्रहरों में;
है लिखा मौन इतिहास आज बेतवा नदी की लहरों में।

घाटिया और वे जमादार, थे किए जिन्होंने अनाचार,
आये लज्जा से विगलित हो, नतमस्तक दृग में सजल धार।
उन नेताओं के चरणों में झुक गए सभी, करके प्रणाम;
बुंदेलखंड की जय गूँजी, थी हर्ष-हिलोरें वे प्रकाम।

नेता बोले, "भाई मेरे! इसमें न तुम्हारा रंच दोष;
नासमझी इसका कारण है, तुम भी भरते हो राज्यकोष।
माँगो तुम क्षमा किसानों से, इनकी सेवा एहसानों से,
जिन पर था तुमने किया ज़ुल्म इन मूक बने भगवानों से।"

घाटिया और सब जमादार पहुँचे उनके भी पास वहाँ;
पर वे किसान झुक गए प्रथम, "यह क्या करते हैं आप यहाँ?
हम दीन-हीन-निर्धन मजूर, तुम मालिक हो सरकार सदा;
क्या खिया गया तन पिटने से? हम खाते रहते मार सदा।

क्या हुआ, आज तुम झुकते हो, दे रहे हमें सम्मान दान?
पर कल से यही प्रहार बदे, है इसीलिए निर्मित किसान!"
भगवान! कहाँ तुम सोते हो? कितने युग का पातक महान--
जुड़ता है, तब निर्मित करते सब कहते हैं जिसको किसान?

अब भी न तुम्हारी आँखों में यदि बही सजल करुणा-धारा,
यों ही पिसता रह जायेगा तो दलित कृषक-जनगण सारा!
यमुना गंगा के गले डाल गलबाहीं बोली--चलो बहें;
जग रहा हमारा राष्ट्र आज, चल सागर से संदेश कहें।

ऊँचा हिमाद्रि का मस्तक हो सुन-सुनकर जिनका अनुष्ठान,
बुंदेलखंड जाग्रत् मेरा, बुंदेलखंड मेरा महान!

●

विश्राम

किस तरह स्वागत करूँ ? आ लाड़ले ! चाहता जी चरण तेरे चूम लूँ;
गोद ले तुझको तनिक हो लूँ सुखी, प्यार के हिन्दोल पर चढ़ झूम लूँ।

तू अभी तो है बड़ा सुकुमार ही, हाय ! नंगे पाँव शूलों में गया,
धन्य तेरा प्रेम ! तू ने क्या कहा ? 'माँ ! अरी मैं दौड़ फूलों में गया।

लाल तुझसे मिलें जिस भी देश को, क्यों सहेगा वह किसी भी क्लेश को?
भक्त बनकर वारता है प्राण जो, मानकर भगवान ही निज देश को।

ऐ हठीले ! आ, ठहर तू, अब न जा, कुछ दिनों तो गेह में विश्राम कर;
क्या कहा-विश्राम है तब तक कहाँ, जीतकर जब तक नहीं आता समर?

अभियान-गीत

चलो, आज इस जीर्ण-पुरातन भव में नव निर्माण करो;
युग-युग से पिसती आई मानवता का कल्याण करो।

बोलो, कब तक सड़ा करोगे तुम यों गंदी गलियों में,
पथ के कुत्तों से भी जीवन अधम सँभाल पसलियों में ?
दोगे शाप विधाता को लख धनकुबेर रँगरलियों में;
किन्तु न जानोगे अपने को, क्योंकि घिरे हो छलियों में।
कोटि-कोटि शोषित-पीड़ित तुम ! उठो आज, निज त्राण करो;
बढ़ो, आज इस जीर्ण-पुरातन भव में नव निर्माण करो !

उठो किसानो ! देखो, तुमने जग का पोषण-भरण किया;
किन्तु तुम्हीं भूखे सो रहते हूक छिपाये, मूक हिया।
रात-रात भर, दिन-दिन भर नित तुमने शोणित दान दिया;
मिट्टी तोड़ उगाया अंकुर, ग्राम मरा, पर नगर जिया !
तुम अगणित नंगे भिखमंगे, अधिक न मन म्रियमाण करो;
चलो, आज इस जीर्ण-पुरातन भव में नव निर्माण करो !

व्यर्थ ज्ञान-विज्ञान सभी कुछ समझो अब है आज यहाँ;
घर में जब यों आग लगी है, घर की जाती लाज यहाँ!
राज्य-तंत्र के यंत्र बने धनपति करते है राज जहाँ,
यह क्या किया पाप तुमने? घुटते जीवन के साज यहाँ!
आग फूँक दो कंकालों में, कंगालों में प्राण भरो!
उठो, आज इस जीर्ण-पुरातन भव में नव निर्माण करो!

कैसी देरी?

धधक रही है यज्ञकुंड में आत्माहुति की शीतल ज्वाला,
होता! मंद न पड़े हुताशन, नव-नव-अभिनव आहुतियाँ ला।

होम, होम, तन-मन-धन-जीवन, अपने नर-मुण्डों की माला;
उठें लपट, झुलसे गगनांगन, फटे वज्रयुग का उजियाला।
वर की बेला चली आ रही, आज हो रही कैसी देरी?
आज बज रही है आँगन में बापू की मोहक रणभेरी।

चल, यौवन का दान लिए चल, जीवन का वरदान लिए चल,
अधरों पर मुसकान लिए चल, प्राणों में बलिदान लिए चल!
शूरों का सम्मान लिए चल, वीरों का अभिमान लिए चल,
आहत के अरमान लिए चल, जय जननी के गान लिए चल!

प्राणों में युग-युग की ज्वाला, श्वासों में युग-युग की आँधी,
शोणित में युग-युग का घृत ले, चल रे! हव्य माँगता गाँधी।

अनुरोध

[कांग्रेस से संन्यास ग्रहण करने पर महात्मा जी के प्रति यह अनुरोध लिखा गया है]

साबरमती - कुटी के वासी ! दांडो - यात्रा वाले !
यह वर्धा में कौन मौन व्रत ले बैठे, मतवाले !
इधर आओ, बतलाओ राह;
हो रहे कोटि - कोटि गुमराह।

हमें त्याग कर तुम बैठे, तब कहो, कहाँ हम जायें ?
भूल रहे हैं, भटक रहे हैं, कब तक अब भरमायें ?
करो पूरी इतनी सी साध;
आज तुम क्षमा करो अपराध !

तुम मत चूको, चूक जायँ हम, हम तो हैं नादान;
तुम मत भूलो, भूल जायँ हम, हम तो हैं अनजान।
'नहीं', तुम और कहो मत 'नहीं';
कहोगे जहाँ, मिटेंगे वहीं !

सही नहीं जाती है हमसे और अधिक नाराज़ी,
बापू ! बोलो, कहाँ लगा दें इन प्राणों की बाज़ी !
हमारी मिट जायेगी पीर;
चलो, हाँ चलो गोमती तीर !

आज अकेला ही है अपना सेनापति मतिमान !
धीरज दो संतप्त हृदय को, आओ, तपोनिधान !
न भूलो अपना प्रण, हे-श्याम !
ले चलो जहाँ विजय अभिराम।

एक बार फिर बजे समरदुंदुभि, उमड़े उत्साह,
एक बार फिर मुर्दों में जागे लड़ने की चाह।
करें हम अपने को बलिदान;
कहे जग—'जयजय हिन्दुस्तान ?'

गृह-त्याग

[सुभाष बाबू के गृह-त्याग पर]

शीत की निर्मम निशा में आज यह गृह-त्याग कैसा ?
देश के अनुराग ही में आज मौन विराग कैसा ?

नग्न तन, पद नग्न, ले परिधेय मात्र, सघन अँधेरे,
आज असमय में अकेले चल पड़े किस ओर, मेरे ?
कौन है वह पथ तुम्हारा, कौन-सा अब लक्ष्य माना ?
कहाँ से गली उसकी, कुछ नहीं संकेत जाना।
हम कहाँ आयें, किधर, उस देश का है भाग कैसा ?
शीत की निर्मम निशा में आज यह गृहत्याग कैसा ?

खो नहीं जाना कहीं दीवानगी में ऐ रँगीले !
रँग न लेना वस्त्र अपने रंग गैरिक ही कहीं ले।
रँग बिना ही हो रहे तुम चिर-विरागी, ओ हठीले !
और फिर संन्यास कैसा चाहिए ? जिसको यती ले !
आज फिर किस विजन वन में सज रहा है त्याग कैसा ?
शीत की निर्मम निशा में आज यह गृह त्याग कैसा ?

थी व्यथा वह कौन-सी ? चुपचाप की तुमने तयारी;
श्रांत हैं, उद्भ्रांत हम, मिलती नहीं आहट तुम्हारी।

भूल सकते हैं कभी भी क्या तुम्हें, मेरे पुजारी ?
विकल देश पुकारता है, तुम कहाँ, मेरे भिखारी ?
क्यों नहीं तुम बोलते, यह मौन से अनुराग कैसा ?
शीत की निर्मम निशा में आज यह गृहत्याग कैसा ?

लौट आओ, ओ हठीले ! जन्मभूमि तुम्हें बुलाती,
लौट आओ, लाड़ले रूठे, तुम्हें जननी मनाती।
बंधु व्याकुल, देश व्याकुल, जाति व्याकुल है तुम्हारी;
तुम कहीं जाओ नहीं यों क्षुब्ध हो, ओ क्रान्तिकारी !
आज घर-घर गूँजता है शोक-गीत विहाग कैसा ?
शीत की निर्मम निशा में आज यह गृहत्याग कैसा ?

ढूँढ़ते हैं वे तुम्हें, साम्राज्य है जिनका यहाँ पर,
हाथ में ले हथकड़ी, तुम हो, यती मेरे ! जहाँ पर।
प्राण-आहुति दे चले तुम, चाहते ये तन तुम्हारा;
देखना यह, बाँधती है जीव कैसे लौह-कारा।
हँस रहा है नभ उधर, यह व्यंग्य का है राग कैसा ?
शीत की निर्मम निशा में आज यह गृहत्याग कैसा ?

राजबंदी राष्ट्रकवि

[बाबू मैथिलीशरण गुप्त के प्रति]

बने बंदिनी के वंदन में बंदी तुम भी आप,
निखरेगी इससे अब प्रतिभा, गरिमा, शक्ति अमाप !
खादी चर्खा, देशभक्ति औ' स्वतंत्रता की साध,
हे भारत के पुत्र ! तुम्हारा, यही घोर अपराध !

हे भारत - भारती, राष्ट्र-कवि ! यह भी जय ही पाई;
दे न सके हम तुम्हें विदाई, देते आज बधाई !
जाओ उस कारागृह में, जो बना युगों से पूत,
जहाँ शान्ति के दूत बने थे अमर क्रान्ति के दूत,

जहाँ महात्मा, तिलक, लाजपत, कितने अमर शहीद,
अपने पदचिह्नों से कर आये हैं पीठ पुनीत,
जहाँ देश के आज जवाहर लाल अनेकों बंद;
करने को निर्बंध देश को लो बंधन स्वच्छंद।

सिंहासन तुम चले उलटने, ओ विद्रोही वीर !
इसीलिए यह दंड—तुम्हारे हाथों में ज़ंजीर।
सिखलाया तुमने भारत के तरुणों को षड्यंत्र,
'बनो स्वतंत्र, पूर्व-गौरव हो' कितना विषधर मंत्र ?

आज इसी से मिला तुम्हें यह कड़ियों का वरदान;
देखो—खिलती रहे अधर पर यह मंगल मुसकान।
हम भी बलि देने आयेंगे वहीं मिलेंगे भुजभर;
अग्रज आगे गए, अनुज भी होंगे अनुसर, अनुचर।

धन्य तुम्हारा जीवन, दिन है धन्य, आज ये घड़ियाँ;
जयमाला शरमाती मन में देख हाथ हथकड़ियाँ !
हाथ-पाँव बाँधें वे, इतना ही उनका अधिकार;
ज़ंजीरों से क़ैद न होगी आत्मा मुक्त उदार।

चढ़े आज आहुति पर आहुति, बलिवेदी हो पूर्ण;
विश्व कँपे, विश्वंभर काँपे, देख सत्य को चूर्ण।
कल तुम चले, आज हम आते, परसों उनकी बारी;
स्वागत का क्रम यही रहा तो घर - घर है तैयारी।

बाहर भी हम क्या हैं ? सारा भारत कारागार;
व्यक्त न कर सकते बाहर रह जब निज मुक्त विचार।

पतन ! पतन की सीमा का भी होता है कुछ अंत !
उठने के प्रयत्न में लगते हैं अपराध अनंत !

पूछ रहे हो, किया कौन-सा था तुमने अपराध ?
जीवन भर क्या किया, जगाई कौन सलोनी साध ?
फूँका था विद्रोह - शंख क्या नहीं कभी तुमने ही ?
खोले थे ये बँधे पंख क्या नहीं कभी तुमने ही ?

सुलगाई क्या तरुणों में तुमने न देश की आग ?
थी भारत - भारती किसलिए, क्या था प्रेम - पराग ?
फिर, बापू षड्यंत्री से था किया खूब संपर्क;
पिया प्रेम से छुप-चुप तुमने आत्म - शक्ति - मधुपर्क ।

टूटें लौह - श्रृंखलायें, हो अपनी भीड़ अपार;
ढहे खड़ी ऊँची कराल कारागृह की दीवार !

दीनबंधु ऐंड्रूज़ के प्रति

सिंधु - पार सुन पड़ी तुम्हें कैसे जननी की पीर ?
खिंच आए इस पार अचानक, भरे नयन में नीर ?
पूर्व - जन्म का था क्या कोई यह आत्मिक संबंध ?
हिले प्राण के तार, बँधे तुम, सजा स्नेह अनुबंध !

भरा तुम्हारे मानस में था कितना करुणा - सिंधु ?
दीनानाथ न बने कभी तुम, बने दीन के बंधु !
आँखों में भारत की छवि, स्वर में भारत का गान,
कर में भारत की सेवा, उर में भारत का ध्यान ।

रोम-रोम में रमा तुम्हारे भारत का उत्थान;
रहे विदेशी कब ? तुम तो हो भारत की संतान !

भारत की स्वतंत्रता के छेड़े तुमने नित गान;
हो स्वतंत्र यह देश तुम्हारा, रहा यही अरमान!

भारत माता के चरणों में लीं अब आँखें मूँद;
सोते तुम समाधि में सुख की, झलके यश के बूँद।
दीनबंधु ऐंड्रूज़ बंधुवर! कैसे गायें गान?
लिखा रहेगा नित्य गगन के उडुगण में आख्यान!

तपोपूत तुम, देवदूत हे, क्रान्ति - दूत! अवतार।
जयति देश की स्वतंत्रता के अचल शिला - आधार।

उद्बोधन

मेरे हिन्दू औ' मुसलमान! रे अपने को पहचान जान!
हम लड़ जाते हैं आपस में, मंदिर-मसजिद है लड़ जातीं।
हम गड़ जाते हैं धरती में मंदिर-मसजिद हैं गड़ जातीं।
मंदिर मसजिद से ऊपर हम, रे अपने को पहचान जान!

हम यवन बताते हैं तुमको, तब यवन बताते हैं पुराण;
तुम काफ़िर कहते हो हमको, तब काफ़िर कहती है क़ुरान।
गीता - क़ुरान से ऊपर हम, रे अपने को पहचान जान!

हम चले मिटाने जब तुमको, बेचारी दाढ़ी कट जाती;
तुम चले मिटाने जब हमको बेचारी चोटी छँट जाती।
दाढ़ी - चोटी से ऊपर हम, रे अपने को पहचान जान!

हम शत्रु समझते हैं तुमको, इतिहास शत्रु बतलाता है;
हम मित्र समझते हैं तुमको, इतिहास मित्र बतलाता है!
इतिहासों से ऊपर हैं हम, रे अपने को पहचान जान।
सब मानव-मानव हैं समान, रे अपने को पहचान जान!

राष्ट्रध्वजा

हमारी राष्ट्र - ध्वजा फहरे। तुम्हारी राष्ट्र - ध्वजा फहरे।

बम बरसे या बरसे गोली, बढ़े देशभक्तों की टोली,
मस्तक पर हो रण की रोली,
डगमग - डगमग धरणी डोले, जय - जय ध्वनि घहरे।
हमारी राष्ट्र - ध्वजा फहरे। तुम्हारी राष्ट्र - ध्वजा फहरे।

राष्ट्र सैन्य का वीर सिपाही, बन कर अपने युग का राही,
दूर करेगा सब गुमराही,
स्वतंत्रता हो लक्ष्य हमारा, शत्रु देख हहरे!
हमारी राष्ट्र - ध्वजा फहरे। तुम्हारी राष्ट्र - ध्वजा फहरे।

बहुत सहे हैं हमने शासन, सिरपर कमर तोड़ सिंहासन,
आज प्रलय हो, हो परिवर्तन,
शोषित पीड़ित आज जगे हैं, जय - निशान लहरे!
हमारी राष्ट्र - ध्वजा फहरे। तुम्हारी राष्ट्र - ध्वजा फहरे।

उठे राष्ट्र का ऊँचा नारा, प्यारा हिन्दुस्तान हमारा?
कौन हमें कर सकता न्यारा?
छू सकते साम्राज्य न इसको, भीरु देख भहरे!
हमारी राष्ट्र - ध्वजा फहरे। तुम्हारी राष्ट्र - ध्वजा फहरे।

उड़े देश में राष्ट्र - पताका, रोको बढ़ बैरी का नाका,
चले राष्ट्र - भक्तों का साका,
अन्यायों का सर्वनाश हो, आज न्याय ठहरे!
हमारी राष्ट्र - ध्वजा फहरे। तुम्हारी राष्ट्र - ध्वजा फहरे।

●

क्रांति कुमारी

मैं आती हूँ बन नई सृष्टि ध्वंसों के प्रलय - प्रहारों में;
मैं आती हूँ धर कोटि चरण युग के अनंत हुंकारों में!

मैं आती हूँ ले नव भाषा;
मैं आती ले नव अभिलाषा;
नव शब्द, छंद, लय, ताल, मीड़, नव गमकों की गुंजारों में;
मैं आती हूँ बन नई सृष्टि ध्वंसों के प्रलय - प्रहारों में।

चीरती रूढ़ियों की छाती;
बिजली बन तमसा को ढाती;
मैं आती हूँ कंधे पर चढ़ मृत्युंजय अभय - कुमारों में;
मैं आती हूँ बन नई सृष्टि ध्वंसों के प्रलय - प्रहारों में।

जड़ हिला गतानुगतिकता की,
अंधानुकरण के स्तभों की,
आती हूँ कसक-कराह लिए; मैं मरती हूँ बेज़ारों में;
मैं आती हूँ बन नई सृष्टि ध्वंसों के प्रलय - प्रहारों में।

पददलितों को मैं उकसाती,
शोषित-जन को पथ दिखलाती,
उल्का, तारा, शनि, केतु लिए खेला करती अंगारों में।
मैं आती हूँ बन नई सृष्टि ध्वंसों के प्रलय - प्रहारों में।

तोड़ती नियम औ' धारायें,
फोड़ती क़िले औ' कारायें,
ज़ंजीरें, बेड़ी, मृत्यु - दंड, फाँसी के हाहाकारों में!
मैं आती हूँ बन नई सृष्टि ध्वंसों के प्रलय - प्रहारों में!

कवि को देती वरदान नये,
रवि को देती मैदान नये,
छवि को देती उद्यान नये,
हवि को देती बलिदान नये,
मैं ध्वंस - सृजन के चरणों से निज अपना पंथ बनाती हूँ।
जब आती हूँ।

निर्बल के कर की ढाल बनी,
निर्धन के कर करवाल बनी,
धन - दर्पित, उद्धत, क्रूर, कुटिल,
कामी प्राणों का काल बनी,
युग - युग के गौरव, छत्रमुकुट में बढ़-बढ़ आग लगाती हूँ।
जब आती हूँ!

मैं विगत अतीत, पुनीत पाप की परिभाषायें बतलाती;
संस्कार नवल, नव-नव विचार, नव भाव - कल्पना उपजाती,
निर्भय कवि की वाणी बनकर वीणा के तार बजाती हूँ।
जब आती हूँ।

विद्रोह, भ्रान्ति, विप्लव, अशान्ति, उत्पात, अराजकता भरती;
मैं सप्तसिंधु खौला करके भू, अंबर सभी एक करती,
फूँकती जागरण - शंख, पंख मैं बँधे हुए खुलवाती हूँ!
जब आती हूँ।

भारतवर्ष

वह महिमामय अपना भारत, वह गरिमामय सुन्दर स्वदेश !
युग-युग से जिसका उन्नत सिर है किये खड़ा हिमगिरि नगेश !

जिसके मंदिर के शाखों से गूँजा अजेय बन ब्रह्मवाद;
भूले नश्वर तन का प्रमाद, अमरात्मा का पाया प्रसाद।
है अमर कीर्त्ति, हैं अमर प्राण, अमरों का अद्‌भुत अमिट देश।

इतिहास-पटल पर संसृति के जो स्वर्ण-वर्ण में लिखा नाम,
वह है रघुपति की जन्मभूमि, वह है यदुपति का जन्म-धाम।
जिसके तृण-तृण में, कण-कण में वंशी बजती रहती अशेष।

युग-युग से जो पृथ्वीतल पर है भासमान बन गगन-दीप,
कितने ही राष्ट्र-यान उबरे पाकर प्रकाश जिसके समीप।
तट का अपार भव-सागर के जो कर्णधार कौशल-निवेश।

रण वरण किया धर चरण सुदृढ़, तब मरण बना निज स्वर्गद्वार;
पुरुषों ने रण-कंकण पहना, रमणी ने जौहर का शृँगार।
आभरण बनाया गौरव को आवरण हटा सुख के अशेष।

कितने ही राष्ट्र उठे जग में, हो गए और कितने विलीन,
जो महाकाल की छाती पर आरूढ़ आज बन चिर-नवीन।
विश्वंभर के करुणा-बल पर युग-युग दुर्जय देशेश देश।
वह महिमामय अपना भारत, वह गरिमामय सुंदर स्वदेश।

वासन्ती

रत्नदीप

के

कवि को

सादर समर्पित

शुभाशंसा

वासन्ती में भावों की वासन्ती सुषमा है। मनुष्य की सबसे पुरानी प्रवृत्ति, प्रेम की विविधता और अनेकरूपता की झलक इस संग्रह का आधार है। भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से इसके गीत बड़े रोचक हैं। भाषा भाव के अनुकूल है और गीतों के लिखने में कवि ने छन्दों का चुनाव इस प्रकार का किया है कि उनकी गति भाव के प्रभाव को बढ़ाती है। गीतों में शब्दों का चुनाव बड़ा ही कलात्मक हुआ है। जैसे--

शत-शत खिलें रूप के दल समुज्ज्वल,
मधुगंध से हों सुगन्धित दिशापल;
पाषाण निर्झर बनें, हों अचल चल,
उर-उर जगे कामना एक मंगल।
सुरभित बने सद्म ! खुलकर खिलो पद्म !

कवि की प्रेम-भावना व्यक्तिगत प्रतीत होते हुए भी न तो संकीर्ण है और न अश्लील। उसमें उदारता और शालीनता दोनों हैं। वह उदार प्रेम के गीत गाना चाहता है, जिससे जीवन स्वतंत्र हो और विश्व के बन्धन टूटें—

गाओ प्रणय के खुले मुग्ध शत छन्द,
हो मुक्त जीवन, शिथिल विश्व के बन्द,
हों एक बिछुड़े, अविच्छिन्न संबंध,
उन्मुक्त आनन्द, उन्मुक्त हो तान !
गाओ मधुप गान !

इस संग्रह में प्रेम के चित्रों के साथ प्रकृति की भी झलक दिखाई पड़ती है, प्रेम और प्रकृति के रम्य चित्रों को अंकित करते समय कवि को केवल अपना ही ध्यान नहीं है, और न संसार को उसने भुलाया है। साथ ही साथ उसमें दुःख और संकटों के बीच भी अपना कर्त्तव्य करने का साहस और बल है। वह अपने मन से कहता है—

प्रबल झंझावात में तू बन अचल हिमवान, रे मन !
उठ रही हो सिन्धु-लहरी, हो न मिलती थाह गहरी,
नील नीरधि का अकेला बन सुभग जलयान रे मन !

मैं आशा करता हूँ, कवि की प्रतिभा की सरोजिनी का बराबर विकास होगा, और कवि के यश-परिमल से दिशाएँ सुरभित हो उठेंगी।

—केसरीनारायण शुक्ल
लखनऊ विश्वविद्यालय एम० ए०, डी० लिट्०

प्रस्तावना

मधुकर, आज वसंत बधाई।

स्वर्ण - ताम्र - लोहित नवपल्लव,
सुरधनु का लेकर श्री-वैभव,
खिले, खिली नीलम-पल्लव से
आँगन की अमराई;
मधुकर! आज वसंत बधाई।

कानन - कानन, उपवन - उपवन,
खिले सुमनदल, सुरभित कण-कण;
वह कैसी मदभरी पिकी ने
पंचम तान उठाई;
मधुकर, आज वसंत बधाई!

कोमल बाहुलता फैलाओ,
स्नेहालिंगन - कुंज बनाओ;
जीवन के पतझर में सबको
मधुऋतु पड़े दिखाई।
मधुकर! आज वसंत बधाई।

१

आई मलयानिल की लहरी।
तण-तरु-पल्लव हुए सजग से, कण-कण में चेतनता छहरी।
आई मलयानिल की लहरी।

लीं समेट लतिका ने अलकें, खोलीं मृदु सुमनों ने पलकें;
उड़ने लगे मधुप मधु पीने तजकर मादक निद्रा गहरी।
आई मलयानिल की लहरी।

खग-कुल कलरव लगे सुनाने, पंख खोल नभ में इठलाने;
बरस रहा कुंकुम प्राची में, सुख-सुहाग की बेला ठहरी।
आई मलयानिल की लहरी।

गा, मेरे कवि ! तू भी मृदु-मृदु, बरसे विश्व प्राण में मधु-मधु,
पाकर पावन स्नेह-स्पर्श, ओ मेरी कविता ! तू भी बह री।
आई मलयानिल की लहरी!

२

नव पल्लव, नव सुमन खिल उठे, नवमधु, नव सौरभ छाया,
प्रणय-कुहुक कोकिल की लेकर, नव वसंत जग में आया;

कण-कण में, तृण-तृण में क्षण-क्षण प्राणोन्मादक है लहरी;
कौन खड़ा उत्सुक सुनने को दो शब्दों का बन प्रहरी ?

सघन तमाल हो उठें नीले, वन-वन में नव फूल खिलें;
स्नेहांचल को ऊषा में— आओ, दो बिछुड़े हृदय मिलें।

३

आज नूतन वर्ष !
बह रहा है आज मलयज लिए अभिनव हर्ष ?
आज नूतन वर्ष !

आज कलियों से अरुणिमा कह रही कुछ बात;
नवल जीवन, नवल यौवन, नवल आज प्रभात;
जग रहे रंगीन सपने मधुर आसव घोल,
हैं सुनहली कामनायें रहीं वन - वन डोल;
आज तरु - तृण - कुंज में छाया मदिर उत्कर्ष !
आज नूतन वर्ष !

गया पतझर दूर, आया आज मधुर वसंत,
आज पल्लव, सुरभि, मधु का है न मिलता अंत !
दूर तुम हो, आज भेजूँ कौन सा संदेश ?
रहो तुम भी मत पुरातन, सजो, प्रिय ! नववेश;
नव प्रकृति में मिलें बन नव लिए पुलक प्रकर्ष ।
आज नूतन वर्ष !

४

खुल कर लिखो, पद्म !

शत-शत खिलें रूप के दल समुज्ज्वल,
मधु गंध से हों सुगंधित दिशा - पल;
पाषाण निर्झर बनें, हों अचल चल,
उर - उर जगे कामना एक मंगल ।
सुरभित बने सद्म ! खुल कर खिलो, पद्म !

भू पर धरो मृदु मधु के चरण छंद,
नूपुर बजें, छिन्न हों विश्व के बंद;
मधुमय बनो ले मिलन मुग्ध मकरंद,
हो मौन विस्मृति, हो मौन आनंद !
टूटें असित छद्म ! खुल कर खिलो, पद्म ।

५

गाओ, मधुप, गान !

हो विश्व पतझर में फिर, नवल प्रात,
मधुऋतु खिले, खिल उठें कोटि जलजात;
नव दल, सुरभि नव, नव मधु, नवल वात;
युग-युग विरस, फिर सरस हो उठें प्राण !
गाओ, मधुप, गान !

गाओ प्रणय के खुले मुग्ध शत छंद;
हो मुक्त जीवन, शिथिल विश्व के बंद;
हों एक बिछुड़े, अविच्छिन्न संबंध !
उन्मुक्त आनंद, उन्मुक्त हो तान !
गाओ, मधुप, गान !

६

देखा क्या ऐसा रूप कहीं, जो समा न सकता आँखों में ।

जो बनकर गीत बिखरता हो, जो पाकर स्नेह निखरता हो,
बनकर वसंत ऋतु खिलता हो, यौवन की नव-नव शाखों से ।
देखा क्या ऐसा रूप कहीं, जो समा न सकता आँखों में ।

जो जगता हो बन अभिलाषा, हो गूँथ रहा मादक भाषा;
मन में कुछ रह-रह होता हो, जो खुले न स्वर के पाँखों में।
देखा क्या ऐसा रूप कहीं, जो समा न सकता आखों में।

जो बनता हो निशि में सपना, सब कहते हों जिसको अपना,
जिसकी उपमा जग में दुर्लभ, जो मिले न खोजे लाखों में।
देखा क्या ऐसा रूप कहीं, जो समा न सकता आँखों में।

●

७

क्या तुम प्रिय के रूप बनोगे?
मेरे नयनडोर, मनघट के चिर-छवि-जल के कूप बनोगे?
क्या तुम प्रिय के रूप बनोगे?

तृषा बनोगे इन आँखों की, प्रगति बनोगे इन पाँखों की,
मन - विहंग के नंदन-कानन, मधुमय छाया - धूप बनोगे?
क्या तुम प्रिय के रूप बनोगे?

मीड़ बनोगे मृदु तानों की, तृप्ति बनोगे इन प्राणों की,
मेरी कविता के कुसुमों के तरल मरंद अनूप बनोगे?
क्या तुम प्रिय के रूप बनोगे?

●

८

ऐसा कहीं प्रेम देखा है?

देख न पाते छलछल लोचन, प्रियतम का मुसकाता आनन,
नीरव रह कोमल कपोल पर, सूख गई जल की रेखा है,
ऐसा कहीं प्रेम देखा है?

शशि आकर घन में छिप जाता, जलनिधि हाहाकार मचाता,
तट पर पटक शीश रह जाता। यह किस दुख का अवलेखा है ?
ऐसा कहीं प्रेम देखा है ?

९

मेरी निरीहता सह न सके, दृग हुए तुम्हारे आकुल से;
तुम मौन रहे, क्या कह न गए आश्वासन बनकर व्याकुल से।
मेरे शब्दों के अर्थ बने, मेरे अर्थों की शक्ति बने;
निर्मम! क्यों इतने ढले आज; मेरे मानस की भक्ति बने!
चिर - मौन रहो, मेरे सुंदर! दो मुखर दृष्टि तुम नित अपनी;
चिर - चित्रित मेरी आँखों में तुम सहज स्नेह के अमर घनी!

१०

नव-नव रूप धरे, चिर-सुंदर! मेरे अंग बसो।

बसो दृगों में नव सुषमा बन, श्रवणों में मधुमय मृदु गुंजन;
हृदय-कमल में मृदु पराग बन, मधु - वर्षा बरसो।
नव-नव रूप धरे, चिर-सुंदर! मेरे अंग बसो।

अधरों में मृदु मधुर नाम बन, प्राणों में बनकर नव स्पंदन,
रोम-रोम में मृदुल पुलक बन, नव जीवन सरसो।
नव - नव रूप धरे चिर सुंदर! मेरे अंग बसो।

११

हेरो इधर प्राण ! फेरो न तुम मुख।

मिल जायेंगे अनजाने सभी दुख,
खिल जायेंगे अनजाने सभी सुख;
विष पी जियूँगा तुम्हें देख सम्मुख।
हेरो इधर प्राण ! फेरो न तुम मुख !

यह मंद मुस्कान, यह मुग्ध चितवन,
देती अमृत कौन ? जी सा उठा मन;
क्या चाहिए और ? बस, हो यही रुख,
हेरो इधर प्राण ! फेरो न तुम मुख !

१२

अब मत रहो दूर !

देखो, किरण पोंछती फूल के आँस,
वह खिल उठा, बह उठी है सुरभि - साँस;
तुम मत बनो क्रूर ! अब मत रहो दूर !

पोंछो अरुण नयन के ये करुण बिंदु,
शीतल करो प्राण - मन, हे शरद - इंदु,
अब मत रहो दूर ! अब मत बनो क्रूर।

१३

आज वासंती - उषा है।

अरुण किरणें बनीं तरुणा, बही छवि की सुभग वरुणा,
विश्व - श्री में बसी करुणा;
आज आँखों में नशा है; आज वासन्ती उषा है।

डाल - डाल खिले नवल दल, पात - पात खिले नवल फल,
प्रात - प्रात नये सुमन - दल;
रात - रात मधुर निशा है; आज वासन्ती उषा है।

आज कण - कण कनक कुंदन, आज तृण - तृण हरित चंदन,
आज क्षण-क्षण चरण - वंदन,
विनय अनुनय लालसा है; आज वासन्ती उषा है।

आज आई मधुर बेला, अब करो मत निठुर खेला,
मिलन का हो मधुर मेला;
आज अधरों में तृषा है; आज वासन्ती उषा है।

●

१४

अलि ! रचो छंद—

मधु के, मधुऋतु के सौरभ के, उल्लास - भरे अवनी - नभ के;
जड़ जीवन का हिम पिघल चले, हो स्वर्णभरा प्रतिचरण मंद !
अलि ! रचो छंद !

अमराई में अभिनव पल्लव, फुलवाई में मधुमय कलरव;
नीरव पिक का स्वर गूँज उठे, सुमनों में भर आये मरंद।
अलि ! रचो छंद !

वन-वन में नव-नव पत्र खिलें, तरु से लतिकायें हिलें - मिलें;
बह चले मुक्त जीवन प्रवाह, हो शिथिल कड़ी के बंद-बंद।
अलि ! रचो छंद !

●

१५

क्या नहीं मैं पास आया ?

खोल तुमने द्वार प्रतिपल, किसे देखा विकल चंचल ?
कौन दृग में भर गया जल ?
शुष्क अधरों पर तुम्हारे कौन बनकर हास छाया ?
क्या नहीं मैं पास आया ?

बना नीरव जगत का बन, सुना तुमने किन्तु गुंजन,
क्या न मैं आया मधुप बन ?
मुखर तारों में हृदय के कौन बनकर लास छाया ?
क्या नहीं मैं पास आया ?

जब हुए मुद्रित पलक-दल, खोल कर वे नील उत्पल,
कर-किरण से घोल परिमल,
प्राण के शत-शत दलों में कौन बन मधुमास छाया ?
क्या नहीं मैं पास आया ?

मैं मिला बन याचनायें, मैं मिला बन कामनायें,
प्रणय की शत कल्पनायें;
मृदुल पलकों पर मनोरम कौन बनकर स्वप्न छाया ?
क्या नहीं में पास आया ?

१६

नयनों की रेशम डोरी से।
मत गूँथो मेरा हीरक मन अपनी कोमल बरजोरी से।

रहने दो इसको निर्जन में, बाँधो मत मधुमय बंधन में;
एकाकी ही है भला यहाँ, निठुराई की झकझोरी से।

अंतरतम तक तुम भेद रहे, प्राणों के कण-कण छेद रहे;
मत अपनेपन में कसो मुझे इस ममता की गँठजोरी से।

निष्ठुर न बनो, मेरे चंचल! रहने दो कोरा ही अंचल;
मत अरुण करो, हे तरुण किरण! अपनी करुणा की रोरी से।

●

१७

अधरों में मुसकान मधुर धर,
स्वर्ण स्वप्न रचते हो प्रति पल, इन्द्रजाल बुनते हो कोमल,
मेरी पलकों की प्याली में कौन वारुणी भरते सुंदर!

फैला मोदकता का बंधन, बिखरा मादकता का कंचन;
तन - मन - नयन बाँधते हो क्यों डाल मृणाल-जाल-सी चितवन?

किस राका के सुरसरि-तट पर दोगे आतममिलन का शुचि वर?
करते हो प्रस्ताव कौन तुम हीरक - हार - तार सुलझाकर?

●

१८

मत यह हीरक हार बिछाओ, मत यह मुक्तामाल बिछाओ;
मेरे मन के बालहंस को मत आमंत्रित करो, बुलाओ।
जब आऊँगा मानस तीरे, तुम समेट लोगे ये हीरे!
आशा की मृगतृष्णा में मत तृषित-क्षुधित मृग को दौड़ाओ।

अभी ढालते अमृत - प्याला, फिर भर दोगे उसमें हाला!
हे शशि! अपनी इन किरणों में मत मेरी आँखें उलझाओ।
यह मधुमय कुसुमों का पलना, इसमें छिपी हुई है छलना।
गंध-मुग्ध दृग-अंध मधुप पर तुम अपनी करुणा बरसाओ।

●

१९

मधु वसंत की खिली यामिनी, चुपके - चुपके आ जाना;
सुरभि बने रजनीगंधा में, आकर मधु बरसा जाना;
चंदा मुसकाता अंबर में, ओ शशि ! तुम भी मुसकाना;
देखो, खिले नयन के तारे, जीवनधन ! छवि छिटकाना;

नयनों की यमुना उमड़ी है, कालिंदी तट पर आना;
मेरे मन के वृन्दावन में मुरली मधुर बजा जाना ?
मेरी वीणा की स्वर लहरी ! आ तारों पर सो जाना;
बिलग हो सको फिर न कभी, प्राणों में, प्राण ! समा जाना।

●

२०

मेरे मानस के मौन प्यार ! मत सुधि बन आओ बार-बार !

गत सुख की आहुति डाल-डाल मत धधकाओ फिर ज्वाल-माल !
खींचो अपना अंचल अछोर, दृग-पट से पीताम्बर विशाल !
बढ़ता ही जाता व्यथा-भार ! मत सुधि बन आओ बार-बार !

रहने दो यों ही बँधी बीन, छेड़ो न आज फिर स्वर नवीन;
अब फिर न बजाओ वह हमीर, हो चुका काल में जो विलीन !
खोलो न पुनः वे बंद द्वार; मत सुधि बन जाओ बार-बार।

दुख का कारण भी प्रबल मोह, सुख का कारण भी प्रबल मोह;
किस भाँति बनूँ फिर वीतराग, जब कठिन मोह का है बिछोह ?
है बँधा मोह से सृष्टि-तार ! मत सुधि बन जाओ बार-बार।

सुधि ! बन आओ साकार रूप, प्राणों के कण - कण में अनूप !
रह जाय न कोई भेदभाव, तुम और रूप, मैं और रूप !
विस्मृति बनकर छाओ अपार ! मत सुधि बन जाओ बार-बार !

●

२१

अब न फिर वे गीत गाओ !

यह हृदय छलनी बना है; गीत में क्या रस घना है ?
रिक्त रहने दो अधर ये, बूँद मत मधु के चुवाओ।

आ गए तुम आज आगे, ये नयन फिर रंग-पागे;
इस जले वृन्दा विपिन में फिर न मृदु मुरली बजाओ।

रोक लो इस बाँसुरी को, सुख मिले कुछ पाँसुरी को;
शूल ही में झूलने दो, फूल के वन मत दिखाओ।

है कभी के नयन कोरे, स्नेह के डालो न डोरे;
ढर चुका है मद कभी का, फिर न तुम मृगमद चढ़ाओ।

मैं विरस मरुथल विकल हूँ, जल रहा कण-कण, अनल हूँ;
झुलस जाओगे, हठीले ! तुम न मेरे पास आओ।

२२

कैसे कह दूँ मेरे उदार ? मेरे मन के तुम मधुर प्यार !
क्या मोल रहेगा सरसिज का, जब निकल गया सौरभ अपार ?
पलकों से अमृत पीता हूँ, पल में युग जीवन जीता हूँ;
खुल जाय न अपना भेद कहीं, इससे रखता हूँ बंद द्वार।

राका को अमा बनाओगे, फिर तुम, शशांक ! छिप जाओगे;
अधरों की तरल हँसी फिर तो होगी बंकिम भ्रू का प्रसार।
मेरे स्वप्नों का चित्र-रंग फिर होगा तुमको मधुर व्यंग्य !
मिज़राव पहन मेरी त्रुटि का छेड़ोगे मेरा उर-सितार।

चिर-मौन प्रणय होगा अपना, जाग्रत् न करूँगा यह सपना;
तुम समझ सकोगे कभी नहीं मेरे मन का यह मधुर भार !
कैसे कह दूँ मेरे उदार ?
मेरे मन के तुम मधुर प्यार !

कोई रह रह उठता पुकार— क्यों किया किसी से अरे प्यार!

थी चार दिवस चाँदनी रात, जब बहा प्रणय का मदिर वात,
अब खड़ी सामने सघन रात,
जिसका न दिखाता कहीं पार; कोई रह रह उठता पुकार—

चरणों में अर्पित करके मन क्यों तू यों बन बैठा निर्धन?
मिलती न भीख, दर्शन का कण,
तू भटक रहा है द्वार-द्वार! कोई रह रह उठता पुकार—

बहता मलयानिल मंद-मंद, गाता जाने वह कौन छंद?
हो जाता उर का तीव्र स्पंद;
पीड़ा देती पलकें उघार। कोई रह-रह उठता पुकार—

आ जाता सुख का शीघ्र अंत, दो दिन में चल देता वसंत!
था ज्ञात न मुझको हाय, हंत!
अनजाने में ही गया हार। कोई रह रह उठता पुकार—

भर-भर कर आये सुधापात्र, पो अरुण बने दृग-प्राण-गात्र;
अब तो दुर्लभ दो बूँद मात्र;
है छिन्न पड़ा वह चषक द्वार! कोई रह रह उठता पुकार—

ममता भी होती है चंचल, विश्वास छिपाये रखता छल,
यह था न जानता मैं दुर्बल;
अब तो जीवन है बना भार! कोई रह रह उठता पुकार—

वे दिवस गए हैं आज बीत, झंकृत फिर भी अब भी अतीत!
जैसे न हुआ कुछ भी व्यतीत;
सुधि के मधुवन में है बहार! कोई रह रह उठता पुकार—

सोचा था, हे मिल गया संग, अपनी यात्रा होगी अभंग,
होगा जीवन में रास - रंग;
सुख से पहुँचेंगे सिंधु - पार ! कोई रह रह उठता पुकार—

पर, अब तो तरणी बनी भग्न ! माँझी जाने है कहाँ मग्न !
क्या होगी वह भी पुण्य लग्न,
जब आयेगा फिर कर्णधार ! कोई रह रह उठता पुकार –

२४

क्यों ढल आये करुणा बनकर ?

अपने उर की वेदना स्वयं क्या तुम्हें मनाने को आई ?
चल पड़े इधर चुपचाप, न तुमने भी निज पगध्वनि सुन पाई;
यह संभ्रम, मतिविभ्रम क्योंकर ? क्यों ढल आए करुणा बनकर ?

अनुताप हुआ, तुम सजल हुए खिल उठे, दग्ध हो करुणकान्त,
पहले से तुम हो आज अधिक लावण्य - भरे सुन्दर नितांत !
क्या अपने ही दुख में गलकर, तुम ढल आये करुणा बनकर ?

२५

यदि मिले तुम्हें अवकाश कहीं, इस पथ से कभी निकल जाना !

पलकों पर अलकें लहराते, चितवन से नव रस बरसाते,
अपने गीतों की दो कड़ियाँ उर के तारों पर धर जाना।

वह निमिष मात्र का शुभ दर्शन, देगा मधु मुझको आजीवन;
अपनी स्वच्छन्द मंद गति के आनंद - मरंद वितर जाना।

२६

अब तक आँखों में झूम रहा वह मधुमय रूप तुम्हारा है।

लज्जा से आनत मन, लोचन, थे छलक रहे नव रस के कण;
मेरे प्राणों के मौन मुकुल में भरी मधुर रस-धारा है।

अधरों की रजत हँसी भीतर था कैसा छिपा हृदय कातर?
तुम नीरव थे कुछ कह न सके, यह कैसी युग की कारा है?

अब तक आँखों में झूम रहा यह मधुमय रूप तुम्हारा है।

२७

लो समेट यह अपनी करुणा?
मरुथल ही मैं भला यहाँ हूँ बनें न दृग ये गलगल वरुणा।

हूँ विदग्ध, हैं दग्ध अधर पुट; बँधता नहीं अभी कर-संपुट,
दो मधु का मत दान जले को, अपनी प्रीति करो मत अरुणा।

ले लो अपना सुरा पात्र ये, दो न मुझे तुम बूँद मात्र ये;
प्यास बुझ चुकी है प्राणों की, फिर न जगाओ तृष्णा तरुणा!

लो समेट यह अपनी करुणा!

२८

उनके चरणों का अरुण राग—

सुधि बन गमकाता है सितार, बजते प्राणों के तार-तार,
आँखों में छाता बन खुमार;
यह किस नवमुरली का विहाग?

ऊषा सजती है उजियाली; मणि मरकत पाते हैं लाली,
भरता गुलाब खाली प्याली,
उनके चरणों का पा पराग।

वह बिखर गया सौरभ बनकर, मधु-गंध-अंध बन रहे भ्रमर;
मधुऋतु ले आया कौन सुघर ?
फूले पलाश ले नई आग। उनके चरणों का अरुण राग !

इस लाली से जग की लाली, इस लाली से सब हरियाली,
इस लाली से श्री श्रीवाली,
है अंग-अंग में अंगराग, उनके चरणों का अरुण राग !

२६

किसी प्रकृति के निभृत कुंज में हो अपना नीरव संसार,
कानन कुसुम किया करते हों जिसका नित नूतन शृंगार।
अपने मन की मधुधारा-सी बहती हो पदतल सरिता,
स्वर्ण सूर्य औ' रजत रश्मियाँ देती हों दिन-रात बता।

इस कोलाहलमय जगती की जहाँ न जाती स्वर-लहरी,
शांत प्रहर हों खड़े टहलते बनकर कुटिया के प्रहरी;
आदि प्रकृति का नित्य निरंजन बजता हो अनादि संगीत,
दो प्राणों के मधुर मिलन में जहाँ न खड़ी हुई हो भीत।

जहाँ अमर विश्वास प्रीति- लतिका को रखता हरा-भरा,
नहीं कहीं छल का आतप करता विदीर्ण हो वसुंधरा,
मृग-शावक प्रत्यय से आकर पास अंग सुहलाते हों,
दूर्वा के नव-नव अंकुर को छीन हाथ से खाते हों।

शुक-पिक कहते हों आग्रह से अपने सुख-दुख की गाथा,
सब प्राणों में एकतार हो रह-रह झंकृत हो जाता,
हिम गिरकर अपने आँगन में बिछ जाती चाँदनी बनी,
स्वर्ण-सरित बहती हो प्रातः छू जाते ही किरण-अनी।

स्वस्थ रक्त की अरुण लालिमा कांति बनी हो आनन की,
शुद्ध स्नेह से पा जीवन-रस दीप्ति खिल उठी हो मन की।
ऐसे किसी प्रकृति के आँगन में भी क्या कुछ दुख होगा?
वहीं कटे जीवन दोपहरी, तो फिर कितना सुख होगा!

●

३०

वंकिम आज भृकुटि की रेखा।

वह पहले का प्यार नहीं है, बहती वह रसधार नहीं है;
लहराती शाली के ऊपर आज प्रलय-घन घिरते देखा।

वह पहले की बात नहीं है, बहता सुरभित वात नहीं है;
वीणा के कोमल पर्दों पर खिंची तीव्र स्वर की अवलेखा।

पाकर जिसकी शीतल छाया, हरे बने जीवन औ' काया,
लगे खींचने वे ही अंचल, कौन लिखेगा दुख का लेखा?

वंकिम आज भृकुटि की रेखा!

●

३१

बरसे स्नेह - सुधा की धारा।

खिलें मिलन से नयन-कमल-दल, बाहुलता कुसुमित, सुरभित-पल,
अधरों के मादक प्यालों से ढले नवल - मधु - प्यारा।

बरसे स्नेह - सुधा की धारा।

खुलें शिथिल हो सुरभित अलकें, झुकें लाज से मद-भर पलकें;
चंचल पद हो अचल, पाणि दे प्रिय को मदिर सहारा।

बरसे स्नेह - सुधा की धारा।

●

३२

गोपन कौन कथा रही अब ?

खुली हृदय की शत पंखुड़ियाँ, देखी तुमने लड़ियाँ - लड़ियाँ,
देखी हर्ष-व्यथा, सभी जब ! गोपन कौन कथा रही अब ?

नहीं छिपाया तुमसे मन का मर्म कभी अपने जीवन का;
सब आवरण वृथा, आज तब, गोपन कौन कथा, रही अब ?

आई है मधु-ऋतु की बेला, सोचो माँग रही क्या खेला;
कैसी प्रीति - प्रथा, रही कब ? गोपन कौन कथा रही अब ?

३३

जग-जल में अपनी परछाहीं ।

अपनी आँखों का अरुण रंग देता है सबको गलबाहीं ।

अपना ही तम जग में छाता, अपना प्रकाश मधु बरसाता,
शीतल जो अपनी छाँह बनी, तो शीतल है जग की छाँहीं ।

तन-मन-धन जीवन का संबल, चाहता किसी प्रिय का अंचल ।
मन-घट जो मधु से भर देता, उसको न निकलती है 'नाहीं' ।

३४

सुनता हूँ मैं नित्य तुम्हारा प्रेमभरा मादक आह्वान,
मुझे बुलाते रहते हो क्यों उठा निरंतर आकुल तान ?
लोल लताओं के झुरमुट में छिपा हुआ कोई संलाप—
तुम्हें गुदगुदाता रहता क्या; खिल उठता बनकर सुरचाप ?

क्षणिक रहेगा या कि चिरंतन यह मन का मधुमय व्यापार ?
सोचा है क्या यह भी तुमने, वहन कर सकोगे यह भार ?
अपनी वीणा के तारों से पूछो, क्यों यह स्वर्ण बिहान ?
मुझे बुलाते रहते हो क्यों उठा निरंतर आकुल तान ?

३५

क्यों रूपराशि पर इतराते ?

रजनीगंधा जो आज खिली, झोंका आया, कल धूलि मिली;
इस नश्वरता को बरकाते, क्यों रूपराशि पर इतराते ?

मधु मिला, कुसुम ! तो पिला चलो, सौरभ से जग को हिला चलो;
क्यों आँख बचाकर सकुचाते ? क्यों रूपराशि पर इठलाते !

●

३६

वे यौवन के मदिर प्रहर थे।

शशिमुख की उजियाली में जब, सोये भूल व्यथायें हम सब,
इन अधरों के निकट अधर थे।

बिखरी थीं घुँघराली अलकें, मीलित थीं मदिरामय पलकें,
दृगघट नवमधु से निर्भर थे।

नयन घुले नयनों में जाकर, प्राण घुले प्राणों को पाकर,
विस्मृति के वे पल सुखकर थे !

●

३७

वह कहाँ रूप की झलक मिली, जिससे पलकें हैं मतवाली ?

वह कौन अनाम-रूप-रस था ? मन मुग्ध बना-सा बरबस था,
दी पिला कौन सी-मदिरा, अब तक इन आँखों में है लाली ?

बस गई कौन उर में चितवन ? मन में छाया कब से मधुवन ?
रस कौन प्रेमघन बरस गया, जिससे है मन में हरियाली ?

●

३८

आई फिर संध्या की बेला।

गोधूली है पथ में छाई, अँधियाली ने ली अँगड़ाई,
नभ में तारक एक अकेला। फिर आई संध्या की बेला।

निशि ने करुणांचल फैलाया, श्रान्त विश्व को शान्त बनाया,
किया मलय मारुत ने खेला। फिर आई संध्या की बेला।

मधुर मिलन - उत्कंठा जागी, चकई चली स्नेह में पागी,
निष्ठुर है प्रिय की अवहेला। फिर आई संध्या की बेला।

३९

छोड़कर तुमको यहाँ पर सार क्या है ?
पूछता हूँ मैं कि यह संसार क्या है ?

क्या नहीं नर ने इसे रौरव बनाया ?
क्या न तुमने स्वर्ग है इस पर बसाया ?
विश्व - आतप ने हमें जब - जब तपाया,
नील नीरद ! क्या तुम्हीं ने की न छाया ?
फिर, अनर्गल विकल हाहाकार क्या है ?
छोड़कर तुमको यहाँ पर सार क्या है ?

जब उपेक्षा से सभी दृग मींचते थे,
क्या तुम्हीं मन को न मधु से सींचते थे ?
जब कलंक-कलुष अनेक उलीचते थे;
क्या तुम्हीं वे शर न विष-के खींचते थे ?
और ईश्वर का यहाँ अवतार क्या है ?
छोड़कर तुमको यहाँ पर सार क्या है ?

क्या तुम्हारी, ही रसीली, स्निग्ध चितवन
है हरी रखती नहीं यह विश्व उपवन ?
और बंकिम भृकुटि का वह कुटिल नर्तन
क्या न दुर्दिन के बुला लाता प्रलय-घन ?
जानता हूँ, जीत क्या है, हार क्या है !
छोड़कर तुमको यहाँ पर सार क्या है ?

तुम रहो, फिर चाहिए क्या और सम्मुख ?
हो स्वयं ही जायँगे क्षय ये सभी दुख !
तुम रहो अनुकूल, हो प्रतिकूल जग-रुख,
कुछ न होगा, निशि, हटेगी उदय रवि - सुख;
जानता हूँ, विश्व का आधार क्या है !
छोड़कर तुमको यहाँ पर सार क्या है ?

४०

लो, वसंत - प्रभात आया।

फूल हैं कितने खिले अब, गिन सकेगा कौन ये सब ?
मंद मलयानिल सभी की सुरभि औ' मकरंद लाया।
लो वसंत - प्रभात आया।

खिल उठीं किरणें गगन पर, स्नेह के ज्यों भाव मन पर;
अलक सुहला, पलक छूकर रस छलक किसने गिराया ?
लो, वसंत - प्रभात आया।

शीत लेकर चीर भागी, आज स्वर्णिम उषा जागी,
द्वार पर देखा तुम्हारे, कुसुमकुल किसने चढ़ाया ?
लो, वसंत - प्रभात आया।

४१

आज चित्त उदास क्यों है ?

खिल रहे हैं सुमन वन-वन, हँस रहे हैं कुंज - कानन।
हर्ष के हिल्लोल में फिर वेदनामय श्वास क्यों है ?
आज चित्त उदास क्यों है ?

सृष्टि है इतना लिये सुख, रह न पायेगा कहीं दुख।
प्रिय, चलो, देखें, सुरभिमय आज वन-वातास क्यों है !
आज चित्त उदास क्यों है ?

कह रही वातास, आओ, आज सब-कुछ भूल जाओ।
प्रकृति से हिलमिल रहो, फिर जान लो, उल्लास क्यों हैं।
आज चित्त उदास क्यों है ?

४२

आज कोयल बोलती है।

रक्त के कण - कण उछलते, किस नदी के कूल चलते ?
विरस प्राणों में सरस रस कौन बरबस घोलती है ?
आज कोयल बोलती है।

कुहु - कुहू की ध्वनि निराली क्या मधुर स्वर से निकाली !
बंद - सी वीणा हृदय की आज निज-स्वर खोलती है।
आज कोयल बोलती है।

कह रही, ऋतु - राज आया, वर्ष का नवहर्ष छाया;
ताम्र आम्र बने छटा ले, आज दुनिया डोलती है।
आज कोयल बोलती है।

४३

तनिक सरसों तो निहारो।

खेत में, खलिहान में क्या, राह में मैदान में क्या,
है बिछा कुंकुम मनोहर, भर रही है दिशा चारों।
जरा सरसों तो निहारो।

स्वर्ण की सरिता बही है, आज अति सुंदर मही है;
सुखद पीतांबर लहरता किस रसिकमणि का, विचारो।
तनिक सरसों तो निहारो।

रूप के इस कनक-जल में, तरतीं आँखें अतल में;
क्या उषा लेटी धरा पर? हृदय के मधुबिंदु ढारो।
तनिक सरसों तो निहारो।

४४

आज गृह छोड़ो, हठीले!

आज वन-वन और उपवन, छा रही मधुऋतु, मदिर मन;
कुंज-कानन, तरु, लता, तृण फिर सजे सुषमा नई ले।
आज गृह छोड़ो, हठीले!

आज सघन रसाल बौरे, श्याम घन-से घिरे भौंरे;
माधवी के दूत बनकर कूजते कोकिल रँगीले।
आज गृह छोड़ो, हठीले।

कुंज-कुंज लता खिली है, पुंज-पुंज सुरभि हिली है;
आज मग में और पग-पग नवलश्री बिखरी, रसीले!
आज गृह छोड़ो, हठीले!

४५

आज वासंती पवन है।

मंद - मंद समीर आती; अब न अन्तस को कँपाती;
और अपनी मृदु लहर में कुछ लिये नवसुरभि-कण है।
आज वासंती पवन है।

पलक पर अलकें बिखरतीं, कामनाएँ हैं निखरतीं;
हृदय - कलिका खोलकर यह कौन गाता सनन - सन है?
आज वासंती पवन है।

एक मदिर हिलोर आती, नयन, तन, मन बोर जाती;
कह रहा कोई, नहीं कुछ, कुसुम-ऋतु का आगमन है।
आज वासंती पवन है।

४६

अब कहीं पतझर नहीं है।

पीत होकर पत्र टूटे, ज्यों जरा के केश छूटे।
आज कायाकल्प है, नवदल, जहाँ देखो, वहीं है।
अब कहीं पतझर नहीं है।

तरु - लता की धमनियों में, पत्र, शाखों, टहनियों में–
रक्त - सा है छलछलाता, धार यौवन की बही है।
अब कहीं पतझर नहीं है।

भाग्य यों ही आ मिलेगा, हर्ष का जीवन खिलेगा—
कह रहा यह कौन? सुन, पतझर जहाँ मधुऋतु वहीं है।
अब कहीं पतझर नहीं है।

४७

कह रहा मधुमास, सुन लो।

घूम लो तुम कुंज-वन में, झूम लो ले सुरभि मन में;
फूल - शूल सभी विपिन में, शूल छोड़ो, फूल चुन लो।
कह रहा मधुमास, सुन लो।

सब तजो मन की उदासी, हो प्रसन्न सदा, प्रवासी!
दो दिनों का खेल है, आँसू हटाओ, हास बुन लो।
कह रहा मधुमास, सुन लो।

प्रकृति जब उल्लासमय है, सृष्टि नवसुख लासमय है,
तब तुम्हीं क्यों खिन्न मन में? रसभरी मृदु तान सुन लो।
कह रहा मधुमास, सुन लो।

४८

सुमन का है लगा मेला।

कौन जो तरु नहीं फूला, हर्ष से जो नहीं झूला?
घूमते हैं मधुप वन-वन, सुरभि-मधु का मचा खेला।
सुमन का है लगा मेला।

सब अनूठे वसन पहने, रंग के अनमोल गहने;
झूमती हैं लता - बेलें, है नहीं कोई अकेला।
सुमन का है लगा मेला।

और, वनमाली! अभी तुम यहीं गृह में, घुला कुंकुम,
भरो मानस कामना भर, प्रकृति ने सब मधु उँडेला।
सुमन का है लगा मेला।

४९

उस दिन पहुँचा मैं संध्या में वह बैठी थी करुणा - समान
थे शुष्क अधर, बिखरी अलकें, उन्मन-उन्मन, मुख कांति म्लान ।
मैं उन्मद था अपने सुख में, दे सका न उस पर तनिक ध्यान ।
बोला, उठ मुझे प्रणाम करो, उसने दी अंजलि-प्रणति दान ।

पर, लहराई उसके मुख पर दुख की गहरी छाया कठोर;
जड़-सी बनने के लिए चली उसकी चेतन ममता अछोर !
मैं मर्माहत हो, उठा विकल, यह क्या कर बैठा यों अजान,
मेरी मानस की हलचल का हो गया सहज ही उसे ज्ञान ।

जाने कितनी ममता, करुणा, लज्जा, अनुनय से सजा दृष्टि,
देखा अपांग से मुझे, हृदय में मेरे की आनंद - सृष्टि !
जब सुधि आती है उस क्षण की, हो जाते मेरे द्रवित प्राण;
पाषाण सदृश मैं हूँ कठोर, वह कोमल निर्झर के समान !

जब सुधि आती है उस क्षण की, छा जाती आँखों में चितवन,
कमलायत दृग की सजल कोर, उमड़े जिनमें करुणा के घन !

५०

जिस दिन तुम आये, प्राण ! पास ।

उस दिन, सुलझो युग की उलझन, मन में मद भर लाई सुलझन,
तब से मन में सुखमय कंपन,
नयनों की उत्सुक स्निग्ध दृष्टि ढूँढ़ा करती पद-नख-प्रकाश ।

जब रोम-रोम में भर सिहरन, दृग में अनुराग भरी छलकन,
कर—संपुट में पागल पुलकन,
मेरी अलकों में मृदुल - अरुण था किया उँगलियों ने विलास ।

मन मुग्ध, दुग्ध-सी दृष्टि धवल, पलकें झुकतीं ले लाज नवल,
था रोम-रोम में अर्पण जल;
मैं मुग्ध बना था स्वयं आज यह देख तुम्हारा छवि विलास।

उस सरल परस का सुहलाना, विस्मृति का पलकों पर आना,
उस दिन मैंने मन में जाना;
पलकों से उतर, प्राण में घुल, बन जाना एक अमर हुलास!

तुमको अबतक निज दिया रूप; तुम भी उस दिन दे मुझे रूप,
बन गए विश्व-छवि अति अनूप;
तब कहा किसी ने, होता है यों प्रथम प्रणय का नव विकास!

तबसे पतझर में खिले फल, हो गए तिरोहित विषम शूल,
मैं सुख के मद में गया भूल;
जग ज्योतित मधुमय दीख पड़ा, जो था पहले तम का निवास।

उस दिन की सुधि लेकर मादक, मैं बना आज युग का साधक,
श्रीपद का युग - युग आराधक;
बजता रहता युग का सितार, नव गीत बिखरते अनायास!
जिस दिन तुम आये, प्राण! पास।

५१

वीणा के बिखरे तारों पर जगे नहीं मादक अनुराग,
एक तंत्र हो कर नर्तन हो, बरसावे न मरंद पराग;
नीरव निर्जन में न विकल हो आमंत्रण की करुण पुकार,
तव तक मेरी करो प्रतीक्षा, खोले रहो कुटी के द्वार!

अंतस्तल विक्षुब्ध उदधि का नहीं उलीचे अतल हिलोर,
रत्नराशि तट पर न डाल दे दिखलाने को प्राण - मरोर;

ले जाने को खींच पार तक उमड़े नहीं पुलक ले ज्वार,
तब तक मेरी करो प्रतीक्षा, खोले रहो कुटी के द्वार!

कुवलय - कानन की पंकजश्री खिले न अरुण लिए नव गंध,
कमलनाल, उत्तिष्ठ एक पद पथ न निहारे, पलक अमंद;
कलिका फूल न बने मुग्ध हो, हो विमुग्ध अलि की गुञ्जार,
तब तक मेरी करो प्रतीक्षा, खोले रहो कुटी के द्वार!

तरु का कंपन, पुष्प वृक्ष के ज्योति दीप की हो न प्रसन्न,
अक्षत गृह के अर्ध कलश का एक न हो मिलकर आसन्न;
इन्द्रधनुष - सी हो न प्रार्थना, पूर्ण न अर्चन का संभार,
तब तक मेरी करो प्रतीक्षा, खोले रहो कुटी के द्वार!

जीवन के मृत्पात्र दीप पर हो न तरंगित अतुलित स्नेह,
जले वर्त्तिका मधुर व्यथा की, बरसे चाहे पावस मेह;
दीपशिखा की कृशांगता पर हो न शलभ का चंचल प्यार,
तब तक मेरी करो प्रतीक्षा, खोले रहो कुटी के द्वार!

५२

बिक चुका बेमोल, प्रिय! मैं तो तुम्हारे बोल पर,
अब मुझे तोलो न फिर अपने निकष के तोल पर।
गिर न जाऊँ मैं कहीं, दुख हो तुम्हारे हर्ष को;
अब भुलाओ मत मुझे मृदु बाहु के हिंदोल पर!

टिक सकूँ बन पग - परस हो अर्चना के फूल ही,
लाज की लाली बना साजो मुझे न कपोल पर।
रह सकूँ उर में तुम्हारे एक हल्की याद बन,
साथ ले घूमो न तुम भूगोल और खगोल पर।

५३

[स्मिति के प्रति]

तुम शकुंतला-सी कौन सींचती हो यह किसकी फुलवारी ?
कोमल मृणाल कर लिए सुभग घट, अर्ध-विनत, छवि बलिहारी !
लहराती लोल लताओं के नीचे लेकर नूतन किसलय,
हीरक नख से अंकित करने बैठी हो कौन पत्र मधुमय ?

तुम चन्द्रकला-सी शुचिनिर्मल, तुम कुंद-कली-सी मृदु उज्ज्वल,
तुम कौन महाश्वेता - सी पावनता की दिव्य ज्योति कोमल ?
क्या पुंडरीक के विरह व्यथित ? तज करके निर्जन कानन को,
अधरों के माणिक शैल - खंड पर बैठी हो हरि-चिंतन को ?

तुम किस ललना की ललित लली, तुम किस तड़ाग की कुमुद-कली ?
प्राणों में मधु बरसाती हो लहरा लावण्य लता लवली।
क्या भेज रहीं दमयंती - सी प्रिय नल को तुम अपना सँदेश ?
उज्ज्वल पंखों के राजहंस को विदा कर रहीं दूर देश ?

मधुमय वसंत की संध्या-सी, मतवाली रजनीगंधा - सी,
सौरभ का अंचल फैलातीं फिरतीं अरण्य की वनिता-सी ?
वन में कोकिल-सी बोल रहीं, बन हेम वल्लरी डोल रहीं,
तुम कौन कल्पना - सी उठकर कवि की प्रतिभा को खोल रहीं ?

सजती हो भोले आनन में, जैसे शिशु-शशि की अवलेखा;
मिट जाती हो खिचकर ऐसे, ज्यों घन में कंचन की रेखा !
दुर्लभ दरिद्र की आशा - सी, विधवा की मधु अभिलाषा-सी,
किसकी प्रेयसि की सुषमा की टूटी - फूटी परिभाषा - सी ?

क्या तुम कुबेर की कन्या हो, कौतुक से रह रह हेर रहीं ?
मंजुल माणिक - मंजूषा से हीरों की कनी बिखेर रहीं ?

मलयज की शीतल लहरी-सी, सुखमय छाया-सी लहरी-सी,
पलकों में ढलती आती हो, मधुमय निद्रा बन गहरी-सी !

आवर्त कोपलों पर लेकर बहतीं तुम क्या-क्या छल करने ?
वह हुआ तिरोहित पल ही में, जो आया तुम्हें पार करने ?
मालिन बन क्या तुम गूँथ रहीं लघु हरसिंगार की मृदुमाला ?
जूही की कच्ची कलियाँ ले क्यों तुमने हार पिरो डाला ?

भीलनी ! बजाती हो कैसी यह वीणा मादक राग-भरी ?
उठ रही गमक, उठ रही मीड़, डट रही मूर्छना भी गहरी !
अब धरो तार पर मत उँगली, कर चुकी पार अंतस्तल में—
वह तान तुम्हारी मतवाली बन बाण अधखिले कुड्मल में ?

निमल सरसी में छहर उठी कैसी माधवी विलास लिए,
मृदु मंद पवन आंदोलित हो आमोद-मदिर-आवास लिए ?
निर्मोही रघुपति की सीते ! निर्वासित कूल-कगारों में,
बनकर विषाद की काया क्या बैठी विक्षिप्त विचारों में ?

तुम चलीं कहाँ ओ कनक किरण, किस सरसिज में पराग भरने ?
किन लोल लहरियों में तरने, किस तिमिर-लोक का तम हरने ?

५४

प्रबल झंझावात में तू बन अचल हिमवान, रे मन !

हो बनी गंभीर रजनी, सूझती हो नहीं अवनी;
ढल न अस्ताचल अतल में, बन सुवर्ण विहान, रे मन !
उठ रही हो सिंधु-लहरी, हो न मिलती थाह गहरी;
नील नीरधि का अकेला बन सुभग जलयान, रे मन !
कमल कलियाँ सकुचती हों, रश्मियाँ भी बिछलती हों,
तू तुषार-कुहा गहन में बन मधुप की तान, रे मन !

चित्रा

निमंत्रण

आओ, कर लो क्षण भर विराम।

निर्झर झर-झर झरता रहता अपनी अनंत धुन में विलीन;
खग-कुल कुलकुल कर कह जाता अपनी सुख-दुख गाथा नवीन;
हम पथिक एक पथ के दोनों, दोनों ही का है एक धाम।
आओ, कर लो क्षण भर विराम।

मलयानिल बहता मंद - मंद, सुमनों से कहता मधुर छंद;
वे उड़ चलते नीले नभ पर सौरभ बनकर, चढ़कर अमंद!
किसलय कहता कातर स्वर से, ले चलो मुझे भी बाँह थाम।
आओ, कर लो क्षण भर विराम।

जीवन-यात्रा में सुख क्या, रे? लें बैठ पलक भर एक संग;
स्नेहिल हो लें तममय पथ में, पावन - प्रकाश की हो उमंग;
एकाकी रे दुर्वह जीवन! फिर चलें न क्यों मिल याम-याम?
आओ, कर लो क्षण भर विराम।

लहरों के प्रति

प्रणयी की मृदुल उमंगों-सी, लज्जा की तरल तरंगों - सी,
यह खेल कौन अद्भुत रचती हो इन्द्रधनुष के रंगों-सी ?
अँधियाली में उजियाली - सी, सूखे वन में हरियाली - सी,
तुम हो अतीत-सी मधुर कौन ऊषा की मादक लाली - सी ?

किस कवि की तुम कल्पना सजल ? किस बालक की भावना सरल ?
किस होनहार नवयुवक हृदय की तुम स्वप्निल-कामना तरल ?
तुम बुद्धदेव की करुणा - सी लहराती ममता छहराती,
किस दीन-दुखी के मानस का सन्ताप मिटाने को जाती ?

तुम लघु-लघु, प्रिय-प्रिय कौन, अरी ! फिरती रहतीं चंचल-चंचल ?
मेरी पलकों पर फैलातीं अपनी मादकता का अंचल !
ऐ सुंदरियो, जल की परियो ! यह कैसी केलि मचाती हो ?
इठलाती हो, इतराती हो, मुसकाती हो, बल खाती हो !

आकांक्षा - सी ऊपर उठकर, प्रार्थना - सदृश नीचे गिरकर,
यह शिलाखंड में कौन लेख लिखती रहती हो निशिवासर ?
पल में उठतीं, पल में गिरतीं, यह कैसा है उत्थान - पतन ?
करतीं रहस्य क्या उद्घाटन— है ऐसा ही अस्थिर जीवन ?

पीयूष - वर्षिणी, निर्झरणी ! मेरे अंतस्तल में उतरो;
तन-मन में, प्राणों में मेरे नवजीवन का आनन्द भरो।
अपने ही जैसा कर दो यह मेरा मानस भी सरस-सरल,
कोमल-कोमल, निर्मल-निर्मल, उज्ज्वल-उज्ज्वल, शीतल-शीतल।

●

ग्राम-कन्या

वह ग्राम - कन्यका चली जा रही पथ में,
पहने कानों में तरकी, मुख पर बाला,
अधखुले बाल रूखे लहराते सिर पर,
आँखों में अंजन बड़ा- बड़ा - सा काला।

पेड़ों - पत्तों में जो लावण्य निखरता,
वह खेल रहा है उसके मुखमंडल पर;
अनजान नगर की हाट - बाट से, भोली,
वह देख रही है सबको कौतुक भरकर;

है लाल - लाल लहँगा काली ढिगवाला,
कुछ बूटे उसमें बने हुए है सुंदर,
ओढ़नी छींट की चमकदार चटकीली,
उस पर चोली है कसी गजी की मनहर !

है कोकाबेली लिए हाथ में फूली,
हैं हरे - हरे - से नाल लटकते भू पर,
वनदेवी जैसे आती चली नगर में,
हिरणी-सी जाती ठिठक, सकुच, कुछ लखकर।

गालों पर गुदना गुदा हुआ है नीला,
कुछ बुंदे उसके चमक रहे हैं बढ़कर,
गाँवों का तो है यही सिंगार मनोहर,
इससे लगती वह और सलोनी सुंदर।

राँगे की काली बिछियाँ हैं पाँवों में,
हाथों में चूड़ो पड़ीं लाख की पीली,
दो काँसे के हैं कड़े पड़े बाजू में,
चूनर की ढिग की कोर सुघर है नीली।

ग्राम-वधू

वह महुआ बिनती तरु नीचे।

कुछ नाम पता है ज्ञात नहीं, किसकी प्रेयसि, किसकी बहना ?
गोरी बाँहों में चार - चार हैं लाल - लाल चूड़ी—गहना;
पहने नीली - नीली धोती, मुँह-हाथ-पाँव अध-खुले हुए,
खिलती ज्यों आधी भरी नहर, तरुपत्र जहाँ हों लदे हुए।
खेतों - खलिहानों में इसने ही क्या अमृत के कण सींचे ?
वह महुआ बिनती तरु नीचे।

वह लाज भरी, सौन्दर्य भरी, है देख नहीं सकती ऊपर;
फिर भी आँखें बनतीं चंचल, वह देख रही अविरत भू पर;
फिर भी, आँखें लुक-छिप करके हैं देख रहीं मुझको रह - रह,
कौतुक - कौतूहल उसे बड़ा, यह कौन यहाँ आ गया सुबह ?
मेरा मन शीतल हुआ, शूल क्या इसने सब छन में खींचे ?
वह महुआ बिनती तरु नीचे।

है कहीं वासना नहीं उधर; है कहीं कामना नहीं उधर;
है आवभगत - सी आँखों में, जैसे पाहुन हो आया घर;
वह ग्राम-वधू, वह ग्राम-बाल, अपनेपन से है भरा हृदय;
वह ग्राम-जननि, वह ग्राम-देवि, वह भूख-प्यास कर देती क्षय;
निर्जन में जीवन डाल रही, निज कृति में रत है दृग मीचे !
वह महुआ बिनती तरु नीचे !

हीरे - से, मोती - से सुंदर शत-शत महुए बिखरे भू पर;
मीठी - मीठी उठती सुगंध, जो देती मन - प्राणों को भर;
है लिए बाँस की डलिया वह, जो रंग - बिरंगी है मनहर;

चुन-चुन महुए वह डाल रही, ज्यों मालिनि बिनती फूल सुघर;
ये ग्रामीणों के रसगुल्ले, जो पैदा करते बागीचे।
वह महुआ बिनती तरु नीचे!

हिमाद्रि का आत्मपरिचय

दूर ही से मनहरण मैं।

गगनचुंबी, उच्च - मस्तक, मुकुटमणि - सा सुभग जगमग,
शुभ्र - हिम - मंडित कलेवर, दिव्यता कमनीय पग - पग;
श्याम - नीलम तरु, लता, तृण, सुरभि-मधु-पूरित दिशा - मग,
किन्तु अंतर वाटिकाएँ, पतन का हूँ अवतरण मैं।
दूर ही से मनहरण मैं।

लिए हिम - शीतल गिरा हूँ, बना वन की सघन छाया;
विभव - वैभव खान हूँ मैं, किए अधिकृत विश्व - माया;
मसृण कोमलकान्त हूँ मैं, सजल - शीतल - स्निग्ध छाया,
पर उदर में महाज्वाला, स्वार्थ का दृढ़ संस्करण मैं!
दूर ही से मनहरण मैं।

अचल योग - समाधि साधे, ध्यान की धूनी रमाये,
जड़ तपस्वी - सा सुदृढ़, संयम-नियम की रज लगाये।
सह रहा हूँ विश्व - आतप 'तत्वमसि' का तन सजाये,
कामना के गर्त शत हूँ, वासना का उपकरण मैं!
दूर ही से मनहरण मैं।

एक भी तो डग नहीं मग में, जहाँ पर सम रहूँ मैं,
विषम हूँ इतना, कि जग- विश्वास का क्या क्रम रहूँ मैं?
जानता हूँ स्वयं, कितनी सत्यता का भ्रम रहूँ मैं,
कुलिश - कंटक हैं हृदय में, बाह्य कुसुमित - आभरण मैं!
दूर ही से मनहरण मैं।

बन रहे हो मुग्ध मन में पालकर मृदु मधुर आशा,
कर सकोगे यहाँ आकर पूर्ण अंतस की पिपासा,
छाँह पा शीतल - मनोरम कट चलेगी दुख - दुराशा;
उपल - जन्म है प्राण - घातक, नीर का बस संस्मरण मैं !
दूर ही से मनहरण मैं।

मैं स्वयं कटि तक धँसा हूँ, गहन खाई का किनारा;
हो सका अब तक कहाँ इस गर्त से मैं कभी न्यारा ?
उठ सकोगे किस तरह फिर, पा यहाँ मुझसे सहारा ?
क्षमा माँगूँगा प्रणत हो, आज ही क्या ? आमरण मैं !
दूर ही से मनहरण मैं।

वासंती

प्रिय, नव पल्लव खिले डाल में लोहित, रजत, स्वर्ण द्युतिमान;
लदी आम्र के ताम्र वृंत में हीरों की बौरें छविमान;
कुसुमों के नीलम प्यालों में ले माणिक मदिरा अभिराम,
मंद चरण धर चला समीरण, पिला रहा जग को अविराम।

प्रियतम की मधुमय वाणी-सी कुहुक उठी वह कल्याणी;
वन-वन, उपवन-उपवन उत्सव, आई मधुऋतु की रानी;
तृण-तृण, कण-कण में आकर्षण, नीलम दूर्वा उग आई;
धनी बनी वसुधा भिखारिणी, सुख - श्री की वर्षा आई।

सरोवरों की लघु-लघु लहरों में उठता मादक संगीत,
जैसे कोई जगा रहा हो मधुमय स्मृति से स्वर्ण अतीत।
युग-युग का विराग तजकर प्रिय ! आज अतुल अनुराग भरो;
अपनी चिर-परिचिता प्रीति के सिर पर मिलन-सुहाग भरो !

निवेदन

मेरे यौवन के निकुंज में आज खिले हैं नव-नव फूल,
बकुल, अमल पाटल, शेफाली, रजनीगंधा सौरभ - मूल।

भ्रमर आ रहे झूम-झूमकर, गाते हैं यौवन की तान;
बही सुगंध, गंधमधु-पागल अलि-दल चंचल गाते गान।

हो यह मधुऋतु सफल आज, यदि तुम भी आओ हो अनुकूल,
मेरे यौवन के निकुंज में आज खिले हैं नव-नव फूल!

स्वागत

लाज तजकर आज, प्रियतम!
खुले दिन में द्वार, आओ।

मिलो भुज-भर डगर-पथ में, ज्योति नव-नव भर नयन में;
बहे अविरल प्रेम - धारा अधर से छन-छन पवन में;
विश्व को दो सुरस संबल,
मत उसे उर में छिपाओ।

लोक की मिथ्या कथा से डर गए क्या सहज, साजन?
क्या उठा लोगे, सँवारी जो कुटी पर पर्ण - छाजन?
सत्य के बल पर टिको, प्रिय!
यह असत्य कथा भुलाओ!

मिलो दिन में, मिलो निशि में, मिलो तुम प्रतिपल निरन्तर,
बाह्य क्यों हो और अपना, एक जब हो चुके अंतर?
अचल प्रीति - प्रतीति से
जग के अडिग भ्रम को डिगाओ!

प्रतीक्षा के प्रहर

कब मिलन के क्षण बनेंगे चिर-प्रतीक्षा के प्रहर ये ?

भार प्रतिपल बढ़ रहा है विकल, उत्सुक कामना का;
आज से पहले न आग्रह रहा इतना याचना का;
फल न चाहा सद्य ही युग-युग अचल आराधना का;
आज कूल - कगार ढाती उठ रही कैसी लहर ये ?
कब मिलन के क्षण बनेंगे चिर - प्रतीक्षा के प्रहर ये ?

आज आतुरता बढ़ी इतनी कि टूटा अमर संयम;
धारणा औ' ध्यान चंचल, चेतना बन रही संभ्रम;
कुछ मिली आहट कि श्रुतिपुट में हुआ यह भान-उपक्रम;
'आ गए वे कमल - लोचन, पग गए मग में ठहर ये !'
कब मिलन के क्षण बनेंगे चिर - प्रतीक्षा के प्रहर ये !

बढ़ रही ज्यों-ज्यों अवधि, त्यों-त्यों विकलता बढ़ रही है;
सहज मानस-तट भिगोती कौन विस्मृति चढ़ रही है ?
मूर्च्छना-सी आ गई, क्या चेतना यह कढ़ रही है ?
मधुर आशा पर निराशा के गए तम-घन छहर ये।
कब मिलन के क्षण बनेंगे चिर-प्रतीक्षा के प्रहर ये ?

ढल चली है आज जीवन सांध्य, फिर भी वे न आये;
क्या सतत असफल रहेंगे फूल जो मैंने सजाये ?
कब तलक बैठा रहूँ मैं रात में दीपक जलाये ?
जल चुकी जब वर्तिका, कैसे सकेगी फिर ठहर ये ?
कब मिलन के क्षण बनेंगे चिर - प्रतीक्षा के प्रहर ये ?

●

आगमन

आज बरसों बाद आये इस कुटी के द्वार में, प्रिय !

दिवस भर जब माल गूँथी, रात भर दीपक जलाया,
और उनमें अश्रु के मकरंद का रस भी मिलाया,
आगमन का मदिर कलरव किन्तु फिर भी सुन न पाया;
आज आये तुम अचानक, क्या करूँ सत्कार मैं प्रिय ?
आज बरसों बाद आये इस कुटी के द्वार में, प्रिय !

बुझ गई है आज आँगन की सुगंधित धूप - बाती,
फेंक दीं, मुरझा गईं, तोरण- लतायें, फूल - पाती,
और मंगलघट उधर निर्जल धरा, अपना सँघाती;
कह सकेगा, अश्रु ये कितने गिराये प्यार में, प्रिय;
आज बरसों बाद आये इस कुटी के द्वार में, प्रिय !

अब न अभिलाषा, उमंगें, अब नहीं वे याचनायें;
आज वैरागिनि बनीं अनुरागिनी वे कामनायें,
मुड़ चली हैं चरण - वंदन में हृदय की साधनायें;
शरण दो अपने चरण की दिव्य गंगाधार में, प्रिय !
आज बरसों बाद आये इस कुटी के द्वार में, प्रिय !

तुम वही लावण्यमय, आरुण्यमय हो, पद्मलोचन !
खिल उठे जैसे क्षमा से हों अभी सुंदर विलोचन;
सुखद कितने आज तुम शरदेन्दु से, हे तापमोचन !
आज सागर शांत है, उर्मिल न पागल ज्वार में, प्रिय !
आज बरसों बाद आये इस कुटी के द्वार में, प्रिय !

●

अतीत स्मृति

आज आ रही है रह-रहकर बहुत दिनों की याद, सखे !
उमड़ रहा है रोम-रोम में एक अतुल आह्लाद सखे !

अहा ! मधुर-मधु थीं वे कितनी जीवन की मदमय घड़ियाँ ?
हमने तुमने हिलमिल गूँथीं प्यार-हार क़ी मृदु-लड़ियाँ।
हम दोनों को हुई अलग बस्ती जग में आबाद, सखे !
आज आ रही है रह-रहकर बहुत दिनों की याद, सखे !

फैल गई मेरी बगिया में सहसा प्यारी हरियाली;
फूले फूल, लतायें लहरीं, बही सुरभि वैभवशाली;
बने कमल की स्निग्ध हँसी तुम, मैं विमुग्ध मधुकर गुंजन,
फूट उठा तृण-तृण, कण-कण में नव-वसंत, नूतन यौवन।
हम तुम रँगे एक ही रँग में, चढ़ा एक उन्माद, सखे !
आज आ रही है रह-रहकर बहुत दिनों की याद, सखे !

वे सोने के दिन अपने, वे अपनी चाँदी की रातें,
रात-रात भर, दिन-दिन भर रसभरी रिझाने की बातें;
कितना था उनमें पागलपन, कितना उनमें सम्मोहन ?
एक साथ दोनों के उर में जागृत हु,ई हुआ कंपन;
उन मधुमय घड़ियों का कितना उन्मद-मदिर प्रसाद, सखे !
आज आ रही है रह-रहकर बहुत दिनों की याद, सखे !

अहा सुखद था वह कितना, संसार सुनहला था अपना;
टूट गई वह नींद, रह गया है केवल जगमग सपना;
सौरभ बन उड़ गया हमारे जीवन का मादक मकरन्द,
जिनकी सुधि में गूँथ रहा हूँ मैं ये कुछ दर्दीले छंद !
यह क्या कम है, अजर-अमर है उस दिन का संवाद सखे !
आज आ रही है रह-रहकर बहुत दिनों की याद, सखे !

परिचय

जान कर अनजान हूँ, भूली हुई पहचान हूँ मैं;
मुखर हो, हो मौन जो, उस मौनता की तान हूँ मैं।

दीप्त होकर बुझ चुकी, उस बुझे कण की आग हूँ मैं;
सजल हो जो अश्रु सूखा, वह जलनमय दाग़ हूँ मैं।
जो निशीथ ध्वनित बनाता, रणित राग विहाग हूँ मैं;
शीश पर चढ़ ढर चुका. उतरा नवीन सुहाग हूँ मैं;
स्वर न जग पहचान पाया, वह रुदनमय गान हूँ मैं;
जानकर अनजान हूँ, भूली हुई पहचान हूँ मैं!

रात भर जल प्रात शीतल बन गया, वह दीप हूँ मैं;
जन्म ले-ले मिट गए मोती जहाँ, वह सीप हूँ मैं।
जो सदा रहता अविकसित वह अपुष्पित नीप हूँ मैं,
बस चुका, उजड़ा अचानक, वह अभागा द्वीप हूँ मैं।
आदि था जिसका मधुर, उसका विधुर अवसान हूँ मैं;
जानकर अनजान हूँ, भूली हुई पहचान हूँ मैं;

घाव शत उर में लिए, पर संपुटित, वह फूल हूँ मैं;
थामता अंचल व्यथित का, वह कलंकित शूल हूँ मैं;
प्रणय-पथ पर चल चुका, उसकी अपरिचित भूल हूँ मैं;
देखता जो राह अपलक, वह उपेक्षित कूल हूँ मैं;
अवधि बनकर जो रमे, उन चरण का आह्वान हूँ मैं!
जानकर अनजान हूँ, भूली हुई पहचान हूँ मैं!

बन रही है छाँह शीतल, उस जलन की दाह हूँ मैं;
जो दबी रहती अतल में. वह कसकती आह हूँ मैं;
चाह बनकर जो धधकती, उस शिखर की चाह हूँ मैं;
छोर पा न सकी अभी तक, वह भटकती राह हूँ मैं ;

जो अधर तक छू न पाया वह अमृत का पान हूँ मैं;
जानकर अनजान हूँ, भूली हुई पहचान हूँ मैं;

मधुर सुधि के तंतु - से मृदु वृंत-आश्रित पत्र हूँ मैं;
वेदना से जल रहा जो, वह अरुण नक्षत्र हूँ मैं,
हो पराजय में जहाँ जय, हारमय वह जीत हूँ मैं;
प्रति कड़ी में मूर्च्छना हो, वह रसीला गीत हूँ मैं।
फूल खिल पाया न जो, उसकी कसक-अरमान हूँ मैं;
जानकर अनजान हूँ, भूली हुई पहचान हूँ मैं;

स्वर हुए लय खोज में, वह एक नीरव बीन हूँ मैं;
अतल जल में भी समाश्रित, वह पिपासित मीन हूँ मैं;
स्वाति को उर में छिपाए, विकल चातक दीन हूँ मैं;
दीपमय जल बन चुका जो, वह शलभ गतिहीन हूँ मैं।
अश्रु पी-पीकर खिली जो, वह अधर मुसकान हूँ मैं;
जानकर अनजान हूँ, भूली हुई पहचान हूँ मैं;

गीत

उस प्रेमी जीवन की जय हो।

जो पीता हो विष का प्याला, समझ अनूठी मादक हाला,
जन्म-मरण की भवबाधा से जिसकी आतमा अमर, अभय हो,
उस प्रेमी जीवन की जय हो।

जो दीपक पर प्राण होमकर, सोता जो सुख की समाधि पर,
जिस पर चढ़े हुए फूलों से यह धरणी सुरभित-मधुमय हो,
उस प्रेमी जीवन की जय हो।

गीत

उमड़ पड़ा है प्रेम न जाने आज कहाँ से चरणों में ?
छिपा हुआ बैठा था जाने उर के किन आवरणों में ?
पावस घन-सा उमड़ रहा मन, बरसेगा जाने किस ओर ?
प्यासा कौन, तृषा है किसको, किस चातक का उठता रोर ?

पर मैं तो अपना घट भरने तीर तुम्हारे आया हूँ,
घन हूँ, तो क्या ? नीर तुम्हीं से पाकर नभ पर छाया हूँ !
मेरे सिंधु अगाध रत्नमय, अमृत - विषमय पारावार !
कभी जान पाऊँगा क्या मैं, तुम कितने गंभीर, उदार ?

तुमसे ही लेकर रस अविरल चरण तुम्हारे सींचूँगा,
तुम न तपो ज्वालाओं में, मैं मन का आतप खींचूँगा ?

गीत

वे प्रणय के ध्यान मेरे।
बन रहे हैं आज पूजन- अर्चना के गान मेरे।

रूप उनका नित्य निर्मल, धो हृदय का कलुष - कज्जल,
बन बहा सुरसरि विमल जल,
पूर्णिमा से वे अमा में खिल उठे छविमान मेरे !

हाथ से लेकर हलाहल, पी गए मधु - सा अचच्चल,
दिया मृत को अमृत का बल;
आज मिथ्या में टिके वे सत्य बन अभिमान मेरे।

वे प्रणय के ध्यान मेरे।

गीत

यह दुराव अब चल न सकेगा।

चल न सकेगा यह संगोपन, खुलते भावों का संकोचन;
पहचानी मुसकान तुम्हारी, भ्रकुटि-धनुष अब छल न सकेगा।
यह दुराव अब चल न सकेगा।

पाकर चन्द्रवदन की छाया, शीतल बने प्राण - मन - काया;
भव - आतप के अगम पंथ में कोई भी दुख खल न सकेगा।
यह दुराव अब चल न सकेगा।

गीत

है दिया जब से सहारा,
जर्जरित - सी धमनियों में बह उठी नव रक्त - धारा।

हो गया फिर से हरा उजड़ा हुआ उपवन हमारा;
आज कोकिल कूकती है है, वसंत, दिगंत प्यारा।

आज ढीली बीन के ये तार फिर से सज गए हैं;
मधुर मीठी मीड़ उठती, स्वर निराले औ' नए हैं।
बह उठी आनंद - धारा।

हास है, उल्लास है इस जगत में, जीवन - समर में!
आज मदिर मलार गाकर खे रहा तरणी भँवर में;
शक्ति ने तन को सँवारा।

आज जननी के लिए अनुराग, नूतन त्याग जागा;
लौह - कड़ियाँ तोड़ दूँ, ज्यों सूत का हो मृदुल धागा!
आज बलि पथ बना प्यारा, है दिया जब से सहारा।

गीत

यह अशेष कथा हृदय की क्या कभी कह पायँगे, प्रिय।

सुन सकोगे तुम समय दे,
सुन सकोगे तुम हृदय दे?
औ' कभी क्या भाव अपने शब्द भी बन पायँगे, प्रिय?

दूर क्या होगी न लज्जा,
लिए शत - परिधान - सज्जा?
खोलकर अवगुंठनों को प्राण भी खिल जायँगे प्रिय?

फिर न कुछ कहना रहेगा,
फिर न यों बहना रहेगा;
एक मौन - समाधि - सुख में, विसुध हम हो जायँगे, प्रिय।

गीत

आज अर्चन, वंदना में बीतते हैं दिन हमारे;
तुम उधर किस ध्यान में, जाते किधर हैं दृग तुम्हारे?

अरुण चरणों की मधुर सुधि है हमें पागल बनाती,
किन्तु तुम तो घूमते हो दूर यमुना के किनारे!
चाहता मैं, कुछ न गाऊँ, गीत बन जाता अचानक;
और तुम हो मौन, क्या कुछ स्वर नहीं उठते तुम्हारे?

चाहता हूँ जानना, संबंध है कैसा हमारा;
क्या नहीं हम चल रहे है एक स्पंदन के सहारे?
तुम कहोगे, यह परीक्षा, यह कसौटी किसलिए है?
पूछ लो अपने हृदय से इस हृदय के प्रश्न सारे!

गीत

तुम वंचित न रहो।

लुटा दिया जब सब सौरभ-धन,
लुटा दिया दिशि-दिशि को मधुकण;
तब मेरी डालों के मधुकर! तुम क्यों रिक्त रहो?

आओ, मेरे जीवन - सहचर,
तुम भी पियो अधर-मधु जी भर;
झूमो मतवाले बन भू पर, विस्मृति लिए बहो।

आओ, नित्य - उपेक्षित मेरे;
कृपण बनूँ मैं क्यों हित तेरे?
तुमने जीवन-दान दिया, तो लो, जो दान चहो।
तुम वंचित न रहो।

गीत

तुम चिर-मुक्त रहो।

वन-वन, उपवन - उपवन डोलो,
सुमन - सुमन में नव मधु घोलो;
कलिका ही के उर में बंदी हो मत, अनिल, बहो।

क्यों मैं बाँधूँ परिधि तुम्हारी,
बनूँ तुम्हारी क्यों लाचारी?
मुक्त-गगन से हिलमिल खेलो, जीवन - मुक्ति गहो।

जब जी हो, आकर लहराओ,
मेरे कुंजों में रम जाओ,
यह तो धाम तुम्हारा ही है, जाओ जहाँ चहो।
तुम चिर-मुक्त रहो।

मुक्ता

फैला है अपार उपवन, फूलों का ओर न छोर;
नयनों की डलिया में कैसे पाऊँ रूप बटोर ?

अनुरोध

आँखों से आँखें मिलकर अब तक न हुई हैं चार;
किन्तु प्राण में प्राण घुल गए, हुए एक आकार !
इस बिछुड़न में बसा हुआ है एक अजब संसार !
जहाँ नित्य नव मादकता है करती मधुर विहार;

सखे ! न पर्दे से बाहर हो देना घूँघट खोल;
लुट जायेगी स्वर्ण कल्पना की विभूति अनमोल !!

गीत

बनूँ न पथ में बाधा,
इससे रहता दूर विजन में, लेकर अपनी वीणा वन में,
झंकृत हो न उठे यह मन में;
इससे ही, मेरे अनुरागी ! मैंने यह विराग - व्रत साधा।

रहो लीन तुम तप-साधन में, जीवन के अमृत - अर्जन में,
लक्ष्य समक्ष बढ़ो क्षण-क्षण में;
मिले मुझे तुम, तुम्हें नहीं जय, मिलन रहा तो आधा।
इससे ही, मेरे अनुरागी ! मैंने यह विराग - व्रत साधा।
बनूँ न पथ में बाधा।

गीत

तो सखि, फिर इसका क्या उपाय ?

जब मैं कुछ गाती हूँ डर-डर, वे उसमें भर देते निज स्वर;
मेरे गायन सुन्दर - सुन्दर, उनमें पड़ जाता है अन्तर;
मैं उनसे कह सकती न हाय !
तो सखि, फिर इसका क्या उपाय ?

क्या तज दूँ गाने का स्वभाव ? पर होगा यह दुखप्रद अभाव !
फिर कैसे उनसे हो दुराव ? मेरे मेरे ही रहें भाव !
पर उनका हृदय न चोट खाय !
तो सखि फिर, इसका क्या उपाय ?

गीत

मन ने मन को जान लिया है, जब तुमने पहचान लिया है।
फिर भी नीरव हृदय-कहानी, खुलती नहीं कण्ठ में वाणी;
किसकी लज्जा, किसका भय है, फिर यह किससे मान किया है ?
जीवन कितना है ? दो दिन का; मिलन सदा होता दो छिन का !
कब के लिए, कहो, फिर तुमने यह व्रत, मौन-विधान लिया है ?

गीत

क्यों तुमने आँख चुरा ली अब ?

कल तक तो लखते थे शशि-मुख, क्यों आते नहीं आज सम्मुख ?
अपना सुख आज बना है दुख,
क्यों छीन रहे मन का मधु सब ?

जिस गृह में आना-जाना था, सब कुछ जाना-पहचाना था,
ये चरण रुके जाते-जाते, यह तुमने रोक लगा दी कब ?

दो दिन तो और संग चलते, पथ में ही यों न मुझे छलते;
पहुँचा देते मुझको तट पर, चल देते तुम चुपके से तब !

क्यों तुमने आँख चुरा ली, कब ?

गीत

दिया मुझे जीवन का संबल, किन्तु दिवस दो रख न सका मैं।

कलुषित कर से छूकर पावन, किए स्नेह के फूल अपावन;
सदय रहे फिर भी मनभावन।
दिया अमृत-घट मुझे हाथ में, किन्तु अमृत-सा चख न सका मैं।

तुमने तो की शीतल छाया, जिससे हरी रहे नित काया;
पर मैंने फैलाई माया।
तुममें अपना रूप निहारा, रूप तुम्हारा लख न सका मैं।

गीत

सिद्धि की बेला न हो, हो साधना ही यह निरंतर।

हो चिरंतन ही तपस्या, और उलझी-सी समस्या;

जागरित-सा हो हृदय में, अलख का ही स्वर अनश्वर;

खोजने को प्राण आकुल, नयन घूमे, विश्व व्याकुल;

आगमन की हो न बेला, हो प्रतीक्षा ही मधुरतर !

सिद्धि की बेला न हो, हो साधना ही यह निरंतर।

गीत

मंदिर तक जाकर फिर आया।

सोचा चरण कलंकित मेरे,
भाव हृदय के शंकित मेरे,
उर में कल्मष अंकित मेरे;
हो न कहीं अपवित्र मूर्त्ति, मैं अपनी छाया से घबराया।

दूर, दूरतर और दूरतम
चला जा रहा हूँ अब क्रम-क्रम,
दूर हटे जिससे मन का भ्रम;
वह महान गौरव की प्रतिमा, मैं निज लघुता से सकुचाया।

मंदिर तक जाकर फिर आया।

मंदिर-दीप

मैं मंदिर का दीप तुम्हारा।

जैसे चाहो, इसे जलाओ, जैसे चाहो, इसे बुझाओ;
इसमें क्या अधिकार हमारा? मैं मंदिर का दीप तुम्हारा।

जला करेगा, ज्योति करेगा, जीवन-पथ का तिमिर हरेगा;
होगा पथ का एक सहारा! मैं मंदिर का दीप तुम्हारा।

बिना स्नेह यह जल न सकेगा, अधिक दिवस यह चल न सकेगा;
भरे रहो इसमें मधु-धारा। मैं मन्दिर का दीप तुम्हारा।

गीत

कब तक दृग से नहलाते बीतेंगी सूनी रातें ?
कब तक अरुणिम आँखों की पूछोगे कभी न बातें ?

दृग - तारों पर चढ़ - चढ़कर उतरेंगे कब तक तारे ?
गिर-गिरकर तप्त हृदय पर सूखेंगे आँसू खारे ?

आओ, नीरव रजनी में अपनी पदचाप छिपाए;
हो स्नेहहीन यह दीपक जल-जल न कहीं बुझ जाये !

गीत

कैसे गए भूल ? बोलो सरल प्राण ?

आती कभी क्या न तुमको मधुर याद ?
वह मधुभरी रात, वह मदभरी बात ?
सुख के सरस फूल अब तो बने बाण !

तुमने कहा था कि जीवन जगत पार
होगा सहज स्नेह, होगा अमर प्यार;
पर, तुम कहाँ ? मैं कहाँ ? अब धरो ध्यान ।

माना कि इसमें तुम्हारा नहीं दोष,
दुर्भाग्य अपना सजाता नयन कोष;
यदि मैं गया चूक, तो दो क्षमा-दान !

वे आश - अभिलाष, अब हैं बने धूल,
डिग-सा रहा आज, विश्वास का मूल,
बहती प्रखर वायु, उठकर करो त्राण;
कैसे गए भूल ? बोलो, सरल प्राण !

गति

यह उपहार तुम्हारा ही है।

मधुऋतु थी, आया अब पतझर, देखो पके केश, तन जर्जर,
मन जर्जर, जीवन है जर्जर;
यह भी प्यार तुम्हारा ही है, यह उपहार तुम्हारा ही है।

अब बीते दिन की सुधि आती, आँखों में आँसू भर लाती,
लगती आह! कसकने छाती;
यह सत्कार तुम्हारा ही है; यह उपहार तुम्हारा ही है।

ओ अपनेपन के अभिमानी! कृपण बनो मत, मेरे दानी!
वह श्रृंगार तुम्हारा ही था, यह श्रृंगार तुम्हारा ही है।
यह उपहार तुम्हारा ही है।

द्वन्द्व-गति

प्रलय रहेगा और प्रणय भी।

जीवन से होगी चिर-ममता, जीवन में है भरी विषमता;
युद्ध करेंगे, प्रेम करेंगे, क्रूर बनेंगे और सदय भी।
प्रलय रहेगा और प्रणय भी।

वीर स्वत्व के लिए लड़ेंगे, प्रेमी धँस पाताल गड़ेंगे;
यह संघर्ष रहेगा शाश्वत, देह रहेगी और हृदय भी।
प्रलय रहेगा और प्रणय भी।

राग रहेगा औ' विराग भी, आग रहेगी औ' पराग भी;
पथिक नहीं अपना पथ छोड़ो, भीत रहेंगे और अभय भी।
प्रलय रहेगा और प्रणय भी।

गीत

कब तक यह व्यापार चलेगा ?

नहीं खुलेंगे कब तक ये मन ? नहीं खुलेंगे कब तक ये तन ?
कल्पित स्वप्नों का जगजीवन कब तक जीवन - प्राण छलेगा ?
कब तक यह व्यापार चलेगा ?

कब संशय की भीति ढहेगी ? अविचल प्रीति-प्रतीति बहेगी ?
भुज-बन्धन का हार तुम्हारा मन के सारे शूल दलेगा।
कब तक यह व्यापार चलेगा ?

तन हो एक, एक मन होगा; एक हमारा जीवन होगा ?
मिलन - कुंज की मधु छाया में कब विस्मृति-मकरन्द ढलेगा ?
कब तक यह व्यापार चलेगा ?

गीत

क्या सुख ऐसे मधुर मिलन में ?

जब तक आकुल सजल प्रतीक्षा दे न सके तप की शुचि दीक्षा;
निशि के तारे धुलें न द्दिल में दोनों के जीवन में;

जीवन-सागर को मथ-मथकर, जले न व्यथा सजी सी रथ पर;
हो बड़वाग्नि न जलती जब तक दोनों ही के मन में;

एक विहाग न बजे नयन में, बहें नहीं आँसू क्षण - क्षण में;
उठे मूर्च्छना - मीड़ न जब तक दोनों ही के तन में;
क्या सुख ऐसे मधुर मिलन में ?

गीत

आज, माँझी, नाव को बाँधो नहीं, आज तुम पतवार को साधो नहीं।
मोह वह बेकार है सब छोड़ दो; आज लंगड़ इस तरी के तोड़ दो।
जायगी यह पार, या मँझधार में, तुम करो चिंता न बहकर प्यार में!
पास में जो भी दया हो, तोल दो; पाल अब तुम इस तरी के खोल दो।

थी बड़ी करुणा तुम्हारी, साथ दे पार दिखलाया इसे बढ़ हाथ दे।
आज यह जर्जर बनी है, भग्न है; मुक्ति को आई घड़ी, शुभ लग्न है!
ज्वार आये, या कि दीर्घ उतार हो, ढूंढ़ लेगी यह कभी तो पार को।
ज्वार के आघात में ही चूर्ण हो, जीत यह भी, मुक्ति अपनी पूर्ण हो।

अब इसे बाँधो न बंधन में कहीं; छोड़ दो, जी हो जहाँ, जाये वहीं!
तुम विदा दो, प्रेम से 'जय' बोल दो! आज, माँझी, नाव को तुम खोल दो!

मन-घन

आज फिर मन घन भरा है!
बाँध रक्खा था युगों से, अश्रु वह दृग से ढरा है!

बह रही है पवन सनसन, खुल रहा फिर प्रणय-बंधन;
विरह-लतिका पनपती है, घाव फिर अपना हरा है।

आज फिर बढ़ती विकलता, रूप का सुरधनु निकलता;
कौंधती है चाह उर की, आज पीड़ा उर्वरा है।

बह चले फिर नयन-निर्झर, बह चले सरिता-सरोवर;
कहाँ माँझी! पाल खोलो, आज जलप्लावित धरा है।
आज फिर मन-घन भरा है!

तुम

तुम कौन लिए यौवन अनंत मधुमय बसन्त बन आते हो ?
तुम कौन, किरण बनकर फूलों की सोई नींद जगाते हो ?

रजनी के प्रहरों में आते; क्यों दिन में आते सकुचाते ?
लज्जा से क्यों हो गड़ जाते ?
तुम छुई-मुई से कौन, ज़रा सा छूने से मुरझाते हो ?

तुम कौन ? न जिसने जग जाना, सब धर्म-कर्म को ठग माना;
पथ तुमने अपना पहचाना।
अनुगामी विश्व बना फिरता, तुम नूतन विश्व रचाते हो।

तुम पगपायल की रुमझुमरुम, तुम शिर-सुहाग की श्री-कुंकुम,
प्रतिदिन की भाषा मैं 'तुम' तुम !
अधरों पर मधुर नाम बनकर युग-युग तक अलख जगाते हो !
तुम कौन लिए यौवन अनंत मधुमय बसंत बन आते हो ?

आगमन

तुम पल में देते हो सँवार बिखरी-सी रूखी अलकों को;
नवजीवन सा मिल जाता है, मधु कौन पिलाते पलकों को ?
आँगन में चरण-किरण पड़ते, तम-सा अवसाद बिखर जाता;
इन अंग-लताओं में जाने कैसा रसरंग निखर आता !

वीणा के उतरे हुए तार सहसा पल में सध जाते हैं;
स्वर स्निग्ध सहज ही बन जाते, 'दरबारी' में बँध जाते हैं !
जीवन की काली रजनी में है प्रात सुनहला छा जाता;
खिलते हैं पुष्प मनोरथ के, मलयज मरंद बिखरा जाता !

हो जाता है साकार स्वप्न, निर्धन की अभिलाषा फलती;
मरुथल में नंदन उग आता, उपवन की कली-कली खिलती!
मुरझे प्राणों में रिमझिम कर है अमृत की फुहार पड़ती!
सूखे धानों को जल मिलता, हरियाली है बाँसों बढ़ती!

आगमन तुम्हारा होता है ऐसा ही, प्रिय, आनंद - भरा;
सब पाप - ताप मिट जाते हैं, पुलकित होते हैं प्राण, धरा!
अपवर्ग - स्वर्ग मिल जाते हैं शीतल अंचल की छाया में;
तुम कौन महान अलौकिक हो सीमित मानव की काया में?

हे ज्योतिर्मय! निज ज्योति-रश्मि से छू दो यह मिट्टी का तन!
मैं ज्योतिर्मय हो एक बनूँ, विच्छिन्न न हो फिर, अमर-मिलन!

गीत

यह भरा कहाँ का रूप अतुल लहराते तन-छवि-सागर में?
कितनी वीणा पिघलीं, जिनका रव झंकृत हो उठता स्वर में?
कितने पंकज-वन का वैभव? सो गया सिमट करके स्मिति में?
कितने बन का मधु एकत्रित है माणिक-अधरों की कृति में?

कितनी लतिकाओं - वल्लरियों के अंग-भंग करके क्षण-क्षण--
कर - पल्लव, बाहु - लतायें ये विधि ने विरचे भर आकर्षण?
कितने प्राणों का रूप और रस-गंध सत्य-शिव ले सुंदर--
यह रूप तुम्हारा रचा गया विधि की अनन्त निधियाँ लेकर?

क्या बतलाओगे भेद कभी अपने विराट इस वैभव का?
लगते असीम तुम क्यों इतने, क्या है रहस्य इस गौरव का?

रिमझिम

नवल नील मणि की आभा ले छाये नभ में श्यामल घन;
सजल हो उठी आकुल धरणी पा प्रिय का मधुमय दर्शन;
सर हो उठे उच्छ्वसित, उन्मद, गाते मुग्ध - मिलन के गान;
चले तरंगित सरिताओं में हो जाने को अन्तर्धान।

सरितायें चल पड़ीं चपलगति ले मानस की मत्त उमंग;
महासिन्धु में आत्मप्रलय कर बन जाने को एक तरंग।
विकल बेलियाँ विरह ताप से जो थीं अब तक दीन-मलीन,
वे भी हुईं पल्लवित-कुसुमित, तरु के अन्तरतम में लीन।

कालिदास के विधुर यक्ष के दूत सहृदय! नील जलधर!
क्या तुम मुझको इतनी भिक्षा दे न सकोगे, करुणाकर?
ले जाओ मेरे ये आँसू, बरसा दो उन चरणों पर,
जीवन-हिमकण चढ़ा दिया है जिनकी कंचन - किरणों पर।

उस प्रदेश में जाकर बरसो, हे पर - दुख - कातर नवघन!
जहाँ छा रहे हों निर्मोही, अपलक नयनों के चिंतन।
उस प्रदेश में जाकर बरसो, चातक को दो जीवन - दान,
तृणतृण में, कणकण में क्षणक्षण गुंजित हो पी-पी की तान;

उस प्रदेश में जाकर बरसो, मधुकर को दो मृदु गुंजन,
पात-पात में, फूल-फूल में फूट उठे नूतन यौवन।
उस प्रदेश में जाकर बरसो, मोरों को दो गीले गान,
उर - उर के कम्पन में जागृत हो अति करुण-प्रणय आह्वान।

मेरे गृह मेरे प्रिय आयें, तो ले पत्र - पुष्प - चन्दन,
पहले वन्दन करूँ तुम्हारा, पीछे उनका अभिनन्दन!

आँसू के प्रति

कौन तुम गोल-गोल अनमोल, कपोलों पर ढुलके अनजान ?
सीपियों के मोती ! मत गिरो, पतन में रखा नहीं है मान !
हमारी कितनी मधुर उमंग, हमारी कितनी साध अपूर्ण !
तुम्हारे गिरने ही के साथ पलक में हो जायेगी चूर्ण !

झुलसने लगता है जब गात, तुम्हीं ले आते हो बरसात;
तुम्हारी छाया में दिन - रात झरा करता है अश्रुप्रपात !
हृदय की फुलझड़ियाँ अनमोल ! बुझो मत, करती रहो प्रकाश !
अरे कुछ तो न मिलेगा तुम्हें अँधेरा कर मेरा आवास !

तुम्हें चढ़ना ही है यदि कहीं, अरे मेरे हीरों के हार !
चढ़ो उन चरणों में, उपहार, किया जिन पर जीवन बलिहार !

●

आँसू के कण

ढुलक पड़े तुम भी कपोल पर, ऐ शीतल उज्ज्वल जलकण !
फिर कैसे कंपित न धैर्य हो, खोकर अंतिम अवलंबन ?
दीन - दुखी - दुर्बल के बल ऐ, अस्थिर उर के आश्वासन !
तुम मत अपना अंचल खींचो, ऐ करुणा के नन्हें कण !

ऐ मेरी आँखों के पानी, यदि ढुलकोगे तुम क्षण-क्षण,
तो फिर कहाँ मिलेगा आश्रय ? यह जग तो निर्मम, भीषण !
कौन अतृप्त हृदय सींचेगा, बन झरने की तरल झरन ?
कौन तिमिर - पथ में छायेगा, बनकर मधुमय स्वर्ण किरण ?

श्रमिक, दीन, दुर्बल, गरीब की कठिन कमाई के कंचन !
खुलो गाँठ से अभी नहीं तुम, बँधे रहो निर्धन के धन !
ऐ सहृदय ! इस समय न छोड़ो, जब तक ज्वाला, जलन, तपन;
सजल रखो सूखी कोरों को, बनकर हृत्तल के चंदन !

बार-बार ढल-ढल पल-पल में व्यक्त करो मत उत्पीड़न;
इस जग में सुख के सब संगी, दुख में कोई नहीं स्वजन।
लवण-सिंधु के मधुमय अमृत ! दो मृत-हृत को नवजीवन !
ढलो नहीं आकुल आँखों से, ऐ मेरे आँसू के कण !

तुलसीदास

अकबर का है कहाँ आज मरकत सिंहासन ?
भौम राज्य वह, उच्च भवन, चारण, वंदीजन;
धूलि धूसरित ढूह खड़े हैं बनकर रजकण;
बुझा विभव - वैभव - प्रदीप, कैसा परिवर्त्तन ?

महाकाल का वक्ष चीरकर किंतु निरंतर
सत्य सदृश तुम अचल खड़े हो अवनीतल पर;
रामचरित - मणि - रत्न - दीप गृह - गृह में भास्वर,
वितरित करता ज्योति, युगों का तम लेता हर।

आज विश्व - उर के सिंहासन पर हो मंडित,
दीप्तिमान तुम अतुल तेज से, कांति अखंडित;
वाणी - वाणी में गुंजित हो बन पावन स्वर,
आज तुम्हीं, कविश्रेष्ठ ! अमर हो अखिल धरा पर।

बोधिवृक्ष

तुम कौन छिपाये व्यथा हृदय में खड़े यहाँ, कानन - वासी ?
किसलिए उदासी छाई है, किसलिए बन गए संन्यासी ?
क्या सोच रहे हो तुम अपने जीवन, सहचर की करुण-कथा ?
या दग्ध कर रही है तुमको उस दया-सिंधु की विरह्-व्यथा ?

क्यों मौन खड़े हो, हे तरुवर ? कुछ तो मर्मर स्वर में बोलो;
उलझी है कौन गाँठ उर की, अपने मन का रहस्य खोलो ?
हे भाग्यवान ! सौभाग्य तुम्हारा- सा किसने जग में पाया,
जिसके अंचल में रहने को करुणावतार आतुर आया ?

शुद्धोदन का वह रत्न - जटित सिंहासन विगलित हो क्षण में,
तव चरण-धूलि धर मस्तक पर हो गया धन्य इस जीवन में !
वह दिन कितना मधुमय होगा, जब पल्लव - छाया के नीचे,
करुणावतार की मधुर मूर्ति बैठी होगी आँखें मीचे !

थी दिव्य ज्ञान की ज्योति उसी दिन उतरी जग के आँगन में,
करुणा की धारा फूट पड़ी जिस दिन गौतम के जीवन में !
वह था जगती का स्वर्ण-काल, जब अभयदान जग ने पाया,
करुणा की आर्द्र हिलोरों से जब हृदय-हृदय था भर आया।

इस बाह्य रूप का भेद भूल आत्मा ने आत्मा को जाना;
दो बिछुड़े हृदय मिले फिर से, प्राणों ने सुख था पहचाना !
युग-युग हैं तब से गए बीत, हे मौन ! आज कुछ गाओ तुम;
संदेश दया का भूले हम, अब फिर से उसे सुनाओ तुम !

हे बोधिवृक्ष ! तव आँगन में जगती के नर - नारी आयें;
संतप्त हृदय तब छाया में प्राणों को शीतलता पायें !

●

बुद्धदेव के प्रति

क्या अब फिर तुम आ न सकोगे ?

हिंसा नृत्य कर रही गृह-गृह, मृत्यु ग्रसित करती है रह-रह,
रक्त धार उठती है बह - बह;
फिर आकुल आँखों में अब तुम क्या दो आँसू ला न सकोगे ?

जब जगती थी शोणित-मग्ना, चेतनता थी तिमिर - निमग्ना,
गति - मति - प्रगति हुई थी भग्ना,
तब तो तुम आये थे उत्सुक, क्या अब चरण बढ़ा न सकोगे ?

मानव में है रही न ममता, स्वप्न बनी प्राणों की समता;
फिर किसमें हो करुणा, क्षमता ?
भरा विषमता से भव आकुल, क्या समक्रम लौटा न सकोगे ?

फिर अशोक चढ़ते कलिंग पर, शोणित से हो रहे खड्ग तर,
नर - संहार मचा है बर्बर;
बनकर दारुण ताप हृदय में क्या परिवर्तन ला न सकोगे ?

लौटा दो वह युग मंगलमय, पशु पक्षी सब जिसमें निर्भय,
जहाँ अहिंसा का अरुणोदय;
प्राण-प्राण में एक सुरभि हो, क्या वह मधुऋतु ला न सकोगे ?

आओ, एकबार फिर आओ, लाओ, वह मंगलदिन लाओ,
गाओ, वह करुणा - लय गाओ;
आज कहो मत, वह करुणा का महागान फिर गा न सकोगे ।

क्या अब फिर, तुम आ न सकोगे ?

पूजा-गीत

परिचय

जब 'जीवन-साहित्य' निकला, तब यह विचार था कि इसमें कविता व कहानी को स्थान न देंगे। दूसरे पत्रों में इनकी भरमार रहती ही है। फिर 'जीवन-साहित्य' का छोटा कलेवर इनसे बचाया जा सके तो अच्छा ही है। किन्तु पहले अंक के लिए ही द्विवेदी जी की 'पूजा-गीत' कविता मिली, व साथ ही कविता न छापने के निश्चय पर उलाहना भी।

वन्दना के इन स्वरों में
एक स्वर मेरा मिला लो।
वंदिनी मा को न भूलो,
राग में जब मत्त झूलो;
अर्चना के रत्नकण में
एक कण मेरा मिला लो।
जब हृदय का तार बोले,
शृंखला के बंद खोले,
हों जहाँ बलि शीश अगणित,
एक शिर मेरा मिला लो।

कहना नहीं होगा कि कविता छपी ही नहीं, बल्कि उसने भविष्य में 'जीवन-साहित्य' में कवितायें छापने का मार्ग भी खोल दिया। 'पूजा-गीत' मुझे इतना पसन्द आया कि जब भक्ति, वंदना या उपासना की मनस्थिति में होता हूँ तो—

'वंदना के इन स्वरों में एक स्वर मेरा मिला लो'—गुनगुनाने लगता हूँ।

द्विवेदी जी का कवि युग के प्रति वफ़ादार है। जो कवि अपने आपके प्रति सच रहता है, वह सबके प्रति सच्चा रहता है। सोहनलाल जी को मैं युग-कवि मानता हूँ।

महादेवी, 'नवीन', 'प्रेमी' की पीड़ा और व्यथा व्यक्ति में से जन्म पाकर सामाजिक बनती है, अतएव उसमें एक व्यक्तिगत व रागात्मक अपील रहती है। सोहनलाल जी की व्यथा का उद्गम राष्ट्र से होता है, उसकी अभिव्यक्ति भावात्मक तथा विधायक होती है।

यदि प्रसन्नता, सजीवता, प्रभावोत्पादकता कविता का प्रधान गुण हो, तो सोहनलाल जी इसमें लाजवाब हैं।

हरिभाऊ उपाध्याय

१

वीणापाणि ! मुझे वर दो !

गाऊँ मैं झूमे जग मद में, बहे तिमिर किरणों के नद में,
मेरे उर के तारों में वे दो कड़ियाँ धर दो !
वीणापाणि ! मुझे वर दो !

गाऊँ पावन गीत मनोरम, सत्य खिले, हो दूर मोह-भ्रम;
हो जीवन-पथ ज्योतिर्मय, इतनी करुणा कर दो !
वीणापाणि ! मुझे वर दो !

गाऊँ युग की नवल प्रभाती, निशा चले मृदु चरण छिपाती;
हो मंगल-प्रभात अवनी में, वह मंगल स्वर दो !
वीणापाणि ! मुझे वर दो !

२
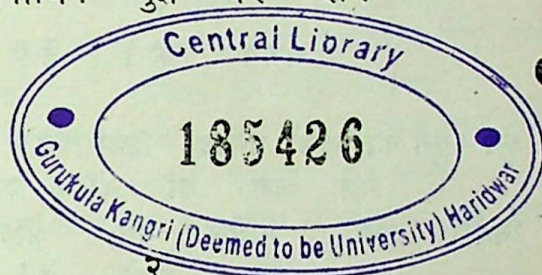
अंतरतम में ज्योति भरो हे !

जहाँ-जहाँ नत मस्तक पाओ, वहाँ वहाँ युग चरण बढ़ाओ;
मेरे मंगलमय ! दुर्बल पर निज कर-पल्लव सबल धरो हे !
अंतरतम में ज्योति भरो हे !

जहाँ-जहाँ पर देखो कारा, वहीं बहाओ करुणा-धारा;
बंधन-मुक्त करो, युग-युग के पाप-ताप-अभिशाप हरो हे !
अंतरतम में ज्योति भरो हे !

३

अभय करो, अभय करो, अभय करो हे!

काटो उर - तिमिर - बन्द, खोलो नव - ज्योति - छंद,
बिखरे नव - बल - मरन्द;
ज्योति भरो, शक्ति भरो, भक्ति भरो हे!

उर में हो नई स्फूर्ति, युग - युग की मिले पूर्ति,
मन में हो मातृ - मूर्ति;
पाप हरो, ताप हरो, शाप हरो हे!
अभय करो हे!

४

अभय करो हे!

युग - युग का जड़ प्रमाद, छिन्न करो विष - विषाद,
नव बल का दो प्रसाद;
निर्बल तन, निर्बल मन, ओज भरो हे!
अभय करो हे!

नयनों में तम अपार, करुणा की किरण ढार,
खोल प्राण - रुद्ध - द्वार,
नूतन पथ, नूतन रथ, सूत्र धरो हे!
अभय करो हे!

शिर पर हो वरद हस्त, क्यों फिर हो देश त्रस्त?
नवकृति में सकल व्यस्त;
युग - युग के बंधन चिर, अचिर हरो हे!
अभय करो हे!

५

जग - जीवन की दोपहरी में शीतल छाँह बनो, मेरे कवि !

श्रान्त पथिक पावे कुछ रस कण सूख चलें मस्तक के श्रमकण,
निरालम्ब के नव अवलम्बन, करुणा - बाँह बनो मेरे, कवि !

पीड़ित प्राणों में बन गायन, करो नींद, मधु - सुख का वर्षण;
वसुधा के जलते कण-कण में, अमृत-प्रवाह बनो, मेरे कवि !

●

६

आज युग का राग गा पिक !

झरें पोले पत्र तरु के, आज जागें भाग्य मरु के;
जीर्ण जग, इस भव पुरातन में नवल निर्माण ला, पिक !
गिरे युग का शीर्ण वल्कल, रूढ़ियों का छत्र श्यामल;
खिलें सुख के सुमन सुंदर, वह मधुर मलयज बहा, पिक !
हिम, तुषार - निपात भागे, आज मधु का मर्म जागे;
मुक्ति-मधुऋतु के मधुप के छंद वंदनवार छा, पिक !

आज युग का राग गा पिक !

●

७

शक्ति की दात्री ! तुम्हीं हो, शक्ति की ही याचिनी ?

अन्नपूर्णे ! तुम क्षुधित हो ? फिर न क्यों मानस मथित हो ?
देवि ! यह दुर्दैव कैसा ? आज तुम रजवासिनी !
केश रूखे, धूलि लुंठित; बनी वीणा - वाणि कुंठित,
राजराजेश्वरि ! बनी हो आज तुम कंगालिनी !

है फटा अंचल लहरता, बन दरिद्र - ध्वजा फहरता;
रत्न - आभरणे ! बनीं तुम आज पंथ - भिखारिणी !
है कहाँ वह पूर्व महिमा ? है कहाँ वह दर्प गरिमा ?
आदिशक्ति ! अशक्ति कैसी ? पददलित अभिमानिनी !

अंग पर है गलित कंथा, चल रहीं तुम विषम पंथा;
ओ शिवे ! यह वेश कैसा अशिव ? चित्त - विदारिणी !
स्तन्य-पयमयि ! अमृत-स्राविनि! जननि!उठ ओ जन्मदायिनि!
कोटि - कोटि सपूत तेरे, तू नहीं हतभागिनी !

जाग ! माँ ! ओ जगद्धात्री ! तू दया की बन न पात्री !
ले त्रिशूल सतेज कर में, ओ त्रिशूल - विनाशिनी !

८

वंदिनी तव वंदना में कौन सा मैं गीत गाऊँ ?

स्वर उठे मेरा गगन में, हो ध्वनित प्रत्येक मन में;
कोटि कण्ठों में तुम्हारी वेदना कैसे गुँजाऊँ ?
फिर न कसकें क्रूर कड़ियाँ, हों सुशीतल जलन-घड़ियाँ;
प्राण का चंदन तुम्हारे किस चरणतल पर लगाऊँ ?

धूलि-लुण्ठित हों न अलकें, खिलें पा नवज्योति पलकें;
दुर्दिनों में भाग्य की मधु-चन्द्रिका कैसे खिलाऊँ ?
तुम उठो, माँ ! पा नवल बल, दीप्त हो फिर भाल उज्ज्वल !
इस निविड़ नीरव निशा में किस उषा की रश्मि लाऊँ ?

वन्दिनी तव वन्दना में कौन सा मैं गीत गाऊँ ?

९

लौटो आज, प्रवासी !

मधुपी बने न झूमो बन में, मधु घोलो मत जगजीवन में;
आकुल नयन हेरते तुमको, दूर न हो, अधिवासी !
लौटो आज, प्रवासी !

क्यों तुम भूले अपनेपन को ? क्यों न देखते उर के व्रण को ?
क्या प्राणों की वंशी में बजती है नहीं उदासी ?
लौटो आज, प्रवासी !

अब किस रस में मुग्धमना हो ? किस आसव में स्निग्धमना हो ?
भस्म हो रहा भवन तुम्हारा, अब मत बनो विलासी !
लौटो आज प्रवासी !

१०

ओ तपस्वी !
आज इस रण की घड़ी में यह सुभग शृंगार कैसा ?
इस प्रलय के काल में यह प्रणय का अभिसार कैसा ?

ओ मनस्वी !
जाग ! आँखें खोल, है गत रात, अरुणिम प्रात आया;
बढ़ रहा है देश आज अशेष लेकर प्राण, काया !

ओ निजस्वी !
आज चल उस ओर, है जिस ओर बलि चढ़ती जवानी,
भाल पर युग के रहे तेरी अरुण जलती निशानी !
ओ यशस्वी !

११

इतना आज करो !

दो क्षण दो माँ के वंदन में, दो कण दो माँ के अर्पन में;
जो अवशेष बचे, ले उसको, धरा धाम वितरो !
इतना आज करो !

दो पग बढ़ो मातृ - मंदिर में, दो डग आओ मातृ-अजिर में;
दो नयनों में व्यथित वंदिनी के दो अश्रु भरो !
इतना आज करो !

१२

इतना मान रखो !

भूले रहे कनक काया में, यौवन की मादक माया में;
जीवन के दो चार पलक तो रुक करके परखो !

अब तक भूले रहे देश को, जननी के प्राणांत क्लेश को;
आज निहारो उसे नयन भर, दर्शन - सुधा चखो !

जिसने तुम्हें दिया यह जीवन, किया उसे तुमने क्या अर्पण ?
उऋण हुए क्या माँ के ऋण से ? अपनी कीर्ति लखो !

इतना मान रखो !

१३

तुम उस राह न जाओ !

जो जाती वैभव के गृह में, सुख-सम्पति के कारागृह में;
बनो ग्रास के दास नहीं तुम, भले त्रास पाओ !

स्वर्ण और माणिक के कंकण, बनते जहाँ प्रगति के बंधन;
रहो दिगंबर, धूलि - धूसरित, रज में सो जाओ !

बनो दीन - दुर्बल के अंचल, बनो न तुम दुर्योधन के बल;
लाक्षागृह के बनो न स्रष्टा, युग - द्रष्टा, आओ !

तुम उस राह न जाओ !

●

१४

जाग ! सोये देश !

आत्महंता ! अब न सो तू; जागरण के बीज बो तू;
मर न बनकर भीरु, वर जय; वीर का धर वेश !
जाग ! सोये देश !

सो रहे, ओ देश मानी ! सो रही अपनी जवानी !
आज जीवन - ज्योति तेरी हो रही है शेष !
जाग ! सोये देश !

बिसुध ! दुर्बल है, विवश है ? केसरी होकर अवश है ?
जाग ! भर हुंकार, कड़ियाँ छिन्न हों अवशेष !
जाग ! सोये देश !

दलित के अरमान, जग हे ! विजय के बलिदान, जग हे !
जाग ! मुक्ति-प्रभात ! भव के शेष हों सब क्लेश !
जाग ! सोये देश !

पूर्व के अपवर्ग, जग हे ! एशिया के गर्व जग हे !
बुद्ध, ईसा औ' मुहम्मद के अमिट सन्देश !
जाग ! सोये देश !

●

१५

अब जगोगे किस उषा में ? जब जगाया तब न जागे !

नींद में सोते रहे तुम; आत्मबल खोते रहे तुम;
प्रात आया, अब उठो तो ! सब सुनहले स्वप्न भागे !

काल ले सर्वस्व भागा; है न घर में एक धागा;
नग्न तन, भयमग्न मन है, भग्न गृह, प्रासाद आगे।

उठो, फिर खँडहर सँवारो; प्राण, तनमन, जन्म वारो;
आज नव निर्माण में दो दान, जो भी देश माँगे !

१६

ओ हठीले जाग !
आज पलकों से निराली अलस निद्रा त्याग !

अब नहीं वे दिन सुनहले, औ' रजत की रात,
अब न मधु-ऋतु, बह रही पतझड़ भरी-सी वात;
आज धूसर ध्वंस में बजता असीम विहाग !
ओ हठीले जाग !

बुझ गये हैं विभव के वे भव्य भवन प्रदीप;
जल रहे हैं आज गृह में व्यथा के शत दीप !
धुल गया है भाल से वह पूर्व अरुण सुहाग !
ओ हठीले जाग !

आज प्राची में खिलीं किरणें मदिर रमणीय;
ला रहीं संदेश नव, बेला बनी कमनीय;
आज नव निर्माण का छिड़ने लगा फिर राग !
ओ हठीले जाग !

१७

ओ जवानी ! जाग !

सो रही तू आज रानी; सो रही मेरी निशानी,
सो न अब, पगली, अरी उठ ! अलस निद्रा त्याग !

जाग री, उन्मादिनी ओ ! प्रणय-अंक-प्रमादिनी ओ !
उदयगिरि पर बज रहा है आज भैरव राग !

अग्निरथ पर चढ़, रँगीली; प्रलय रथ पर बढ़, हठीली;
जल रही होली निरंतर, खेल जीवन - फाग।

चल, अमृत का पान कर ले, अमरता में स्नान कर ले;
मातृ-भू के शुभ्र अंचल का मिटा दे दाग !
ओ जवानी ! जाग !

●

१८

जाग ! जनगण !
आज प्रलय - विषाण बाजे, काल पर दे ताल शत - फण !
जाग ! जनगण !

जाग नवयुग के विधाता ! दीन-दुर्बल-दलित-त्राता !
जाग ! ओ जनता जनार्दन ! हो छली का दम्भ मर्दन !
जाग ! जनगण !

जाग ! प्रलयंकर भयंकर ! जाग ! त्रिनयन ! जाग शंकर !
भस्म हो अभिशाप युग का, मुक्त हो गति-रुद्ध जीवन !
जाग ! जनगण !

●

१९

डिग न, रे मन !

आज आर्त - विषण्ण - दीना, मा बनी मुख - कान्ति - क्षीणा,
अन्न - धन - सर्वस्व हीना !
पूत ! आज सपूत बन तू, पोंछ रे माँ के नयन - कण !

सजल नयन निहारती है; विकल व्यथित पुकारती है;
बुझ रही अब आरती है;
प्राण का घृत दे, अमृत हे ! बने ज्योतित मन्द जीवन !

कसकती हैं क्रूर कड़ियाँ; सिसकती हैं प्रहर घड़ियाँ;
तोड़ दे, रे, लौह - लड़ियाँ;
पुरुष ! तव पुरुषत्व पर है बज रही जंजीर झनझन !
डिग न, रे मन !

२०

क्षण भर रुको, पथिक अजान !

पिये-सी हो आज प्याली; घिरी दृग में मदिर लाली;
सुन रहे हो मुग्ध होकर, क्या इसी से गान ?

पलक पर है अलक बिखरी; आज अभिनव कांति निखरी;
क्या न आता मातृ-भू का कभी तुमको ध्यान ?

किस तरह श्रृङ्गार - वैभव, फिर सुहाता वेश नवनव,
गलित अंचल देख माँ का क्या न गलते प्राण ?

यदि यहीं के देशवासी, तो न आज बनो विलासी,
मातृ - मन्दिर में चलो, है हो रहा आह्वान !
क्षण भर रुको, पथिक अजान !

२१

जननि ! जन-जन के हृदय की आज तुम वीणा बजाओ !

जो युगों से आज सोये, है सकल अपनत्व खोये,
आज मन-मन में विजय की कामना मधुमय जगाओ !

आज स्वर-स्वर में तुम्हारी वन्दना हो चित्तहारी;
शक्ति दो, मा ! बन्धनों मे भुक्ति की सुख-श्री खिलाओ।

२२

मातृ-मन्दिर में चलो, प्रिय, हो रहो है आरती !

शङ्ख - ध्वनि उठने लगी है, दीप की लौ भी जगी है,
आज वोणापाणि ले वीणा स्वयं झनकारती !

रही पहले की न गरिमा, बन्धनों में बँधी प्रतिमा;
आज सुषुमा भग्न, प्रतिमा नग्न तुम्हें पुकारती !

अजिर में हो आज वन्दन, अचिर माँ के कटें बन्धन,
कोटि कंठों में बजें, रणवाद्य, बलि की भारती,
मातृ-मन्दिर में चलो, प्रिय, हो रही है आरती !

२३

जननी आज अर्ध-क्षत-वसना ! खुलती नहीं तुम्हारी रसना !
यह जीवन ही जीवन है यदि, तो तुम अब न जियो !

कसा शृंखलाओं में मृदु तन, आह ! दुसह है यह उत्पीड़न !
बहुत सह चुके, असह व्यथा है, यह व्रण आज सियो !

कोटि कोटि तुम जिसके त्राता ! क्षुधित तृषित अ-वसन वह माता !
अमृत दान दो, अमृत-पुत्र है ! या ले गरल पियो !
यह जीवन ही जीवन है यदि, तो तुम अब न जियो !

२४

सुन सकोगे क्या कभी मेरी व्यथा की रागिनी ?

जलन की ये विषम घड़ियाँ, फिर कसेंगी बन न कड़ियाँ,
कोटि कंठों में बजेगी, यह अमन्द विहागिनी !
नयन में ढल आयेगा जल, जायगा पाषाण-उर गल,
मैं अभागिनि भी बनूँगी क्या कभी बड़भागिनी ?

तुम सभी मिलकर चलोगे, युगों के बन्धन दलोगे,
फिर नहीं झनझन बजेगी लौह की यह नागिनी !
सुन सकोगे क्या कभी मेरी व्यथा की रागिनी !

२५

आज मैं किस ओर जाऊँ ?

इधर है रण का निमंत्रण, उधर कर में प्रेम कंकण;
भ्रमित, चकित, जड़ित बना मन, मैं किधर निज पग बढ़ाऊँ ?
मृत्यु आलिंगन इधर है, अधर का चुम्बन उधर है,
मधु भरे दोनों चषक हैं, किन्हें प्राणों से लगाऊँ ?

त्याग दूँ क्या यह प्रलय पथ, चलूँ, चढ़ लूँ बढ़ प्रणय-रथ,
इति बने यह द्वन्द्व का अथ, मिलन में मंगल मनाऊँ ?
किन्तु, उधर पुकार आती, विकल रव चीत्कार आती,
क्वणित बनती व्रणित छाती, तब किसे कैसे भुलाऊँ ?

प्राण ! दो तुम भाल - चंदन, विदा दो, हो मातृ-वंदन,
शक्ति दो तुम, भक्ति जागे, मुक्ति-पथ पर शिर चढ़ाऊँ !
आज रण की ओर जाऊँ !

२६

आज कवि ! जग !
त्याग अन्तःपुर, निरख ये जा रहे हैं कौन दृग ठग ?

ध्वज तिरंगा सुदृढ़ कर में, ध्यान किसका आज उर में ?
जा रहे ले गर्व नव, हैं छा रहे कैसे अरुण पग ?
आज कवि ! जग !

किधर है रण, कौन है प्रण ? मौन हो ये सह रहे व्रण !
आज विचलित कर न पाता क्यों इन्हें शोणित भरा मग ?
आज कवि ! जग !

चल रही है कौन आँधी ? क्या कहा, गतिमान गाँधी ?
जागरण की कनक किरणें कर रही हैं देश जगमग !
आज कवि ! जग !

कवि ! चलो अब तो समर में, क्या यहाँ सुनसान घर में ?
तान छेड़ो अब वहीं तुम, बल बढ़े पा कर सबल डग !
आज कवि ! जग !

२७

आज है रण का निमंत्रण !

कृषक अपने खेत छोड़ो, चरणगति को आज मोड़ो,
ले चलो हल स्कंध में औ' वृषभ भी हों साथ, ज्यों गण !
श्रमिक ! श्रम सब आज त्यागो, किरण फूटी, जाग भागो !
राष्ट्र का खँडहर सँवरता, ले चलो तन, रक्त के कण !

सजग युग के तरुण जागो, तेज तप के अरुण जागो,
आज तुम पर ही चला अभियान यह, तुम लो नियंत्रण।

आज है दिन साधना का, राष्ट्र की आरधना का,
स-धन निर्धन, सबल निर्बल, सब चलो लेकर समर्पण !

सैनिको ! लो शंख अपने, अब खुलेंगे पंख अपने,
मेघ हट जाएँ गगन से, आज हो वह नाद - वर्षण !
वैदिको ! होगी न हिंसा, आज का व्रत है अहिंसा,
स्वत्व लो अस्तित्व देकर, फिर पियो अमरत्व के कण !

आज है रण का निमंत्रण !

२८

आज तुम किस ओर ?

उधर धन-बल पर सकल अन्याय बनते न्याय,
इधर दुर्बल पददलित अगणित विकल असहाय;
उधर युग-शासक, इधर युग युग दलित जनरोर !
आज तुम किस ओर ?

उधर दल-बल, सबल तोपें भर रहीं हुंकार,
इधर अर्पित प्राण की पड़ती न सुन झंकार;
इधर सब निःशस्त्र, शस्त्रों का उधर रव घोर !
आज तुम किस ओर ?

उधर अत्याचार की है रक्तमय तलवार,
इधर जननी के चरण में जन्म शत बलिहार;
आज बल की ओर तुम, या आज बलि की ओर ?
आज तुम किस ओर ?

२९

जब विषम स्वर बज रहे हों, तब न निज स्वर मन्द कर, हे !

बढ़ रहे हों चरण सम में, वे न जा पहुँचे विषम में;
इन विवादी - से स्वरों की मूर्च्छनायें बन्द कर, हे !
छेड़ अपनी रागिनी तू, चित्त प्राणोन्मादिनी तू;
दग्ध जीवन के क्षणों को स्निग्ध नव मकरन्द कर, हे !

रव सुने कोई नहीं तव, चुप न रह, गा गीत नवनव;
रुक गई गति जिन उरों की, आज उनमें स्पंद भर, हे !
बढ़ उधर, हो जिधर आँधी, चढ़ उधर, हो जिधर गाँधी;
वंदिनी के मुक्ति - पथ की यातना आनन्दकर, हे !

३०

देवता तुम राष्ट्र के, क्या भेंट चरणों में चढ़ाऊँ ?

हम अभी कल सो रहे थे, आत्म - गौरव खो रहे थे;
बन किरण तुमने जगाया, क्या सुमन-सा खिल न जाऊँ ?
आत्म - बल तुमने जगाया, प्राण का कल्मष भगाया;
ज्योतिमय ! किस ज्योति से मैं आरती अपनी सजाऊँ ?

पा तुम्हारे ही इशारे, बढ़ रहे हैं पग हमारे;
दो हमें बल युग-चरण में, युग चरण अपने बढ़ाऊँ !
नयन, मन, जीवन हमारे, हो चुके कब के तुम्हारे;
यह समर्पित धन, समर्पण में कहाँ कब भेंट लाऊँ ?

मातृ - मन्दिर आज जगमग, जागरण का पर्व पग-पग;
वन्दना के गीत गाओ, मैं उसी में स्वर मिलाऊँ !
ले चलो जयमाल तुम जब, गूँथ लो उसमें मुझे तब,
माँ-चरण में शरण पाकर, आमरण मंगल मनाऊँ !

३१

आज युद्ध की बेला!

बुझे मशाल न, तेल डाल लो, अस्त्र-शस्त्र अपने सँभाल लो;
हैं तोपें हुंकार भर रहीं, बापू बढ़ा अकेला!
कोटि कोटि मेरे सेनानी! देखें, तुममें कितना पानी?
अंतिम विजय-हार अपनी है, है यह अंतिम खेला!

आज युद्ध की बेला!

३२

तुम जाओ, तुम्हें बधाई है!

मेरी जननी के सेनानी! मेरे भारत के अभिमानी।
पहनो हथकड़ियाँ, रण-कंकण, माँ देती तुम्हें विदाई है!
ओ सेनापति! नरनाहर हे! माता के लाल जवाहर हे!
तुमको जाते यों देख आज उन्मत्त बनी तरुणाई है!

आँखों के आँसू, आज रुको, तुम अडिग रहो, नीचे न झुको;
मंगल बेला में बनो फूल, जा रहा युद्ध में भाई है,
तुम जाओ, तुम्हें बधाई है!
तुम कहीं कभी भी झुके नहीं, तुम कहीं आज तक रुके नहीं;
वह तरल तिरंगा लहराता, धरती ऊपर उठ आई है!

कब तक होगा यह देश मूक? होंगी अब कड़ियाँ टूक-टूक;
यह हूक अचूक चुनौती बन घर घर न्यौता दे आई है!
हम पीछे, तुम आगे-आगे, सरदार! चलो, जीवन जागे;
बापू के कुछ मस्तानों ने सत्ता की नींव हिलाई है!

तुम जाओ, तुम्हें बधाई है!

३३

चलो चलो हे !

शंख बजा, हव्य जला, आहुति का चक्र चला,
मन्द हो न अग्निहोत्र, प्राण ढलो हे !
चलो चलो हे !

मन्दिर में साम गान, आत्माहुति, बलिप्रदान,
बनो अरुण यज्ञ शिखा, जलो जलो हे !
चलो चलो हे !

दम्भी हों आज ध्वस्त, दुःख दैन्य अस्त-त्रस्त;
मुक्ति ऋचा गाओ तुम, तिमिर दलो हे !
चलो चलो हे !

●

३४

नवयुग की शंख-ध्वनि पथ पर।

तुम कैसे बैठे निर्जन में ? लेकर विषाद निज जीवन में,
क्या कुछ न रक्तकण यौवन में ? चढ़ो प्रलय के रथ पर।

बच न सकोगे इन लपटों से, महाकाल की इन झपटों से,
अत्याचार, छद्म, कपटों से मुड़ो न भय के अथ पर।

झंझा को, झड़ को बढ़ झेलो, मेघों से, बिजली से खेलो,
वज्र गिरे छाती पर ले लो, बढ़ो, मृत्यु को मथकर

नवयुग की शंख-ध्वनि पथ पर।

●

३५

आई फिर आहुति की बेला !

बैठो गृह में नहीं, प्रवासी ! छोड़ो मन की सभी उदासी,
जननी की कातर पुकार की करो नहीं अवहेला !
आई फिर आहुति की बेला !

कुछ समिधायें शेष रही हैं, तरुण-अरुण क्या ज्वाल बही हैं,
यह निरग्नि बंदी जीवन अब कब तक जाये झेला ?
आई फिर आहुति की बेला !

तुम भी अपनी हूति चढ़ाओ, पूर्णाहुति दे यज्ञ बढ़ाओ;
तिल-तिल दे दो दान, हठीले ! आज मुक्ति का मेला !
आई फिर आहुति की बेला !

३६

जागे जग में मंगल प्रभात !

करुणारुण उषा रँगे अंबर, नीलोदधि पहने पीतांबर,
उज्ज्वल हिमाद्रि हो स्वर्णगात !

संकुचित कमल-दल हो उदार, विकसित हों पा मधु-श्री अपार,
हों हरित प्रकृति के पात-पात !

हो स्नेह-स्निग्ध मानव का स्वर, यह आत्ममिलन बन जाय अमर,
फिर आवे कभी न दुखद रात !

जागे जग में मंगल प्रभात !

३७

जय जय निर्भय हे ! जय जय जय जय हे !

आत्म नियंता, आत्म तपस्वी, सत्य सबल, दुर्भेद्य मनस्वी,
रण-प्रण-व्रण-मय, अमर यशस्वी,
बलमय, बलिमय हे ! जय जय जय जय हे !

दीन दलित जनगण के त्राता, मृत हत जीवन जन्म विधाता,
जय जय भारत भाग्य विधाता !
युग युग अक्षय हे ! जय जय निर्भय हे !

शोषित पीड़ित जन के नायक, नवयुग, नवजग, राष्ट्र विधायक,
महामुक्ति के कर्मठ गायक !
भव अरुणोदय हे ! जय जय निर्भय हे !

३८

जीवन हो वरदान ।

प्रतिपल सुन्दर हो, सुखकर हो, ज्ञान मुखर हो, कर्म मुखर हो,
रहे आत्मसम्मान ।

अविचल प्रण हो, अविरल रण हो, यश बनता निज तन का व्रण हो,
प्रिय हो निज बलिदान ।

बड़ी साध हो, गति अबाध हो, अपनी पूर्णाहुति अगाध हो,
फल का रहे न ध्यान ।
जीवन हो वरदान ।

३९

फिर भी हो न निराश, राही !

कोई पथ में रहें न साथी, जिनसे बड़ी बड़ी आशा थी;
आज अकेले ही चल, भर बल, बन तू स्वयं प्रकाश, राही !

बिजली चमके, झंझा गरजे, मेघ वज्र-रव करके बरजे;
डिग न तनिक भी, अडिग चला चल, होगा दुर्दिन नाश, राही !

द्वार रुद्ध हो, घोर निराशा, त्याग नहीं मन की चिर-आशा,
विमुख लौट कर भी न कभी भी, कर विश्वास-विनाश, राही !

फिर भी हो न निराश, राही !

४०

कल है मेरी बार, प्रवासी !

दूर देश में जाना होगा, जहाँ न प्रतिदिन आना होगा,
लौह कपाटों से रहते हैं बन्द जहाँ के द्वार, प्रवासी !
आज करो मत यह आयोजन, पुष्पहार, अर्चन, अभिनन्दन,
करो कामना, झेलूँ सुख से, जो हों कठिन प्रहार, प्रवासी !

मोह करो मत, दृग जल ढारो, क्या पवित्र कर्त्तव्य, विचारो;
देखो—धूलि-धूसरित माँ है, बहती दृग जल-धार, प्रवासी !
एक - एक कर आना होगा, तन-मन-प्राण चढ़ाना होगा,
सुन पड़ती क्या ज़ंजीरों की तुम्हें नहीं झनकार, प्रवासी !

गये सभी अपने दीवाने, वे आज़ादी के परवाने;
कैसे रुक सकता मैं, बोलो ? आती तीक्ष्ण पुकार, प्रवासी !

मिलना हो तो, तुम भी आना, बिछड़ों को मिल कंठ लगाना,
खूब बनेगी, मिल बैठेंगे जब दीवाने चार, प्रवासी !

होगा सारा राग अधूरा, नहीं करोगे यदि तुम पूरा।
एक साथ बजने ही होंगे इन प्राणों के तार, प्रवासी !
मैं बड़भागी, तुम्हीं अभागे, कहो नहीं यह मेरे आगे;
बन्दी सुखी, दुखी स्वतन्त्र है, अब तुम पर सब भार, प्रवासी !

धीरज रखना, फिर आऊँगा, जन्म-जन्म तक मैं धाऊँगा,
जब तक जननी बनी वन्दिनी, कटें न बेड़ी-तार, प्रवासी !

कल है मेरी बार, प्रवासी !

४१

स्वागत ! आज प्रवासी !

आये आज छिन्न कर कड़ियाँ, युग-युग की लोहे की लड़ियाँ,
गृह-गृह मंगल-दीप जल रहे, मन की मिटी उदासी !
आये कारागृह में तपकर, मुक्ति मन्त्र निशिवासर जपकर;
पावन करो आज आँगन को, ओ माँ के संन्यासी !

पाकर तुमसे ही नरनाहर, गिरे राष्ट्र उठते फिर ऊपर;
तरल तिरंगा लहराता फिर देख तुम्हें गृहवासी।
तव चरणों की धूलि, तीर्थ-कण बिखरा दो ये सिकता पावन;
हम मृतकों में जागे जीवन, ओ बलि के अभ्यासी !

स्वागत ! आज प्रवासी !

४२

उनको भी सद्‌बुद्धि, राम ! दो।

भूले हैं जो नाम तुम्हारा, भूले हैं जो धाम तुम्हारा,
उनको भी श्रद्धा अकाम दो।

भटक रहे मिथ्या माया में, आतम भूल, उलझे काया में,
उनको भी गतिमति प्रकाम दो।

व्यथा-ग्रथित मुख, दुख से कातर, ढरो आज उन पर, करुणाकर !
उनको भी दुख में विराम दो।
उनको भी सद्‌बुद्धि, राम ! दो।

४३

मङ्गलमय ! बल दो !

दुर्भर भार शीश पर हो अति, रुकती हो थक करके पदगति,
रुकें न चरण, मरण को वर लें वह प्रण संबल दो।
मङ्गलमय ! बल दो !

विश्व विमुख हो मेरे पथ में, बढ़ूँ अभय हो निज गति-रथ में,
टूटें चक्र, अस्थियाँ धर दूँ, प्रगति न दुर्बल दो।
मङ्गलमय ! बल दो !

आतमबोध दो, आतमज्ञान दो, मानव को जीवन महान दो।
जान सकूँ अपने को वह, प्रभु ! तप - बल उज्ज्वल दो !
जीवन उज्ज्वल दो !
मङ्गलमय ! बल दो !

क्या अब तुम फिर आ न सकोगे ?

जब जगती थी शोणित-मग्ना, चेतनता थी तिमिर - निमग्ना,
गति-मति-प्रकृति बनी थी भग्ना,
तब तो तुम आये थे उत्सुक, क्या अब चरण बढ़ा न सकोगे !

हिंसा नृत्य कर रही गृह-गृह, मृत्यु ग्रसित करती है रह-रह,
रक्तधार उठती है बह - बह,
फिर आकुल आँखों में अब तुम क्या दो आँसू ला न सकोगे ?

फिर अशोक चढ़ते कलिंग पर, शोणित से हो रहे खड्ग तर,
नर - संहार मचा है बर्बर;
बनकर दारुण दाह हृदय में क्या परिवर्तन ला न सकोगे ?

है मानव में रही न ममता, स्वप्न बनी प्राणों की समता,
फिर किसमें हो करुणा - क्षमता ?
भरा विषमता से भव व्याकुल, क्या सम क्रम लौटा न सकोगे ?

लौटा दो वह युग मङ्गलमय, पशु - पक्षी सब जिसमें निर्भय,
जहाँ अहिंसा का अरुणोदय,
आत्ममिलन के सघन कुंज हों, क्या वह मधुऋतु ला न सकोगे ?

आओ, एक बार फिर, आओ, लाओ, वह मङ्गल दिन लाओ,
गाओ, वही गीत फिर, गाओ;
आज कहो मत—वह करुणा का महागान फिर गा न सकोगे ?

क्या अब तुम फिर आ न सकोगे ?

४५

करो इस भव में नव निर्माण!

प्राण में बजे एक ही तार, स्नेह की हो पावन झंकार,
वचन में हो अमृत की धार, भरो मृत-हत में जीवन-प्राण!

तिरोहित हो अन्तर का भाव, प्रकट हो युग का पुण्य प्रभाव,
मनुज से मनुज न करे दुराव, व्यथित मानवता पावे त्राण!

एकता सब धर्मों का धर्म, अहिंसा हो जीवन का मर्म,
सत्य की सेवा हो सत्कर्म, विश्व में हो मंगल कल्याण!

करो इस भव में नव निर्माण!

४६

है सभी घट में रमा वह फिर कलह की बात क्या रे?

सब मठों में एक प्रतिमा, है सभी की एक महिमा,
दिव्य मधुमय प्रात में फिर दुखमयी यह रात क्या रे?
है सभी घट में रमा वह फिर कलह की बात क्या रे?

भ्रान्ति जग का मधुर पलना, छिपी उसमें क्षुद्र छलना,
प्राण पावन हैं सभीं में, फिर अपावन गात क्या रे?
है सभी घट में रमा वह फिर कलह की बात क्या रे?

४७

यह हठ और न ठानो!

मंदिर क्या हैं नहीं तुम्हारे? मसजिद जिनकी, क्या वे न्यारे?
मठ, विहार किसके हैं सारे?
सभी तुम्हारी गौरव - गरिमा, निज को पहचानो!

फिर लड़ते हो क्यों आपस में? कैसा बैर भरा नस-नस में?
तुम हो किस दानव के वश में?
यह षड्यंत्र सिखाया किसने? तुम उसको जानो!

हिन्दू, मुसलिम, सिक्ख इसाई, क्या न सभी हैं भाई भाई?
जन्मभूमि है सबकी माई!
क्यों न कोटि कंठों से मिल फिर जय - वितान तानो!

यह हठ और न ठानो!

४८

भव की व्यथा हरो!

भय छाया है देश - देश में, अस्त्र - शस्त्र के छद्म वेश में;
खोलो बन्द हृदय के लोचन, निर्मल दृष्टि करो।
भव की व्यथा हरो!

मानव आज बन रहे दानव, भव में बसा रहे हैं रौरव;
विकसित करो संकुचित शतदल, मधुर मरंद भरो!
भव की व्यथा हरो!

राष्ट्र - राष्ट्र में है संघर्षण, करते सब शोणित का तर्पण;
व्यथित विश्व के मस्तक पर निज करुणापाणि धरो!
भव की व्यथा हरो!

४९

कब होगा गृह-गृह में मंगल?

टूटेगी आँगन की कारा, मुक्त बनेगा जनगण सारा,
'जय जननी' के महाघोष से गूँजेगा अंबर, अवनीतल!

नव उत्साह-भरित मन होंगे, नव निर्माण-निरत जन होंगे,
नव चेतन के महाप्राण से होगा दृग-प्राणों में नव बल !

ले करके शत-शत आयोजन, होगा मातृभूमि का पूजन,
महा आरती में गूँजेगा, कोटि-कोटि कंठों का कल कल !
एक जातिमत, एक लोकमत उन्नत होगा, सब विरोध नत;
फिर जय के अभियान उठेंगे पाकर मानव का तप निर्मल !

युग-युग का कलि-कलुष छनेगा, अपना नव इतिहास बनेगा,
एक बार फिर निज मस्तक से उन्नत होगा भाल हिमाचल !

कब होगा जीवन में मंगल ?

५०

इस निविड़ नीरव निशा में कब सुवर्ण प्रभात होगा ?

संकुचित सरसिज खिलेंगे, सुरभि - मधु गृह - गृह मिलेंगे,
बह रहा अमृत लिये मन का अमंद प्रपात होगा !
करेंगे खग - विहग कलरव, सजेंगे नव - नवल उत्सव,
मुक्त प्रात - समीर में खिलता सुनहला गात होगा !

झुकेंगी फल - भार शाखें, झुकेंगी मद - भार आँखें;
यह प्रलय का दिन, प्रणय की गोद में प्रणिपात होगा !
विभव की दूर्वा नवेली, बन सकेगी प्रिय सहेली,
आज के मरु में सुखद नंदन - सदन नवजात होगा !

वेदना के व्यथित तारे, डूब कर जलनिधि किनारे,
फिर न आयेंगे कभी, यह चिर तिमिर अज्ञात होगा !

नवकिरण की मदिर लाली, भर सकेगी रिक्त प्याली,
एक ही स्वर कोटि कंठों में ध्वनित अवदात होगा !

विषम पथ ये सम बनेंगे, सुखद जीवन-क्रम बनेंगे,
जन्म नव, जीवन नवल, नवदेश, नवयुग ज्ञात होगा !
इस निविड़ नीरव निशा में कब सुवर्ण प्रभात होगा ?

५१

हैं अमर गायन तुम्हारे और तुम हो चिर-अमर, कवि !

पा तुम्हारी पुण्य प्रतिमा ! जग गई निज लुप्त गरिमा,
विश्व-रजनी में उगे, रवि ! भर गये आलोक नव, कवि !
पा तुम्हारी ज्योति-महिमा, पूर्व में छाई अरुणिमा,
पा तुम्हें हम पा गये पावन-पुरातन ऋषि-प्रवर, कवि !

एक बार विदेश के फिर, मातृ-पद पर नत हुए-शिर,
कोटि कंठों में तुम्हारी लहर गीतांजलि उठी, कवि !
कौन वह जनपद अभागा, जो तुम्हें पाकर न जागा ?
बंधनों की शृंखला में बज रहे बन मुक्ति-स्वर, कवि !

हैं अमर गायन तुम्हारे और तुम हो चिर-अमर, कवि !

५२

भाई महादेव देसाई !

बापू को तज करके पथ में, चढ़कर अमरमृत्यु के रथ में,
मिला निमंत्रण, कहाँ चल पड़े ? देरी कुछ न लगाई !
अब बापू का हाथ बटाकर, राष्ट-कार्य का भार घटाकर,
कौन आयु देगा बापू को, किसने वह गति पाई ?

कौन राष्ट्र-इतिहास लिखेगा ? पावन राष्ट्र-विकास खिलेगा,
वह लेखनी ले गये तुम तो जो थी लिखने आई !
चले रिक्त कर गोद देश की ! क्या भूलोगे सुधि स्वदेश की ?
स्वतन्त्रता की ज्वाला बन कर उर - उर धधको, भाई !

भाई महादेव देसाई !

५३

स्वागत ! तुलसी के आँगन में, स्वागत ! कबीर के प्रांगण में !
स्वागत ! शंकर की काशी में, विज्ञान-ज्ञान के उपवन में !
थे यहीं बुद्ध, शंकर आये, अपनी - अपनी विभूति लाये,
उनकी सुधि बिखरी कण-कण में ! स्वागत ! तुलसी के आँगन में।

वह भी था कभी समय पावन, काशी का गृह-गृह ज्ञान-सदन,
वैभव के उस खँडहर वन में ! स्वागत ! तुलसी के आँगन में !
वह भी थीं काशी की घड़ियाँ, थीं गृह-गृह में माणिक-मणियाँ,
हरिचन्द धनी उतरे प्रण में। स्वागत ! काशी के आँगन में !

गंगा के तट पर खड़ी - खड़ी काशी सुधि करती घड़ी - घड़ी,
वे स्वर्ण-दिवस किस रज कण में ? स्वागत ! तुलसी के आँगन में !
था भारतेन्दु का उदय यहीं, थीं जिसकी किरणें अमृतमयी,
हिन्दी प्रभात के प्रांगण में ! स्वागत ! तुलसी के आँगन में !

पा शक्ति विश्वविद्यालय की, काशी प्राचीन उठी है जी,
ऋषियों के पुण्य तपोवन में। स्वागत ! तुलसी के आँगन में !
दर्शन - पुराण की ग्रंथि यहीं ऋषि सुलझाते थे बैठ कहीं,
इस उजड़े हुए तपोवन में ! स्वागत ! तुलसी के आँगन में !

हे आगत, स्वागत है, आओ, इस तीर्थ - भूमि में सुख पाओ,
नव जीवन हो तन में, मन में ! स्वागत ! तुलसी के आँगन में !
भारत - जन-मानस-विहारिणी, है यहीं नागरी - प्रचारिणी,
शुभ भारत कला - निकेतन में, स्वागत ! तुलसी के आँगन में !

कुसुमित हो आज मधुर आशा, निज हिन्दी बने राष्ट्र-भाषा,
गूँजे स्वदेश के जन - जन में ! स्वागत ! तुलसी के आँगन में !

५४

एक स्वर गाता रहा हूँ, एक ही स्वर गा रहा हूँ।

तुम अभी तक देश भूले, वंदिनी के क्लेश भूले !
एक दुख पाता रहा हूँ, एक ही दुख पा रहा हूँ
आज बंधन - मुक्त हो तुम, भाल - चंदन - युक्त हो तुम;
एक युग लाता रहा हूँ, एक ही युग ला रहा हूँ।

५५

आज सोये प्राण जागे ! देश के अरमान जागे !

सज चली अक्षोहिणी है, बज चली रण-किंकिणी है,
कोटि-कोटि चरण-धरण से युग-युगों के मान जागे !
टाल अवगुंठन मुखों का, मोह - सम्मोहन सुखों का,
माँ, बहिन आगे बढ़ीं सब, मधुर मंगल गान जागे !

है हिमाचल आज उन्नत, देख निज गौरव समुन्नत,
आज जन के, जनपदों के हृदय में उत्थान जागे !

नील सिंधु गरज रहा है, बार-बार बरज रहा है,
सावधान ! दिगन्त दिग्गज ! देश के अभिमान जागे !
हथकड़ी हैं खनखनातीं, बेड़ियाँ हैं झनझनातीं,
आज बन्दी के स्वरों में क्रान्ति के आह्वान जागे !

आज सोये प्राण जागे !

५६

जय जय जाग्रत हे ! जय जय भारत हे !

रण - प्रण - बद्ध विपुल सेना दल उठे, युगों के ज्यों गौरव-बल,
आज मुखर आँगन में हलचल,.
जय प्रस्थान-निरत, जय ध्वनिमय, गतिमति संयत हे !
जय जय जाग्रत हे ! जय जय भारत हे !

स्वमृत जातिभेद, भय - उद्‌भव, विकसित - राष्ट्रप्रेम, नववैभव,
गलित पुरातन रूढ़ि राज्य - रव,
जनगण-सागर-ऊर्द्ध्व-उच्छ्वसित विस्तृत उन्नत हे !
जय जय भारत है! जय जय जाग्रत हे !

उदित भाग्य, दुर्भाग्य तिरोहित, दृग, मन नव आलोक निमज्जित,
सबल संगठन आज मुक्तिहित,
नवनिर्माण - निरत प्रतिपद, नव बलिपथ उद्यत हे !
जय जय जाग्रत हे ! जय जय भारत हे !

जय जय तपरत हे !

विषपान

[पौराणिक खण्डकाव्य]

विज्ञप्ति

विषपान की कथा साधारण पाठक को ही सामने रखकर लिखी गई है। भले ही यह कला की दृष्टि से इतनी ऊँची न बन सकी हो, जिससे कलाकारों की रमना तृप्त हो, किन्तु अधिकांश पाठकों के योग्य यदि यह बन गई हो, तो मुझे सन्तोष होगा। कुछ विज्ञ पाठकों की अपेक्षा 'वहुजनहिताय' लिखना ही मेरा लक्ष्य रहा है।

'अमृत' शब्द का उच्चारण प्रायः बोल-चाल में और साहित्य में चार मात्रा का किया जाता है, यद्यपि तीन मात्रा का ही शुद्ध उच्चारण होना चाहिए। 'मुखसुख' ने ही इसे इतना लोकप्रिय बना दिया है। मैंने अधिकांशतः चार मात्रावाला ही प्रयोग किया है, क्योंकि मुझे वह कर्णमधुर विशेष लगता है। तीन मात्रावाले शुद्ध उच्चारण का भी इसमें प्रयोग है, किन्तु इसमें जैसे कुछ रह जाता हो।

हम मृत्यु से लड़कर 'अमृत' का वरण करें, 'विषपान' काव्य का यही साध्य है; और यही उपनिषद् की प्रार्थना भी—

मृत्योर्माऽमृतं गमय। तथास्तु।

बिन्दकी, यू० पी०
१ जनवरी, '४६]

सोहनलाल द्विवेदी

परिचय

विष लगा स्वयं पर इठलाने !

सोचा यह जीवन धन्य हुआ,
मैं भी बस एक अनन्य हुआ,
मैं धन्य हुआ, जिसको पाकर
शिव लगे हर्ष से मुसकाने !
विष लगा स्वयं पर इठलाने !

सोचा, बन करके कंठहार
अब नित्य करूँगा मैं विहार !
हो गया धन्य जीवन मेरा,
जब लगे स्वयं प्रभु अपनाने !
विष लगा स्वयं पर इठलाने !

सोचा हर कालकूट पीकर
मृत्युंजय होंगे अजर - अमर;
विष का यह हर्षोल्लास देख
लग गया अमृत भी सकुचाने !
विष लगा स्वयं पर इठलाने !

पराजय

व्यथित त्रसित देवता आज, मन म्लान, कांतिहत मुखमंडल,
कोई नहीं उपाय, दानवों पर जय पायें, बनें सबल।
देवलोक में घिरी पराजय की छाया, घनघोर घटा;
अंधकार था गहन, न कोई रश्मि, सके जो व्यथा घटा!

आज काल की कृपा सुरों पर, था दैत्यों का मान बढ़ा;
कौन जीत सकता था उनको? था इस पर अभिमान बड़ा!
आज असुर के आगे सुर आने में भी सकुचाते थे,
क्योंकि स्वयं को दीन-हीन, निर्बल-दुर्बल ही पाते थे।

विधि का विषम विधान देखकर प्रकृति उदास मलीन हुई!
देवलोक की नहीं, सभी जग की शोभा थी क्षीण हुई!
नन्दन-वन में आज नहीं वह पहले का उल्लास रहा,
गये सुरा के माणिक प्याले, अब न मदिर मधुमास रहा!

आज कल्पतरु बना विफल, उसने भी ली समेट छाया;
जब होता विधि वाम, झुलसती चन्दन के जल में काया!
आज अप्सरा, किन्नरियों की सुन पड़ती है तान नहीं;
अंग-भंगिमा, नृत्य, हास, वह पहले की मुसकान नहीं।

देख रहे सुर शून्य भाव से,
कह सकते कुछ नहीं कथा;
अंतस्तल की पंखुरियों को
बिखराती थी मौन व्यथा।

आकाशवाणी

जीवन की सूखी शाली पर अभिनव रस की धार बनी;
मुरझाये मन पर मधुरस की शीतल - मंद फुहार बनी;
निर्बल का बल, निराधार का पावनतम आधार बनी;
किसी डगमगाती तरणी के नाविक की पतवार बनी।

इसी समय गूँजी नभ-वाणी — "हे सुर ! अधिक निराश न हो।
ऐसा क्या दुर्लभ जीवन में, जो पूरी अभिलाष न हो ?
उठो, चलो, तुम मिलो शत्रु से, संधि करो, संलाप करो,
जब तक सिद्धि न मिले, धैर्य से बढ़ उद्योग - कलाप करो !

"उठो, चलो, मथकर समुद्र को तुम अमृत का पान करो;
अमर बनो, फिर करो युद्ध, यह हीन - भाव अवसान करो !
अमृत - पान तो अमर करेंगे, असुर सभी ढो देंगे भार,
आज तुम्हारे महारोग का यही अमोघ एक उपचार।"

पल ही में प्रतिकूल प्रभंजन पाकर प्रलय - मेघ भागे;
आज देवताओं के युग - युग के थे पुण्य - भाग्य जागे !
आज देवताओं में फिर से जीने का उत्साह जगा;
एक बार हों अमर, अमृत पीने का प्रबल प्रवाह जगा।

जगा एक नवजीवन मन में, युग - युग का परिताप भगा;
जगी महत्त्वाकांक्षा जय की, अब जीवन था सुखद लगा।
चले देवता आज दानवों से मिल करने को प्रस्ताव,
अमृत - संचय करें आज हम, तो जीवन का मिटे अभाव।

●

प्रस्ताव

आज स्वर्गगृह की सुषमा है अद्भुत और विचित्र बनी,
एक साथ ही खिली जहाँ पर अमा और पूर्णिमा घनी !
घुलमिल जहाँ आज बैठे हैं दैत्य - देवता हिले - मिले,
जैसे सुख - दुख या कि पतन- उत्थान आज हों साथ खिले !

इस विराट जीवन में होता कभी - कभी ऐसा संयोग,
योग भोग से मिल जाते हैं, धुलमिल रहते मिलन, वियोग !
दैत्य - देवता मिल बैठे क्या, ज्ञान और अज्ञान मिले !
एक प्रहर में काल - ताल के ध्वंस और निर्माण मिले !

दिवा-रात्रि हैं चले आज किस नवभव का करने निर्माण ?
धरणी - अंबर चले बनाने कौन नवीन क्षितिज छविमान ?
पाप - पुण्य हिल - मिल बैठे हैं, यह किस तपसी का वरदान ?
निश्चय ही इस महामिलन का होगा कोई लक्ष्य महान !

कहा इन्द्र ने, "दैत्यराज ! हम आये यहाँ आज इससे,
चलो, अमृत - संधान करें सब, अमर बनें, न मरें जिससे !"
दैत्यराज बलि ने सोचा, "यह भी अच्छा प्रस्ताव रहा,
अमर हमारे ही आश्रित हैं, अमृत मिले, हो हर्ष महा !"

त्रिपुर आदि दैत्यों ने मिलकर और विचार - विमर्श किया,
फिर देवों का यह महत्त्वमय संधि - निमंत्रण मान लिया ।
बलि ने कहा इन्द्र से, "अब से हममें तुममें संधि रही,
जब तक अमृत न मिले, तब तक छानें अंबर, सिंधु, मही ।"

अमृत

अमृत-अमृत की रटन लगी थी देवों की मधु - रसना में,
अमृत-अमृत की थी प्रतिध्वनि दैत्यों के अन्तर - पलना में;
अमृत - अमृत की थी पुकार, कैसे अमृत का पान मिले ?
जीवन हो यह सफल, सफल रसना हो, रस का दान मिले।

अमृत, जिसे पीकर न कभी कोई मर सकता है रण में,
अमृत, जिसे पीकर यौवन खिल खिल उठता है क्षण - क्षण में !
अमृत कहाँ से मिले ? अमृत का है भव में आगार कहाँ ?
कौन अमृत का धनी ? कौन करता अमृत व्यापार कहाँ ?

अतल, वितल, पाताल, रसातल, भूतल, निखिल सृष्टि - मंडल,
कहाँ अमृत का ठौर ? छिपाये बैठा कौन विश्व - संबल ?
नभ में हो तो नभ मथ डालें, रवि - शशि - उडुगण चूर्ण बनें,
हो धरणी में, धरा खोद लें, अमृत पाकर पूर्ण बनें !

जो समुद्र के अतल गर्भ में छिपा अमृत का माणिक - पात्र,
हो समुद्र - मंथन पल भर में, भले वने क्षत - विक्षत गात्र !
क्या सचमुच जीवन-उपवन में फूलेगी मन - फुलवारी ?
आशा - अभिलाषा की कलियाँ छिटकेंगी न्यारी - न्यारी !

आकांक्षा का अंत न होगा, नहीं काल का होगा अंत;
महाकाल के फण पर, सुख बन, शयन करेंगे बने अनत !
आज कली जो खिली विपिन में, मुरझायेगी कल न कभी,
आज अधर पर हास लिखा, वह कल न बनेगा रुदन कभी,

दो दिन की चाँदनी न होगी, चिर - चंद्रिका - धौत जीवन,
मधुरस बरसेगा मरु - तरु में तृण - तृण को दे संजीवन।

प्रेमी की अनंत आशायें नहीं बनेंगी नभ का फूल,
जीवन मधुर बनेगा, सब पहुँचेंगे जग-जलनिधि के कूल

जो अतीत बन जाता प्रिय क्षण, वर्तमान होगा वह पल;
चिरसुख, चिरमधु, चिरश्री होगी, कैसा होगा वह भूतल ?
चिर यौवन, चिर जीवन होगा, चिर सौन्दर्य, प्रमोद नये !
स्वर्ग बसेगा उस दिन, वसुधा पर तब होंगे दुःख न ये !

मुक्त मृत्यु की छाया से जीवन होगा उल्लास भरा;
नित्य ध्वंसमय यह विराट भव होगा दिव्य विकास भरा।
मौन कल्पना से इस सुख की छाया प्राणों में उन्माद,
नवशोणित की आभा चमकी, मुखमंडल पर शक्ति - प्रसाद;

क्या दानव, क्या देव, सभी के आनन थे आनंद भरे,
जैसे प्राप्त विजय करके ही, अभी अमृत - घट ले उतरे !
जहाँ कल्पनामात्र अमृत की देती हो इतना आनन्द,
मिले अमृत, उस सुख का वर्णन तो फिर कौन करेगा छंद ?

व्यास, भास, कवि कालिदास को अमृत की कुछ कणिका ही—
हाथ लगी होंगी अवश्य, जिससे कृति बनी न क्षणिका ही !
मर-मर करके उस अमृत की सभी खोज करते जैसे;
जब तक मिलता अमृत नहीं, सब पानी - सा भरते जैसे।

इन्द्र, वरुण, मारुत, रवि, शशि, ब्रह्मा सब ही यह बोल उठे !
राहु, केतु, शनि, शंबर आदिक सबके मन थे डोल उठे !
"चलो अमृत - संधान करें, छानें त्रिभुवन, अगजग, प्रतियाम;
बिना अमृत के मिले नहीं मिल सकता जीवन में विश्राम।"

दानव - देव उठे हर्षित हो, सभा विसर्जित अंत हुई,
हो अमृत - अभियान, सभी के मन में थी बस स्पृहा यही।

अभियान

चले देवता दानव हिलमिल, आज अमृत - अभियान चला,
त्रिभुवन का तम निविड़ चीर कर जैसे स्वर्ण - विहान चला।
चले असुर-सुर आज एक हो, था नवीन संधान चला;
बम-बम हर-हर महाघोष में जीवन का जयगान चला।

बढ़े देवता - दानव आगे, जन - जन का उत्साह बढ़ा;
बढ़ा प्रकर्ष - हर्ष प्राणों में, उर में शक्ति - प्रवाह बढ़ा।
चले देवता अस्त्र - शस्त्र ले, गूँज रहा डमरू का स्वर;
आज देवताओं के प्राणों में उठती थी मोद - लहर!

चले विष्णु उत्सव में, था पीताम्बर धरणी चूम रहा,
जैसे वह आनन्दमग्न चल रहा, अलग था झूम रहा!
चली रुद्रकाली, कल्याणी, पिये सोमरस मधुप्याला;
चंडी चली, चली कपालिका, पहने कोटि मुंडमाला!

यम तो चले, साथ ही कितने आज नये यमराज चले,
महाकाय, भीषण, जैसे उठ काले पर्वत आज चले!
चले राहु, शनि, केतु सभी, अतिशय आह्लाद झलकता था;
आँखों से बाहर आ - आ, प्राणों का हर्ष छलकता था।

चले दैत्यगण, शेष न कोई, था अद्भुत अभियान चला;
चले देवता भाँति - भाँति के, ज्यों उठ देवस्थान चला।
शंबर का अंबर बढ़ता पीतांबर से करके स्पर्धा;
बलि बंधन से आज मुक्त थे, दल में बढ़ी प्रतिस्पर्धा!

आ पहुँचे सब महासिंधु तट, नीलसिंधु था गरज उठा;
वज्रघोष था फटा गगन में, कोई जैसे बरज उठा।
गूँज रहा अभियान गीत था, अंबर - अवनी को छूकर;
बढ़े जा रहे देव - दनुज थे, आज सभी पुलकित पथ पर।

अभियान-गीत

चलो अमृत - प्रयाण को! चलो अमृत - विधान को!

वसंत आज छा गया, अनन्त हर्ष आ गया;
न हर्ष की घड़ी टले, सुगन्ध की सुरा ढले;
न और अब विधान हो। चलो अमृत - प्रयाण को!

अभी यहाँ खिली कली, अभी मुरझ गई, चली;
विकल अली अपार है, जगत बना असार है;
न और यह विधान हो। चलो अमृत - प्रयाण को!

अभी भवन यहाँ खड़े, सुवर्ण शृंग हैं मढ़े,
सुगन्ध पुष्प हैं चढ़े, अभी गिरे, अभी गड़े;
पतन न यों, उठान हो। चलो अमृत - प्रयाण को!

रहे नहीं निशा घनी, रहे अनन्त चाँदनी,
विपन्न आज हों धनी, सदैव शक्ति हो बनी;
चलो समर महान को। चलो अमृत - प्रयाण को!

न आज वैर - द्वेष हो, विनाश दुःख - क्लेश हो,
प्रतीति - प्रीति वेश हो, सभी विरोध शेष हो;
चलो अमर विधान को। चलो अमृत - प्रयाण को!

रचें नया - नया गगन, रचें नई - नई पवन,
रचें नये - नये भवन, रचें नया - नया भुवन!
चलो नये विधान को। चलो अमृत - प्रयाण को!

महादेव बम बम हर हर ! बढ़े चलो, हे अजर अमर !

श्रृंगी फूँको, शंख बजाओ,
झाँझ मृदंग मुरज ले गाओ,
डमरू में नवनाद उठाओ;
प्राणों में हो नई लहर ! बढ़े चलो, हे अजर अमर !

एक ध्वजा के नीचे आओ,
युग - युग का विद्वेष भुलाओ,
जीवन में नवजीवन लाओ;
बढ़े चलो तुम, चढ़ो शिखर ! गाओ महादेव हर हर !

रुको न पल भर, झुको न पल भर,
बढ़े चलो, हे देव, दनुज वर !
आज अमृत का कुंभ प्राप्त कर,
हरो मृत्यु का भीषण डर ! गाओ महादेव हर हर !

प्रलय घटा हो नभ पर काली,
मुखमंडल पर फूटे लाली,
बढ़ो, विजय - पथ के वैताली !
मंद न हो बढ़ने का स्वर ! बढ़े चलो, हे अजर अमर !

महादेव बम बम हर हर ! बढ़े चलो, हे अजर अमर !

समुद्र-मंथन

शेषनाग था रज्जु बना औ' मंथन - दंड मंदराचल,
सभी अमृत के थे पिपासु, फिर सभी न क्यों देते निज बल ?
अब था प्रश्न कठोर, कौन बढ़ शेषनाग का पकड़े मुख ?
बड़ा बने जो, महाकार्य के हेतु वही आये सम्मुख ?

देवों ने सोचा, "आओ हम ही आगे बढ़ कार्य करें,
दैत्यों को हो कष्ट न भारी, शेष - शीश को स्कंध धरें !
बढ़े देवगण आगे, अर्पित प्रणतांजलि करके ज्यों ही,
अभी न दो पग चल पाये थे, रोषित हुए दैत्य त्यों ही !

बोले दैत्य, "मूर्खता के सुत ! क्या हम तुमसे छोटे हैं ?
जो पकड़ें हम पूँछ शेष की, क्या हम तुमसे खोटे हैं ?
करने लगे चतुरता पहले से ही सुर छल - छद्म - भरे;
अमृत-घट पाकर क्या होगा ? अभी निम्नतल ये उतरे !

"यह अपमान हमारा है, क्या! दैत्य शक्ति में हैं निर्बल,
जो न शेष का शीश वहन कर सकें, नहीं इतने दुर्बल ?
हटो देवताओ ! जाओ तुम, हमें शीश को गहने दो;
तुम आकर यह पूँछ सँभालो, हमें न पीछे रहने दो !"

हँसने लगे देव मन ही मन, "दैत्य मूर्ख होते कितने ?
उपमा इनकी कठिन खोजता, क्या बतलायें हम, इतने ?"
कहा इंद्र ने आगे बढ़कर "दैत्यराज, स्वागत ! आओ,
तुम्हीं उठाओ शीश-भार को, दे दो पूँछ हमें, लाओ !"

दैत्य हुए मन में प्रसन्न, जैसे इनका सम्मान बढ़ा!
इतने ही में फूल गये, उनका तो था अज्ञान बढ़ा!
परिकर कसकर, खड़े देवता- दानव, वासुकि रज्जु बना,
और मंदराचल मंथन का दंड प्रचंड, उदारमना!

चला मंदराचल सागर में, जल अंबर को चूम चला;
लगी डोलने धरणी थर-थर, ज्यों भूकम्पन झूम चला!
क्षीर-सिंधु की लहरों में थी आज प्रलय की ज्वार उठी;
अभी विश्व डूबा सागर में, त्यों जल की फूत्कार उठी!

महाघोर रव से देवों- दैत्यों के प्राण सिहरते थे;
अब क्या होगा, मरें सभी क्या? सबके हृदय हहरते थे!
डरते थे – अपने प्राणों पर आया अभी समुद्र चढ़ा,
देवों की तो चाल नहीं, जो हमें मार दे बढ़ा-चढ़ा!

हहर-हहर कर उठतीं लहरें, छाता भीषण हाहाकार,
आतीं तट की ओर, निगल जायेंगी ज्यों समस्त संसार।
टूटे कितने कूल - कगारे, कितने पर्वत बहे, ढहे,
कितने ही वन-प्रांतर डूबे, कितने ही थे डूब रहे!

देव-असुर सब लगे सोचने, शेषनाग अब यह छूटा,
जहाँ खड़े हैं, विपुल भार से वह कगार अब यह टूटा!
खग व्याकुल उड़ रहे गगन में, मृग अचेत फिरते वन में,
उठा बवंडर था यह भीषण, जो न उठा था जीवन में!

गूँज रहा था एक घोर रव केवल व्याकुल त्रिभुवन में;
बधिर दिशा के श्रवण बने थे, थी विभीषिका कण-कण में।
होने लगा प्रतीत, जल-प्रलय होने की बेला आई,
अमृत-पान के उपालंभ में महामृत्यु - खेला आई!

जलप्लावन का दृश्य उस दिवस अंकित हुआ चित्रपट में,
त्राहि ! त्राहि ! का महाघोर रव, गूँज रहा था घट-घट में।
वासुकि का भी धैर्य थका था, स्वयं बँधे थे बंधन में;
आकुल - व्याकुल प्राण हो रहे, एक हर्ष था यह मन में—

होगा अमृत - पान—एक आशा थी मन को हरा किये,
सभी श्रान्त, उद्भ्रान्त, किंतु कटिबद्ध खड़े थे सुरा पिये !
और मंदराचल के प्राणों में भीषण उद्वेलन था;
खंड - खंड हो रहे अंग थे, यों अपार उत्पीड़न था।

उठती थीं जल की धारायें, छूती थीं अम्बर के छोर;
भीग रहे थे मस्तक उनके, दिग्गज थे आश्चर्य - विभोर !
था अगत्स्य का क्रोध प्रज्वलित, सूख रहा था पारावार;
जलचर सारे शरण खोजते, तट पर आये व्यथित अपार !

था फेनिल-उच्छ्वसित सिंधुजल, थे फेनिल - उच्छ्वसित सभी;
थे आकुल-उच्छ्वसित शेष, थे देव - असुर तो मूच्छित भी !
क्या अगस्त्य की भृकुटि-धनुष की प्रत्यंचा थी आज चढ़ी ?
सूख रहा था आज महार्णव, लहरों में थी व्यथा बढ़ी।

आकांक्षा सी लहरें उठतीं, गिरतीं आँसू बन नीचे;
था किसका अभिशाप भयंकर, खड़ी शक्ति आँखें मींचे !
मथी जा रही आज कल्पना, भावों का तूफ़ान उठा;
मीड़ - मूर्च्छना गमक उठ रही, आज प्रलय का गान उठा !

युग-युग के विधि के विधान को आई कठिन परीक्षा थी,
ध्वंस हो रहा एक ओर, विधि की यह कठिन समीक्षा थी !
कौन लिखेगा उस समुद्र-मंथन का वह पूरा इतिहास ?
जहाँ कल्पना स्वयं सोचने लगती, क्या मैं करूँ प्रयास ?

विष

मंथित हुआ महोदधि, सब की आँखों में उत्सुकता थी,
रत्न निकलता कौन, कहाँ, कब ? सबको ही उत्कंठा थी;
अमृत हो गया स्वप्न, अरे ! यह तो है कालकूट निकला ?
गरल, महाविष, नील श्याम, भूतल से आज फूट निकला !

क्या समुद्र प्रतिशोध आज लेगा इन दानव - देवों से ?—
जिसका जीवन ही मथ डाला जिनने निज बल - वैभव से !
गरज उठा नीलोदधि, बहरी हुईं दिशायें, रोर हुआ;
कौन टिकेगा अब मंथन में, हा-हा रव था घोर हुआ !

ताल ठोंककर आये थे जो विरुदावलि का गान लिये,
धीर-वीर हम हैं दिग्विजयी, भूधर का अभिमान लिये;
हम हैं अग्नि, तपा डालेंगे, भस्म करेंगे हम अंबर;
हम हैं वायु, प्रभंजन, झोंके में ढा देंगे गिरि दुर्धर;

हम हैं इन्द्र, कँपा देंगे हम त्रिभुवन का भी सिंहासन;
हम हैं बलि, हम दैत्यराज हैं, मथ डालें चौदहों भुवन !
ध्रुव - धीरों की अहंमन्यता एक पलक में चूर्ण हुई !
अट्टहास कर उठी नियति, उसकी थी इच्छा पूर्ण हुई !

लगे भागने देव - दनुज सब, सबका ही पौरुष भागा;
देखें टिकता आज कौन ? किसका था इतना बल जागा ?
निकला कालकूट जिस क्षण से, हुईं वायु की कणिकायें—
लहरें विष की, चिंतित सब थे, चिंतित, किधर, कहाँ जायें ?

जलचर, थलचर, नभचर जितने जीव, चराचर के प्राणी,
मूच्छित से हो गये, नहीं खुलती थी जिह्वा से वाणी!
नाच उठीं लहरें जलनिधि की, देख सभी का बल-विक्रम!
ये क्या अमृत-पान करेंगे, पी न सकें जो गरल प्रथम?

कौन गरल का पान करे अब, एक समस्या खड़ी हुई;
अमृत तो हो गया स्वप्न, प्रत्यक्ष मरण की घड़ी हुई!
भगने लगे सभी निज-निज गृह हो सभीत वे क्षिप्र-चरण;
मुकुट कहीं, केयूर कहीं था, कहीं किरीट, रत्न, कंकण!

कोई यों भयत्रस्त, बना जड़, बढ़ न सका, पग बने शिला;
किसने बाँध दिया था गति को, सब बंदी थे, खड़ा किला!
रवि, शशि उडुगण, लगे खिसकने, अंबर व्यथित अधीर हुआ;
अंधकार घिर चला धरा पर, आज भाग्य बेपीर हुआ!

रुद्राणी, चंडिका, कपर्दिनि, खड़ीं भीत हो कोने में;
मुंडमालिनी की रसना जड़ हुई, सिमटकर दोने में!
यम न कहीं, यमराज नहीं थे, जाने कहाँ छिपे भयभीत?
आज पराभव की बेला में भगे, चले जो करने जीत!

देवों के मुख पीतवर्ण थे, वह अरुणाभा रही नहीं;
वह उत्सव-उत्साह-धार थी जाने अब उड़ गई कहीं।
दैत्य पलायन की मुद्रा में खड़े खिसकने को पल में;
पर न त्राण की शरण कहीं थी, सभी पड़े थे दलदल में।

'त्राण करो, हा त्राण करो!' की कातर करुण पुकार उठी;
कण-कण, तृण-तृण विकल बना था, त्राण-त्राण झनकार उठी।

विषपान

आज हिमाचल के शृङ्गों में चिन्ता की छाया आई;
लता, गुल्म, तरु में, पल्लव में एक शून्यता थी छाई।
मानसरोवर के कंचन कमलों का स्वर्णिम हास गया;
किसी एक दुख क छाया से मधु का मधुर विकास गया।

आज हिमाचल के आँगन में देव - दैत्यगण का मेला,
नतमस्तक, सब विनत गर्व, श्री - खर्व, पराजय की बेला !
आज देव - दैत्यों की आँखों में अनुनय - मनुहार भरी,
एक करुण वेदना जगाने- वाली थी झनकार भरी।

'जय-जय महादेव !' के रव से शंकर की समाधि जागी;
मंगलमय के नेत्र खुले थे, पल में विभीषिका भागी।
समझ गये सब त्रिभुवननायक, आश्वासन की दृष्टि लिये,
देखा हर ने व्यथित विश्व को नवजीवन की सृष्टि लिये।

करुणाकर बोले—"न व्यथित हो, हो अधीर मत, धीर धरो;
दूर करूँगा व्यथा तुम्हारी, तुम नारायण स्मरण करो !"
आज देवता - दानव - मुख पर फिर से था आनन्द भरा,
जीवन मिला, निराशा में आशा का सुंदर छंद भरा।

प्रलयंकर शंकर दयार्द्र ने देखा हाहाकार मचा;
विश्व झुलस - सा रहा, भस्म, होने को है संहार मचा।
प्रजा देख यों व्यथित प्रजापति शंकर का उर मथित हुआ,
एक-एक दुख, शतशत दुख-शर बना, हृदय था ग्रथित हुआ।

कहा शंभु ने "सती, आज मेरे जाने की बेला है;
आज विश्व जल रहा गरल में, ठीक न अब अवहेला है!
यदि न गया मैं अभी-अभी ही, तो न रहेगा यह संसार;
कालकूट के काल - गाल में होगा भव का उपसंहार!"

पूछा शिव ने, "कहो, सती! क्या कहती हो? विष पी लूँ मैं?
आज विश्व के संरक्षण में एक बार मर जी लूँ मैं!
जो यों शरणागत हों मेरी, उनको विमुख करूँ कैसे?
घोर पाप! पातक होगा तब, अघ से धाम भरूँ कैसे?"

समझ रही थीं सब रहस्य माँ, शिवा, शक्ति वे कल्याणी;
बोलीं, "जाओ, हे विश्वंभर! आशुतोष, औढर दानी!
पियो गरल, विष, कालकूट तुम, कुछ भी हो परिणाम प्रभो!
जिससे होवे भव का मंगल, वह अभीष्ट अभिराम प्रभो!"

उठा त्रिशूल, उठे शिवशंकर, डमरू का डिमनाद उठा;
उठा, बढ़ा व्याघ्राम्बर आगे, तृण - तृण में आह्लाद उठा!
बहा समीरण मंद - मंद गति शीतल शक्ति अथाह लिये,
नवचेतन, नवजीवन देने, संजीवन उत्साह लिये!

हिमगिरि के तुषार - मंडित शृङ्गों का रँग था निखर उठा;
चले शंभु थे महात्राण को, वन-वन में रस बिखर उठा!
थी सुरसरि में पुलक भरी, लहरें ले रहीं तरंगें थीं;
चले दिगंबर विश्वत्राण को, उर में मधुर उमंगें थीं!

शृङ्गी की, विषाण की, डमरू की ज्यों ही झनकार उठी,
थकित व्यथित देवों दैत्यों में नवचेतन की धार उठी?
आँखों के घन अंधकार में कंचन - किरणें घुलती थीं;
किसकी करुणा थी, उदारता? श्वासें मधु में मिलती थीं।

देखा देवों ने, दैत्यों ने, महादेव शंकर आये;
आज त्रिनेत्र स्फुरित थे कुछ-कुछ, थे त्रिशूलध्वज लहराये।
आज शंभु की छवि में अनुपम था ओजस् आनन्द भरा,
अभय दान देनेवाले डमरू में मोहक छंद भरा।

अंग - अंग में फूट रही थी कान्ति तिमिर हरनेवाली,
एक अलौकिक दिव्याभा थी नवजीवन भरनेवाली।
आज न तांडव की मुद्रा थी, था न लास का पदविच्छेद;
फिर भी आज शंभु में रह-रह कुछ रहस्य हरता था खेद!

देखा शिव ने कालकूट रह रहकर ज्वाल उगलता था;
जो भी जाता निकट, विकट लपटों से उसे निगलता था;
किन्तु जलेंगे क्या शिवशंकर, जो प्रलयंकर त्रिभुवन के?
जाने कितनी बार उठा पी गये महाविष जनगण के!

लगा स्वयं भी विष लहराने भय से कंपित हो मन में,
विश्वनाथ के कर - संपुट में आज बँधा था बंधन में!
जाय कहाँ? दे शरण कौन? है ऐसा कौन महादानी?
महाकाल कालेश्वर के कर विष भी बना आज पानी!

लगीं छहरने दीर्घ जटायें, इधर - उधर लहराती थीं;
भाल - चंद्रमा था मुसकाता, किरणें बलि - बलि जाती थीं!
आज हलाहल शिव अंजलि में, हुई दिशायें सभी अधीर,
जाने क्या हो गरल-पान कर, कहीं न तज दें शंभु शरीर!

उठा लिया शिवशंकर ने विष, इधर स्फुरित कुछ अधर हिले,
उधर कर बढ़ा, बढ़ा हलाहल, और अधर से ओष्ठ मिले!
आनन में उद्दीप्त तेज था, लोचन युग थे बंद हुए;
मुखमुद्रा ऐसी प्रसन्न थी, ज्यों कोई मकरंद पिये।

महादेव देवाधिदेव ने पल में विष का पान किया;
जलते दैत्य, देवता जलते, जलते भव का त्राण किया!
यदि न आज करुणाकर प्रभु ने विष का पान किया होता?
बचता कौन? काल ने सबका ही प्राणांत किया होता!

देव दनुज का स्वर गूँजा, जय महादेव, जय जय जय जय!
दिग्-दिगंत गूँजी अनंत ध्वनि, मृत्युंजय जय! देव अभय!

गीत

यदि तुम करते विष नहीं पान!

तो कौन उठाता महाभार? सब देव दनुज थे गये हार;
यह जग जल बनता महाक्षार!
वे शब्द न छंद ढले अब तक जो गा सकते हों कीर्तिगान!
पर - दुखकातर हे महाप्राण!

अपने जीवन का सुख बिसार, पर-दुख में खिंच आये उदार!
आधार पा गये निराधार।
पा गई जन्म मरती वसुधा, छा गया गगन में अभय दान!
आये शरीर में लौट प्राण!

तुम से तुम ही हो देव धन्य, हे विश्ववंद्य! त्राता अनन्य,
तर जाते तुमसे जड़ जघन्य।
हे करुणामय! इस करुणा का यों तना रहे भव में वितान!
भूलो जनगण का तुम न ध्यान!

जब चरण - शरण में जन पाओ, मंगलमय! यों ही उठ आओ,
हो मृत्यु क्षीण, जीवन लाओ।
तुम सा पाकर निज अधिनायक फिर मथें सिंधु, हो अमृत-पान!
हो सफल साधना का विधान!

चेतना

स्नेहोपहार

उस परिचय को, जो परिचय से प्यार बन गया,
उस सहृदय को, जो जीवन-आधार बन गया,
उस अनाम को, जो अधरों का नाम बन गया,
पुरुष नहीं, जो पुरुषोत्तम अभिराम बन गया,

उन्हीं

पुरुषोत्तमदास टंडन

राजा मुनुवा

को

सस्नेह भेंट

सोहनलाल द्विवेदी

विज्ञप्ति

आलोचकों का मत है कि मैंने अपनी रचनाओं से गांधीजी को बहुत ऊपर उठा दिया है। किन्तु बात तो इसके प्रतिकूल है। सच तो यह है कि बापू ने मेरी रचनाओं को ऊपर उठा दिया है। मेरी काव्यसाधना गांधीजी को आराध्य देवता मानकर धन्य हो गई है।

मैं मानता हूँ कि गांधीजी को केन्द्रबिन्दु मानकर विगत कई युगों से राष्ट्र की चेतना परिधि बनकर घूमती रही है। मैं मानता हूँ, मेरी रचनाओं की जो भी महत्ता है वह उनकी ही भक्ति का प्रसाद है, और उनमें जो लघुता है, वह मेरी अपनी है।

चिरकाल से जिन सहृदय पाठकों को मेरे नवीन प्रकाशन का अभाव अनुभव होता रहा है, मुझे विश्वास है कि वे चेतना को पाकर प्रसन्न होंगे।

१५ अगस्त, १९५४
बिन्दकी
(उत्तर प्रदेश)

सोहनलाल द्विवेदी

तिरंग ध्वज

लहरे तिरङ्ग ध्वज अपना।
जिसने सत्य बना दिखलाया
आज़ादी का सपना।

जिस जयध्वज को पाकर आगे,
सोये भाग्य हमारे जागे,
दूर हुए सदियों के बन्धन,
रोना और कलपना!
लहरे तिरङ्ग ध्वज अपना!

जिस जयध्वज के अरुणाञ्चल में,
कोटि-कोटि जनगण ने पल में,
किये अनेकों युद्ध, विजय के
लिये न पड़ा ठहरना।
लहरे तिरंग ध्वज अपना!

वह ध्वज ले अभियान करेंगे,
हम नूतन निर्माण करेंगे—
वह अजेय भारत, जो हो
भूतल के सुख का पलना।
लहरे तिरंग ध्वज अपना!

अर्ध-नग्न

[एक बार गांधीजी मद्रास की ओर एक गाँव में गये। वहाँ उन्होंने एक स्त्री को मैले-कुचैले कपड़े पहने देखा। गांधीजी वहीं रुक गये, और उन्होंने उस स्त्री से इतने गन्दे रहने का कारण पूछा। स्त्री ने कहा कि उसके पास एक ही धोती है, और गाँव में कहीं पानी नहीं है, इसलिए कपड़े साफ़ करने का अवसर नहीं मिलता। उसने यह भी कहा कि आप बड़े आदमी हैं, हम गरीबों का दुःख नही जान सकते। हमारे जैसे करोड़ों बहनें-भाई इसी प्रकार रहते हैं। गांधीजी को स्त्री की बात घर कर गई और गांधीजी सहम गये। और उन्होंने व्रत लिया कि जब तक देश के सभी भाई-बहिन पूरे कपड़े नहीं पहनेंगे, तब तक वे भी शरीर में आधे कपड़े पहनेंगे, एक लँगोटी भर लगायेंगे। गांधीजी ने स्त्रो को समझाया कि यदि वह चरखा कातना प्रारम्भ करे, तो देश की सभी गरीबी दूर होगी। पता नहीं, उस स्त्री ने चरखा चलाया या नहीं; किन्तु उस दिन से गांधीजी ने लँगोटी पहनकर ही जीवन बिताया।]

चर्चा और अर्चा है जिसकी आज घर घर,
गाता है गीत मुग्ध मानव का स्वर-स्वर,
उसके ही चरित्र का पवित्र यह आख्यान,
लघु सा उपाख्यान।

साबरमती का संत,/जिसका गौरव अनंत,
पहुँच गया एक बार, एक ग्राम,/जल का था जहाँ न नाम,
देखा खड़ी वहीं एक/अन्त्यज अछूत नारी,
जैसे आपदा की मारी,/दुर्गंधित परिधान,
जैसे हो मलिनता स्वयं बनी मूर्तिमान !
आगे सन्त बढ़ न सका,/आगे चरण पड़ न सका,
रुक गया वहीं अधीर,/गूँजी वाणी गँभीर—

'भद्रे ! क्यों मलिन तुम,
दुर्गंधित वेश धरे,/युग-युग के क्लेश धरे ?
स्वच्छता सभी बिसार,/रहती क्यों इस प्रकार ?''

नारी कुछ ठिठकी,/निज लघुता का हुआ भान,
अपनी मलिनता, दरिद्रता का हुआ ज्ञान,
लज्जा से नीचे गड़ी चुपचाप,
सोचती रही कुछ क्षण खड़ी आप,
खुलते ही कंठ-स्वर/फूटे नयन निर्झर;/बोली—

"महाराज ! बड़े लोग आप,
दीन-हीन जनों का है जीना भी अभिशाप।
धोती यही एकमात्र,/जिससे ढँके रहती गात्र,
पहनती इसे ही दस वर्षों से लगातार,
और कुछ नहीं, इसके भी हुए तार तार;
मिल गया जल कहीं यदि सौभाग्य से,
धोती पहले एक छोर,
उससे लपेट तन,/धोती हूँ फिर और छोर !
मैं ही नहीं—मेरी ही तरह और
कोटि-कोटि बहिनें हैं, भाई हैं ठौर-ठौर।
खाते कौर गिन-गिन,
काट रहे मुझसे ही अपने ज़िन्दगी के दिन !"

सिहर गई आत्मा, अस्थिर महात्मा !
अपने उत्तरीय को निकाल/नारी पर दिया डाल।
प्राणों की गहन पीर, बोल उठी हो अधीर—

कातो सूत, मेरी बहन,/व्रत यह करो ग्रहण,
होगा सभी कष्ट दूर,/होगी सुख से भी भरपूर !"

बापू ने किया संकल्प, चले जो कि कल्प-कल्प:
"जब तक कोटि भाई, बहिन,/रहते हैं यो अ-वसन,
उनसा रहूँगा मैं भी, सुख-दुख सहूँगा मैं भी।"

सेवाग्राम का यह यती, तब से अर्ध-नग्न-व्रती,
जिसकी नित्य जनता उतारती है आरती।
गाते गीत नहीं कभी थकती है भारती।

राष्ट्रदेवता

किस भाषा में करूँ आज मैं, देव ! तुम्हारा वंदन ?

शब्द नहीं कर पाते हैं समुचित सम्मान तुम्हारा;
भाव मूक हो जाते हैं गाते गुणगान तुम्हारा;
छंद मंद पड़ जाते हैं, रुक जाती है स्वर - धारा;
उठ-उठकर झुक-झुक जाता मेरी वीणा का कंपन !
किस भाषा में करूँ आज मैं, देव ! तुम्हारा वंदन ?

युग-युग घेरे रहा गगन बन हमको सघन अँधेरा;
था संदेह, उदित होगा फिर क्या वह सुखद - सबेरा !
तुमने अपना पुण्यपाणि ऐसा पापों पर फेरा,
कल की रौरव भूमि बन गई आज स्वर्ग का नन्दन !
किस भाषा में करूँ आज मैं, देव तुम्हारा वंदन ?

सत्य- अहिंसा के चक्रों में सज्जित सुरथ तुम्हारा,
आगे बढ़ा अहर्निशि ले आत्मा की उज्ज्वल धारा;
गति अबाध, रुक सका न रोके, तुम जीते, जग हारा।

कोटि-कोटि कर में लहराने लगे विजय के केतन !
किस भाषा में करूँ आज मैं, देव ! तुम्हारा वंदन ?

तुमने तो सच कर दिखलाया अपने मन का सपना;
आज धरा अपनी, नभ अपना और राज है अपना;
आज अधर-मुसकान बनी है कल का रुदन - कलपना ।
अंगारे बन गये आज तो सुखद मलयगिरि चंदन !
किस भाषा में करूँ आज मैं, देव ! तुम्हारा वंदन ?

लिखे तुम्हारी कथा कौन ? जो तुम-सा महत् बड़ा हो,
जो तुम-सा ही ज्वालागिरि के मुख पर हुआ खड़ा हो,
पल - पल महाकाल से आगे बढ़-बढ़ सतत लड़ा हो ।
सागर की तो थाह नाप सकती सागर की धड़कन !
किस भाषा में करूँ आज मैं, देव ! तुम्हारा वंदन ?

एक बार क्या, कई बार तुमने पी-पी विष प्याला,
जलती हुई जाति का संकट अपनी बलि से टाला;
हुये स्वयं बलिदान, विश्व-प्राणों में अमृत ढाला ।
विश्व चकित रह गया देख यह पल-पल प्राण-समर्पण !
किस भाषा में करूँ आज मैं, देव ! तुम्हारा वंदन ?

धन्य धरा यह आज कि जिस पर तुमने जन्म लिया है;
धन्य जाति यह आज कि जिसको तुमने मुक्त किया है;
धन्य राष्ट्र यह आज कि जिसको तुमने शीश दिया है ।
तुम्हें देखकर किया विश्व ने बोधिसत्त्व का दर्शन !
किस भाषा में करूँ आज मैं, देव ! तुम्हारा वंदन ?

●

उपवास

किया जब जब तुमने उपवास,
बल से नहीं, किन्तु निज बलि से बदल दिया इतिहास !

हम अकुलाये, धाये, जन-जन- जीवन बना अधीर,
पर दिन-दिन तव तेज रश्मि चमकी बन गहन-गँभीर !
सूची-भेद्य तमस का क्रम-क्रम से फिर हुआ विनाश !
खिला तृण-तृण में पुण्य प्रकाश !
किया जब जब तुमने उपवास !

पशुपति ! वह अमोघ शर तुमने किया जहाँ संधान,
अग-जग लगा काँपने थर-थर, काँपे भू के प्राण !
गरल घूँट पी स्वयं, अमृत से भरा धरा - आकाश !
मृत्यु का कर पद - पद उपहास !
किया जब-जब तुमने उपवास!

हिंसा के अकांड तांडव पर टूटा उल्कापात;
घिरे मेघ हट गये गगन से देख वज्र - संघात !
छिटकी शुभ्र चाँदनी जीवन में ले प्रेम - विकास,
शान्ति को मिला मधुर आवास !
किया तुमने जब जब उपवास !

मिटे कलह, कोलाहल, क्रन्दन, दुख, अवसाद, विषाद;
वितरे चिर सुख शांति विश्व को तव तप पुण्य प्रसाद;
आत्म-प्रज्ञ, तुम धन्य ! धन्य तव आत्माहुति अभ्यास!
हरे जगती के संकट, त्रास।
तुम्हारा यह पावन उपवास !

नीराजना

देवता नव राष्ट्र के ! नवराष्ट्र की नव अर्चना लो;
विश्व वन्द्य वरेण्य बापू ! विश्व की नव वंदना लो।

पा तुम्हारा स्नेह - धागा, यह अभागा देश जागा।
जागरण के देवता ! नव जागरण की गर्जना लो !
यह तुम्हारी ही तपस्या, युगों की सुलझी समस्या,
कोटि - शीशों की अयाचित नव - समर्पण साधना लो।

हे अहिंसा के पुजारी ! प्रणति हो कैसे तुम्हारी ?
मौन प्राणों की निरन्तर स्नेहमय नीराजना लो।
लहरता नभ में तिरंगा, लहरती है मुक्ति - गंगा;
हे भगीरथ ! भक्ति - भागीरथी की आराधना लो !

●

असमय संघर्ष

[कांग्रेस के विरुद्ध हिन्दू-महासभा के सत्याग्रह करने पर लिखित]

आज़ादी के उषःकाल की हुई न अब तक अगवानी;
यह असमय संघर्ष तुम्हारा, यह असमय रण की वाणी !

अभी - अभी तो अपने घर में आज़ादी आने को है;
अभी - अभी तो कालरात्रि भी अंबर से जाने को है;
अभी - अभी शासन सत्ता को हाथों में आना ही है;
नया संतुलन, नई व्यवस्था, नया सृजन लाना ही है।
क्यों इतनी शीघ्रता तुम्हें, कुछ बात नहीं जाती जानी;
यह असमय संघर्ष तुम्हारा, यह असमय रण की वाणी !

हुआ कौन अभिनव प्रहार है, जो इतना विक्षोभ हुआ ?
इन मंगल घड़ियों में अपनों से लड़ने का लोभ हुआ !

अब तक तुम थे मौन, कौन-सी पीड़ा अब झनकार उठी ?
आज मुक्ति के पुण्य पर्व में रणभेरी हुंकार उठी !
तुम्हें नहीं शोभा देती है, यह असमय की कुर्बानी !
यह असमय संघर्ष तुम्हारा, यह असमय रण की वाणी !

बुरा न मानो तो पूछें, तुमने कितना बलिदान किया ?
बुरा न मानो तो पूछें, कितने शीशों का दान दिया ?
बुरा न मानो तो पूछें, अब तक क्यों नीरव गर्जन था,
जब नृशंसता, बर्बरता का घर में भीषण तर्जन था ?
जब हम रण से हटे, बढ़े तुम लिये धनुर्धर का पानी।
यह असमय संघर्ष तुम्हारा, यह असमय रण की वाणी !

ठहरो ज़रा, बनो मत आतुर, कुछ तो सोच - विचार करो
जनमत जाग्रत् करो जाति में, नया रक्त संचार करो।
रक्त तुम्हारा ही बहता है हम में, घायल प्राणों में;
अभी पड़ा बंगाल और पांचाल विषबुझे बाणों में !
आज़ादी की पायल की झनकार न तुमने पहचानी !
यह असमय संघर्ष तुम्हारा, यह असमय रण की वाणी !

तरुणाई का तकाज़ा

तरुनाई का आज तकाज़ा-- चुप रहना है पाप यहाँ !
जो जी में आवे, न कह सके, वही दुसह संताप यहाँ !!

तरुणाई का आज तकाज़ा, जब जग भय से मौन रहे—
शीश हथेली पर ले करके खुलकर खेले, सत्य कहे !
तरुणाई का आज तकाज़ा, माँ बहनों की लाज जहाँ
लूट रहे हों अत्याचारी निर्जन पाकर आज जहाँ,

हिंसा और अहिंसा की चर्चा करने का समय नहीं,
सधवा का सिंदूर दूर होने के पहले जूझ वहीं।
तरुणाई का आज तकाज़ा, मृत्यु मिले या जीवन हो;
कायरता से किन्तु कलंकित कभी न अपना यौवन हो!

तुझे शपथ है

तुझे शपथ है, देश-भक्ति की, देश-भक्ति के नारों की!
तुझे शपथ है, कसी हुई जंज़ीरों की, झनकारों की!
तुझे शपथ है, बँधे प्रतिज्ञा के लोहे के तारों की!
तुझे शपथ है, बेगुनाह बेवाओं की चीत्कारों की!

तुझे शपथ है, एक साथ जीने मरने वाले क्षण की।
तुझे शपथ है, भरे अभी तक नहीं गुलामी के व्रण की!
आज़ादी के लिए अभी आगे लड़नेवाले रण की!
हँसते हुए झूलने वाले फाँसी के महान क्षण की!

तुझे शपथ है आज़ादी की, ओ जाँबाज़ जवाँ मेरे!
बुझा आग बरबादी की, जो है तेरे घर को घेरे!
तुझे शपथ है दृष्य देख मत जननी की बरबादी का;
पहले अपना काट शीश, फिर काट शीश आज़ादी का!

लौहपुरुष !

लौहपुरुष सरदार! करूँ वंदन तेरा किन शब्दों में?
राष्ट्रपुरुष तुमसे मिलते हैं किसी राष्ट्र को अब्दों में।
तेरा गर्जन एक, कि निर्बल में नवीन बल आता है!
तेरा वर्जन एक, कि बैरी बढ़ पीछे मुड़ जाता है!

तू असीम है धैर्य, कि साहस बढ़ जाता है प्राणों में।
तू असीम है शौर्य, कि पानी चढ़ जाता है वाणों में।
जब तक अचल हिमाचल सा तू प्रहरी है रक्षा में लय,
तब तक कैसी मन में चिन्ता, तब तक कैसा मन में भय?

सावधान!

सावधान, मेरे सेनानी!

इधर युद्ध है, उधर युद्ध है, प्रतिपल पथ हो रहा रुद्ध है;
आमंत्रित कर रहे पराजय प्रतिक्षण तुम करके नादानी।
सावधान, मेरे सेनानी!

कब तक क्रूर प्रहार सहोगे? कब तक अत्याचार सहोगे?
कब तक हाहाकार सहोगे? उठो, राष्ट्र के हे अभिमानी।
सावधान, मेरे सेनानी!

विजय उसी की जिसमें बल है, संधि सदा करता दुर्बल है;
तलवारों की प्यास बुझाता केवल तलवारों का पानी।
सावधान, मेरे सेनानी!

अखंड ज्योति

[मेरठ से जयपुर तक स्वतंत्रता की अखंड ज्योति की रथयात्रा पर लिखित]

जगे अखंड ज्योति अपनी!
मंगलमय मधुमय किरणों से पुलकित हों अंबर - अवनी!

यह स्वतंत्रता की शुचि ज्वाला, भरे सदा प्राणों का प्याला,
मंद न कभी प्रगति अपनी हो, आयें बाधायें कितनी?
जगे अखंड ज्योति अपनी!

यह जनता की ज्योति पताका सृजन करे नवयुग का साका;
जगमग हो जनगण का जीवन, जगमग जनता की जननी !
जगे अखंड ज्योति अपनी !

जहाँ - जहाँ जाये यह दीपक, भक्ति - भावना का उद्दीपक,
मरुथल में खिल उठें कमलदल, हो इतनी मधुधार घनी !
जगे अखंड ज्योति अपनी !

ऊपर लहरे तरल तिरंगा, नीचे बहे ज्योति की गंगा;
झाँकी देख अलौकिक माँ की रवि - शशि भी बन जायँ धनी !
जगे अखंड ज्योति अपनी !

इसमें कभी स्नेह यदि कम हो, यदि तम के घिरने का भ्रम हो,
कोटि-कोटि प्राणों का घृत दे रखें चिरतन ज्योति बनी !
जगे अखंड ज्योति अपनी ।

मंगल गीत

गाओ मंगल गीत, रागिनी !
खिली अरुण ऊषा अम्बर में, चली दुकूल समेट यामिनी !
गाओ मंगल गीत, रागिनी !

पावन पर्व युगों में आया, पुलकित बने प्राण मन काया;
गूँज रही आनन्द भैरवी, मंद हुई करुणा विहागिनी !
गाओ मंगल गीत, रागिनी !

रम्य राष्ट्र - भाषा के रथ में, चली नागरी, चढ़ भव-पथ में,
हिन्दी बन ललाट की बिन्दी बना रही भू को सुहागिनी !
गाओ मंगल गीत, रागिनी !

मेरी स्वतंत्रता का नव शिशु ले रहा जन्म बनकर नव विधु,
जनता-जलधि हिलोर ले रहा, ले सुख की लहरें सुहागिनी !
गाओ मंगल गीत, रागिनी !

जय हो इस पावनतम क्षण की, जय हो जनता के जीवन को,
जय हो इस अमृत बेला की, नित नव मधु सौरभ विकासिनी !
गाओ मंगल गीत, रागिनी !

स्वतन्त्रता के पुण्य पर्व पर

साज लो सितार तार, आ रही स्वतंत्रता,
बाजे सरगम बहार, आ रही स्वतंत्रता।

आज की उषा नवीन, आज की दिशा नवीन,
आज किरन किरन थिरक रही ले प्रभा नवीन,
आज श्वास है नवीन, आज की पवन नवीन,
प्राण - प्राण में पराग, सौरभ, स्पन्दन नवीन।
नयन पथ रहे निहार, आ रही स्वतंत्रता,
साज लो सितार तार, आ रही स्वतंत्रता।

जगमगा उठी अपूर्व कोटि दीप आरती,
स्वर्गलोक से चली सँवार हंस भारती,
स्वर्ण - कलश लिये गंग, यमुन अर्घ्य ढारतीं,
हिम - किरीटिनी विशुभ्र रत्न राशि वारती।
पथ - पथ पर हीरहार, आ रही स्वतंत्रता,
साज लो सितार तार, आ रही स्वतंत्रता।

सजल सफल हुई आज ही पुनीत साधना,
गूंज रही कीर्ति - कथा बन अतीत - यातना,

उठ खड़ी हुई अभीष्ट सिद्धि लिये प्रार्थना,
मूर्त बन रही स्वदेश की स्वतंत्र भावना।
साज लो श्रृँगार हार, आ रही स्वतंत्रता,
साज लो सितार तार, आ रही स्वतंत्रता।

बदल रही आज धरा, बदल रहा आसमान,
बदल रहे सूर्य, चन्द्र बदल रहा है जहान,
बदल रहे ग्रह-खगोल, बदल रहा विधि-विधान,
खुल रहा स्वतंत्र राष्ट्र का नवीन पट महान।
पग-पग जगमग अपार, आ रही स्वतंत्रता,
साज लो सितार तार, आ रही स्वतंत्रता।

दिन है बन्धन-विहीन, रजनी बन्धन-विहीन,
आज सभी कार्यकला अपने बन्धन-विहीन,
जननी बन्धन-विहीन, धरणी बन्धन-विहीन,
बह रही स्वतंत्रता-समीर देश में नवीन।
उमड़ी मकरन्दधार, आ रही स्वतंत्रता,
साज लो सितार तार, आ रही स्वतंत्रता।

यह स्वतंत्रता की अरुण उषा

यह स्वतंत्रता की अरुण उषा है लगी क्षितिज पर मुसकाने;
जो सपने थे इस जीवन के वे लगे सत्य बन इठलाने;
है छिड़ा भैरवी राग आज लेकर प्राणों में मधु कुंकुम;
मन की मीड़ों पर पीड़ा को हैं लगे प्राण भी सहलाने।

तृण-तृण में आज नया उत्सव, मंगल अभिनव श्रृंगार लिए,
जिन तरु लतिकाओं को सींचा उन पर फलफूल लगे आने!

जननी के शिर पर है जगमग हिन्दी बनकर सुहाग बिंदी;
जन मन के प्राणपद्म खिलकर हैं लगे सुरभि मधु सरसाने।

एशिया खंड का गौरव बन फहराता अपना जयकेतन;
अभिनंदन की ध्वनियाँ मन की हैं लगी बात को दुहराने !
जननी का हेमकिरीट जवाहर की प्रदीप्ति से चमक रहा;
हैं देश - विदेश खड़े उत्सुक उस छवि के दर्शन को पाने।

वह वर्गहीन नव स्वर्ग आज इस भूतल में ले रहा जन्म,
जिसमें बसने के लिए देवता लगे आज फिर ललचाने !
साकार हुई साधना-अर्चना आज सभी के जीवन की;
जननी की जयध्वनि से नभ में है चला नया नभ बस जाने;

बनकर वितान नव गौरव के नूतन विधान के छंद खिले,
कल्याण लिए है चली अमा भी आज पूर्णिमा बन जाने !
जिनका श्रम है, उनकी धरती, जिनका हल है, उनकी धरती;
इतने दिन बाद अभागों को सौभाग्य चला है अपनाने !

अब सृजन करो अपने मन का भव, ले वैभव के सुख-साधन;
ललकार रहा है वर्तमान, हैं कहाँ देश के दीवाने ?
अवनी, अपनी अंबर अपना, अपना सब कोना - कोना है;
भारत के भाग्यविधाता ! आओ चलें तिरंगा फहराने !!

गीत

जय स्वतंत्र भारत, जय जननी, जय नव भारत हे !
जय नवीन आकाश, धरा नव, चंचल अंचल, हर्ष भरा भव,
जय विमुक्त विहगों के कलरव,
नव जीवनमय, नव चेतनमय, जय नव जाग्रत् हे !

जय स्वतंत्र भारत, जय जननी, जय नव भारत हे!
जय नवीन ऊषा, नव संध्या, नव स्वप्नों की रजनीगंधा,
जय हिमाद्रि नव, जय नव विंध्या,
जय नवीन रथ, जय नवीन पथ, जय नव गतिरत हे!

जय स्वतन्त्र भारत, जय जननी, जय नव भारत हे!
जय नव स्वर की नवल गर्जना, जय नव कर की नवल सर्जना,
जय नव शिर की नवल अर्चना,
जय नव जन-मन, जय नव पल-क्षण, तन मन उन्नत हे!
जय स्वतंत्र भारत, जय जननी, जय नव भारत हे!

मुक्तिपर्व

मुक्ति के मंगल दिवस की आज पूजन-अर्चना है।
मुक्ति के नूतन दिवस की आज नूतन वंदना है!
धन्य यह दिन, धन्य रजनी। बनी बंधनहीन जननी;
आज के दिन पर निछावर युगों की तप-साधना है!

मुक्ति के नूतन दिवस की आज नूतन वंदना है!
यह अमर है दिवस अपना, जब बना साकार सपना;
यह अमर क्षण, अमर बलियों की मधुरतम कल्पना है!

मुक्ति के मंगल दिवस की आज पूजन - अर्चना है!
देख नव रवि-रश्मि उज्ज्वल, प्राण-पद्मों के खिले दल,
बह चली स्वच्छंद मारुत मंद ले मधुसर्जना है!

मुक्ति के मंगल दिवस की आज पूजन - अर्चना है!
युगों की सुलझी समस्या, यह शहीदों की तपस्या,
यह स्वराज्य शिखर उन्हीं की नींव पर उठकर तना है!

मुक्ति के मंगल दिवस की आज पूजन - अर्चना है !
राष्ट्र के अभिमान जागो, राष्ट्र के बलिदान जागो,
आज पुण्य प्रयाण की फिर उठ रही जयगर्जना है !

मुक्ति के मंगल दिवस की आज पूजन - अर्चना है !
मुक्ति का मणिमुकुट अनुपम, मलिन कर पाये न तमभ्रम,
राष्ट्र की तुमको शपथ, यह राष्ट्र की दृढ़ याचना है !
मुक्ति के मंगल दिवस की आज नूतन अर्चना है !

जयकेतन

फहरा, फिर जयकेतन फहरा !
तरल त्रिवेणी सा तिरंग ध्वज, इन्द्र धनुष बन नभ में छहरा !
फहरा, फिर जयकेतन फहरा !

आया मुक्ति - पर्व का मेला, लेकर भक्ति गर्व की वेला;
ले आनन्द हिलोर सिन्धु की, जन-जन में नव जीवन लहरा !
फहरा, फिर जयकेतन फहरा !

अंबर हँसा, धरा मुसकाई, दिग् - दिगन्त ने सुरभि लुटाई;
कंचन किरणों ने जननी का हेमकिरीट रँग दिया गहरा।
फहरा, फिर जयकेतन फहरा !

कोटि - कोटि कंठों का गर्जन, कोटि - कोटि शीशों का अर्पण,
कोटि-कोटि प्राणों में प्रण बन देता है भारत का पहरा !
फहरा, फिर जयकेतन फहरा !

वज्रपात

आज देश पर अनभ्र वज्रपात है हुआ,
आज देश का अमूल्य प्राण मृत्यु ने छुआ;
बन अमृत जिला रही कि जिस फकीर की दुआ,
आज वही महाप्राण देश में रहा नहीं !

घिर गया महान अन्धकार आज देश में,
घाव है असीम हुआ इस तरह स्वदेश में;
है बुझा गया चिराग़ काल छद्म वेश में,
लडखड़ा रही ज़बान, जा रहा कहा नहीं !

कोटि-कटि हैं, मगर वही न एक आज है,
कोटि-कोटि हैं, मगर वही न रहा राज है;
कोटि-कोटि हैं, मगर रहा न शीश ताज है,
एक पर करोड़ हों निसार, वह चला गया !

लाल रक्त से रँगा निकल रहा विहान है,
आसमान रो रहा, तड़प रहा जहान है;
है समस्त देश बन गया महा मसान है,
आह ! आज राष्ट्र पिता राष्ट्र से छला गया !

महानिर्वाण

चले त्याग तन राम, अयोध्या में हैं हाहाकार मचा।
शोक - सिन्धु में डूब रही है धरा, सके अब कौन बचा ?
वृन्दावन गोकुल अनाथ है, है अनाथ भारत सारा;
मोहन छोड़ चला ब्रजमंडल, कैसे रुके अश्रु - धारा ?

लाक्षागृह में आग लगी, तब नहीं, आज हम भस्म हुए !
भस्म हो गये आज युधिष्ठिर, मृतक पिण्ड को कौन छुए ?

चढ़ा आज ईसा शूली पर, तन से रक्त प्रवाह बहा।
फिर भी क्षमा-दया का मंडल मुखमंडल को घेर रहा।

वह सुकरात पी गया विष का प्याला, आखें बन्द हुईं।
लो मिट्टी का पिण्ड उठा, उज्ज्वल आत्मा स्वच्छंद हुई।
फाँसी पर चढ़ गया आज मंसूर, विश्व पर मुसकाता;
व्योम सहम है रहा, धरा का रस समस्त सूखा जाता।

बोधिसत्त्व ने कुशीनगर में आज महानिर्वाण लिया।
विधवा वसुन्धरा रोती बापू ने महाप्रयाण किया।
सजी आज किस की अर्थी है— बही क्रूर कैसी आँधी ?
भारत का सौभाग्य - सूर्य हो गया अस्त, जाते गाँधी !

ठहरो, चिता लगाओ मत, ओ निर्मम देश ! महात्मा की;
एकबार तो चरण - धूलि ले लेने दो पुण्यात्मा की !
धू - धू जला शरीर, हो गई राख महामानव काया;
आह अभागे देश ! सभी कुछ खोकर तूने क्या पाया ?

रो न, क्षुब्ध हो मत इतना, यह धरती, यह आकाश फटे !
श्रद्धांजलि दे, अश्रु रोक ले, तब कुछ हाहाकार घटे।
है असीम बन गई आज उस तेरे बापू की काया,
अमर प्रकाश - पुञ्ज बनकर वह अंबर - अवनी में छाया !

देख, उसी की मूर्ति रमी है आज प्राण के कण - कण में;
देख, उसी की ज्योति खिली है कोटि - कोटि जनगण - मन में।
खुला स्वर्ग का वातायन, बापू है तुझे निहार रहा !
हो अधीर मत राष्ट्र, तुझे वह अब भी खड़ा पुकार रहा !

बलि हो जाओ स्वयं, नहीं अब मानव का बलिदान करो !
करो सत्य का वरण, अहिंसा के पथ पर प्रस्थान करो !
तुम भी मृत्युञ्जय हो; मानव, तुम महात्मा की आत्मा !
स्नेह - सुधा बरसाओ जग में, हँसे धरा पर परमात्मा।

संकल्प

जिसके बल पर उठे, बढ़े हम, हमने रण हुङ्कार किया!
जिसके बल पर जिये-मरे हम, संकट - सागर पार किया!
जिसके बल पर विजय - मुकुट से जननी का शृंगार किया!
जिसके बल पर हो स्वतंत्र, भारत का जयजयकार किया!

वही शान्ति की मूर्ति, प्राण की स्फूर्ति, राष्ट्र - पतवार गया!
गया सत्य का तेज, अहिंसा का उज्ज्वल अवतार गया!
आज कौन है शेष ? देश ! जो अब फिर तेरा त्राण करे ?
जन जीवन के लिये स्वयं यों बलिवेदी पर प्राण धरे।

खंड - खंड हो धरा, धैर्य तू किसके बल पर है पाती ?
अधम ! तुझे क्या मिला आज, लेकर के जान महात्मा की ?
यह घातक प्रहार, यह गोली लगी न आज महात्मा को !
आज दैत्य ने ललकारा है हम सब के परमात्मा को !

चला निगलने महापुरुष को महा मृत्यु की छाया में।
अविनश्वर है छिपा किन्तु इस नर की नश्वर काया में !
मर कर भी है अमर महात्मा, जननी के जन - जन - मन में;
अक्षय सिंहासन है उसका प्राण - प्राण में, कण - कण में।

यदि हममें कुछ भी कुलीनता, यदि हममें कुछ भी पानी !
इस दुख से विचलित न बनेंगे, हो कितनी ही कुर्बानी !
खड़े रहेंगे आज अडिग हो, जिस पथ पर हम डटे हुए !
खड़े रहेंगे आज अचल हो, जिस प्रण पर हम डटे हुए !

आह ! आत्म - हंता ! ले, आ. उठ रही आज है वह आँधी !
एक नहीं, चालिस करोड़ सामने खड़े तेरे गांधी !
जो गांधी ने कहा, उसी की तिल - तिल पूर्ति करेंगे हम !
आज राष्ट्र के कण - कण को, गांधी की मूर्ति करेंगे हम !

उद्‌बोधन

हिम्मत हार न मेरे देश!

सच है तेरे उठे महात्मा, सच है आज न वह पुण्यात्मा;
प्राण - प्राण में किन्तु उसी की प्रतिमा सजी अशेष!
हिम्मत हार न मेरे देश!

सच है यह, वह शक्ति उठ गई, किन्तु न अपनी भक्ति उठ गई;
जन्मभूमि की भक्ति शक्ति देगी फिर हमें विशेष!
हिम्मत हार न मेरे देश।

सच है यह, घन अंधकार है, नहीं सूझता आर-पार है;
पर सम्मुख पावन प्रकाश है, बापू का उपदेश!
हिम्मत हार न मेरे देश!

अब आँसू से भिगो न अंचल, मत आँखों से भिगो धरातल;
खो न चेतना दुख असीम में, यही वीर का वेश!
हिम्मत हार न मेरे देश!

अनुशोचन उनका जो कायर, अनुशोचन उनका जो पामर;
व्यथित न कर बापू की आत्मा, कर क्रन्दन - ध्वनि शेष!
हिम्मत हार न मेरे देश!

आज गर्व कर महा तेज पर, जो सोया है अमृत सेज पर!
मृत्युञ्जय वह अजर - अमर, सुन गीता का संदेश!
हिम्मत हार न मेरे देश!

हम सब ऐसी करें साधना, जन-जन में हो प्रेम - भावना;
जननी जन्मभूमि की जय हो जीवन का उद्देश्य!
हिम्मत हार न मेरे देश!

वह बापू की आत्मा बोली

देवदास गांधी न बोलते, वह बापू की आत्मा बोली;
प्राण-प्राण में, कण-कण में फिर वह मंगलमय छाया डोली;
सभी नहीं हिन्दू हत्यारे, हत्यारी न राष्ट्र तरुणाई;
मत कलंक का पंक उलीचो, उन पर स्वयं जो कि मृत, भाई !

आज व्यर्थ है क्रोध, व्यर्थ प्रतिशोध आज, कुछ पा न सकोगे;
आग लगा कर भी जल-थल में बापू को लौटा न सकोगे !
बापू का बलिदान माँगता है प्रण आज तुम्हारा निश्छल,
रँगो न हिंसा के शोणित से भारत माता का शुभ्रांचल !

हे बापू की आत्मा ! बोलो, मेरे तरुण महात्मा ! बोलो,
जन-जन के विषाक्त मन में तुम अमृत के कुछ रसकण घोलो,
इस विनाश की महा घड़ी में केवल तुम्हीं ज्योति की रेखा,
महा मृत्यु के अंधकार में जिसने परम सत्य को देखा;

उठो आज जनता से ऊपर, उठो आज सत्ता से ऊपर;
गूँजे अभय तुम्हारी वाणी, उतरे सत्य स्वर्ग से भू पर !

कैसा वसन्त कैसी होली ?

कैसा वसन्त ? कैसी होली ? हो रही आज जड़ है बोली ?

हम खेल चुके हैं अभी फाग, छूटे न रक्त के अभी दाग,
फिर धधकाओ मत अभी आग,
रहने दो आज रंग - रोली ! कैसा वसन्त ? कैसी होली ?

जिस देश - राष्ट्र का राष्ट्रपिता चढ़ चला अभी है अग्नि - चिता,
वह कैसे जीवन रहा बिता ?
माँ ने सिर की रोली धो ली। कैसा वसन्त ? कैसी होली ?

क्या और जलाना रहा शेष, हम जला न पाये राग-द्वेष;
कर दिया भस्म सुन्दर स्वदेश,
हिंसा से रँग माँ की चोली। कैसा वसन्त? कैसी होली?

लाओ न अबीर, आज कुंकुम, लाओ अमृत अन्तर से तुम,
जन-जन में जगे प्रेम अनुपम,
तब हो वसन्त, तब हो होली। कैसा वसन्त? कैसी होली?

श्रद्धांजलि

यदि न अहिंसा के द्वारा
होती स्वतन्त्रता प्राप्त,
तो न राष्ट्र के प्राणों में
होती सहिष्णुता व्याप्त!

होती वह प्रतिक्रिया, जहाँ भी होता कुछ संघर्ष,
शास्त्रों से ही नित्य निकलते वादों के निष्कर्ष!
हिंसा में अभ्यस्त पाणि, शोणित में डूबे प्राण,
हिंसा से ही अपने हित का करते रक्षण त्राण!

आज देश में है जो कुछ भी, सुख-समृद्धि या शान्ति,
एक अहिंसा से सुखमय है जीवन में जन-क्रान्ति!
ओ मानव! गाँधी का सबसे बड़ा यही आराधन!
पशुबल त्याग, आत्मबल से नित करो विजय-सम्पादन!

राष्ट्रपिता की देन राष्ट्र को
सबसे बड़ी, अहिंसा;
जन-जन में सद्भाव जगे,
जागे न कभी भी हिंसा!

पंद्रह अगस्त

यह स्वतंत्रता की वर्षगाँठ है प्रथम प्रथम,
मैं कैसे इसे मनाऊँ, मन में है दिग्भ्रम।

आनंद - लहर यदि एक ओर है आ जाती,
वेदना विपुल दूसरी ओर तो छा जाती;
मैं दीप जलाऊँ, या कि बुझाऊँ, है संभ्रम,
यह स्वतंत्रता की वर्षगाँठ है प्रथम प्रथम!

यह प्रात रात को लेकर अन्तर में आया;
मेरे सुख की लहरों पर है दुख की छाया!
मैं ध्वजा उड़ाऊँ, या कि झुकाऊँ, है मति-भ्रम,
यह स्वतंत्रता की वर्षगाँठ है प्रथम प्रथम!

मल्लार मेघ में बजने लगता है विहाग;
मेरी आज़ादी के अंचल में लगा दाग़;
फिर भी गाओ तुम विजय - गीत तज करके भ्रम!
यह स्वतन्त्रता की वर्षगाँठ है प्रथम प्रथम!

उस महामहिम के लिए नहीं रोना-धोना,
अपमान बड़ा उसका, मन में दुर्बल होना;
आँसू पीकर मुसकाना है वीरों का क्रम;
यह स्वतन्त्रता की वर्षगाँठ है प्रथम प्रथम!

दीपक न जलें, यह काफ़ी शोक - प्रदर्शन है,
दीपक न जलें, यह काफ़ी मन का क्रन्दन है;
पर बुझे नहीं मन, बुझे नहीं वह महा आग,
पर बुझे नहीं मन, बुझे नहीं वह महा त्याग,

जो आग दे गया रक्त - दान दे महाभाग,
जिससे जगमग ज्योतिर्मय जननी का सुहाग;
तुम इसे मनाओ दे प्राणों का मधु-कुंकुम।
यह स्वतंत्रता की वर्षगाँठ है प्रथम प्रथम!

●

विजय पर्व

विजयोत्सव के पुण्य पर्व में जागे हिन्दुस्तान हमारा।

इसी पुण्य बेला में रघुपति ने रण का संधान किया था,
इसी पुण्य बेला में रघुपति ने वह अमर प्रयाण किया था,
इसी पुण्य बेला में रघुपति ने जनगण का त्राण किया था,
भस्म हुई रावण की लंका गूँजा जय जय गान हमारा,
विजयोत्सव के पुण्य पर्व में जागे हिन्दुस्तान हमारा।

यह वह मंगल घड़ी, अमंगल जब भव के थे दूर भगाये,
यह वह मंगल घड़ी, कवच सज जब हमने रण-शंख बजाये --
यह वह मंगल घड़ी, कि प्रण पर जब हमने थे प्राण चढ़ाये,
बजा विजय का डंका, फहरा नभ में विजय निशान हमारा,
विजयोत्सव के पुण्य पर्व में जागे भारतवर्ष हमारा।

घेर रहे हैं दशों दिशा से आज राक्षसों के दल के दल,
घेर रहा है दशों दिशा से आज राक्षसों के छल का बल,
घेर रहा है दशों दिशा से आज नाश का नव दावानल,
कोटि-कोटि चरणों की ध्वनि में गरजे जय-अभियान हमारा,
विजयोत्सव के पुण्य पर्व में जागे भारतवर्ष हमारा।

जागो वीर जाति के गौरव जागो जननी के अभिमानी,
जागो वीर वंश के पौरुष, जागो प्राणों के बलिदानी!
जागो शिवा, प्रताप कहाँ हो? जागो झाँसीवाली रानी!
कोटि-कोटि कंठों की ध्वनि में जागे फिर अभिमान हमारा,
विजयोत्सव के पुण्य पर्व में जागे हिन्दुस्तान हमारा!

जागो हे पांचाल निवासी जागो हे गुर्जर, मद्रासी,
जागो बंगभंग के द्रोही, जागो मध्य देश के वासी,
जागो क्षत्रिय, सिक्ख, मरहठे, जागो रण-व्रण के अभ्यासी!
कोटि बाहु के कोटि खड्ग में चमके अभ्युत्थान हमारा,
विजयोत्सव के पुण्य पर्व में जागे हिन्दुस्तान हमारा।

हर हर महादेव जय जय !

[प्रयाण-गीत]

आज करो नूतन आराधन, आज करो नूतन तपसाधन;
हृदय - हृदय हो शक्ति उदय ! हर हर महादेव जय जय !

रक्त - रक्त में हो नव स्पन्दन, प्राण - प्राण में नव आन्दोलन;
जन - जन में जीवन निर्भय ! हर हर महादेव जय जय !

स्वर - स्वर में हो सागर - गर्जन, कर - कर में हो नूतन सर्जन;
उर - उर में अमृत अक्षय ! हर हर महादेव जय जय !

निर्बलता, कातरता मन की, ध्वंस करो कादरता मन की;
करो अगम साहस संचय ! हर हर महादेव जय जय !

शमन करो यह पीड़ा, क्रन्दन, मानव का नव - भेदी रोदन;
उठे बाहु बन खड्ग वलय ! हर हर महादेव जय जय !

पग - पग में छाया कोलाहल, डगमग पग न कहीं हो निर्बल;
सम्मुख रहे लक्ष्य निश्चय ! हर हर महादेव जय जय !

निज संस्कृति, निज जाति न भूलो, निज पौरुष, निज ख्याति न भूलो;
सृजन रहे या रहे प्रलय ! हर हर महादेव जय जय !

स्वतन्त्रता का उज्ज्वल दिनकर चमके नया रक्त, बल लेकर;
गहन तिमिर हो पल में क्षय ! हर हर महादेव जय जय !

●

राजर्षि राष्ट्रपति

आज युगों के बाद राष्ट्र में जनता की हुंकार उठी,
जय भारत की, जय गाँधी की, अंबर तक झंकार उठी,
मेरा कौन, कौन तेरा है, चोटी पर ललकार उठी,
कोटि करों ने तुझे वर लिया, हर्ष-ध्वनि की ज्वार उठी।

जय यह तेरी नहीं, विजय है यह जनमत की, बहुमत की,
जय यह तेरी नहीं, विजय है यह स्वतंत्र नव भारत की!
बन उत्तर प्रदेश का गर्जन तू जग को ललकार चुका,
बन पावन प्रदेश का सर्जन कर माँ का शृंगार चुका।

आगे बढ़, सबसे आगे, प्रत्यंचा में टंकार हुई,
जननी की प्रतिमा सँवारने तेरी दूर पुकार हुई;
गंगा-यमुना अमृत दुग्ध दे तुझको बहुत दुलार चुकीं,
गोदावरी गोद लेने को तुझको आज गुहार उठी।

जिस दिन चला त्याग सचिवालय, प्रतिध्वनि तेरे साथ हुई,
नहीं विरोधी दल ही केवल, मुसलिम लीग अनाथ हुई!
ऐ मेरे राजर्षि! अधिक इससे क्या होगा अभिनंदन?
नहीं भक्त ही, पर विभक्त भी, करते हैं तेरा वंदन!

तू सुमेरु-सा रहा अचल ही, बही प्रबल, झंझा, आँधी,
तेरा मस्तक नहीं, झुका तेरे प्रण पर मेरा गांधी!
पा तेरा अनुराग-त्याग फिर से हिलोर ले तरुणाई;
भर उमंग, फहरा तिरंग ध्वज, उठे राष्ट्र ले अँगड़ाई!

राष्ट्र-ध्वजा

राष्ट्रध्वजा की करो नवीन आज अर्चना,
राष्ट्रध्वजा की करो नवीन आज वंदना,
राष्ट्रध्वजा की करो नवीन आज प्रार्थना,
राष्ट्रध्वजा की करो नवीन आज कामना!
यह धरा उठे, उठे गगन, नया वितान हो!
राष्ट्रध्वजा राष्ट्र का अमर विजय निशान हो!

हों सजीव आज वीर, राष्ट्र की निशानियाँ!
चल पड़ें स्वदेश के लिए मचल जवानियाँ,
आज नया रक्त लिखे राष्ट्र की रवानियाँ,
जो मिटे कभी न, लिखे वे अमर कहानियाँ!
चरण - चरण मरण जी उठे अजेय गान हो,
राष्ट्रध्वजा राष्ट्र का अमर विजय निशान हो!

रक्त - रक्त में नवीन शक्ति - भरी आग हो,
प्राण - प्राण में नवीन भक्ति, आत्म त्याग हो,
कंठ - कंठ में नवीन आज राष्ट्र - राग हो,
जन्मभूमि का अमर, अचल, अमिट सुहाग हो!
प्रहर-प्रहर आज नया स्वर्णमय विहान हो!
राष्ट्रध्वजा राष्ट्र का अमर विजय निशान हो!

आज है स्वतंत्र देश, है स्वतंत्र भावना,
आज है स्वतंत्र देश, है स्वतंत्र कल्पना,
आज है स्वतंत्र देश, है स्वतंत्र साधना,
कोटि - कोटि कंठ की स्वतंत्र एक गर्जना!
देश यह महान हो, कि राष्ट्र यह महान हो!
राष्ट्रध्वजा राष्ट्र का अमर विजय निशान हो!

हम बढ़ें उधर कि जिधर राष्ट्र की पुकार हो,
हम बढ़ें उधर कि जिधर राष्ट्र का सुधार हो,
हम बढ़ें उधर कि जिधर राष्ट्र पर विचार हो,
हम बढ़ें उधर कि जिधर राष्ट्र पर प्रहार हो !
कोटि-कोटि शीश उठ बढ़ें अभेद्य त्राण हो !
राष्ट्रध्वजा राष्ट्र का अमर विजय निशान हो !

दीपाली

स्नेह के दीपक गृह-गृह जलें ।
खिला रहे अपने सुख का शशि,
तम के घन न छलें ।

गृह-गृह में हो मंगल, उत्सव,
नूतन शालो, नूतन वैभव,
वसुन्धरा के शस्य - श्याम
अंचल में सब जन पलें !

दुरित, शमित दुर्भाव, दुराशा,
स्नेह - आर्द्र हो अपनी भाषा,
ललचे स्वर्ग देख धरती को
अमृत - चषक ढलें ।

स्नेह के दीपक गृह-गृह जलें !

मुक्तिगंधा

[स्वातन्त्र्योत्तर काल में लिखी कवि की बहुचर्चित कविताएँ]

युवा पीढ़ी को

समर्पित

अभिनन्दन और आशीर्वाद

प्राचीन काल में, कई अच्छे कवि अपने राज्य के और संस्कृति के प्रतिनिधि रूप में राजाओं की स्तुति करते थे। और स्तुति के रूप में राजाओं को अच्छी-से-अच्छी नसीहत भी देते थे।

ऐसे कवियों की संस्कारी कविताओं की कद्र सामान्य लोग क्या करें ? राज-दरबार के बड़े-बड़े पण्डित ही कवि की कद्र करके उसे 'राजकवि' की स्पृहणीय उपाधि दिला पाते थे। और कवि लोग ऐसी उपाधि पाकर धन्य-धन्य होते थे।

अब वह ज़माना विलुप्त हो गया है। अब राष्ट्र-कवियों का ज़माना आ गया है। हमारे देश के राजाओं ने ज़माने का प्रभाव आस्ते-आस्ते पहचान लिया और उन्होंने अपने-अपने राज्य भारत के विशाल प्रजा-राज्य में विलीन कर डाले।

अब हमारे राष्ट्रकवि प्रजाकीय संस्कृति का महत्त्व गाने लगे हैं। प्रजा-राज्य के प्रतिनिधि-स्वरूप राज्य-तन्त्र को आशीर्वाद देने लगे हैं, और सर्व सत्ताधारी जनता को निर्भयता से, स्पष्ट शब्दों में, नसीहत भी देने लगे हैं।

ऐसे कवि जब राज्य-रूपी जनतन्त्र की समालोचना करते हैं, तब वह भी सचमुच जनता के लिए नसीहत ही होती है।

हमारे राष्ट्रकवि अब राजपण्डितों के सामने अपने कवित्व का प्रदर्शन नहीं करते, किन्तु जनता के हृदय तक पहुँच जाये, ऐसी सादी-सीधी किन्तु संस्कारी व तेजस्वी भाषा में अपनी कविता लिखते हैं और उसे गेय भी बनाते हैं।

ऐसे अपने एक राष्ट्रकवि श्री सोहनलाल जी का मैं एक दफ़े 'गान्धयन' में स्वागत कर चुका हूँ। आज उनकी 'मुक्तिगन्धा' का, अभिनन्दन करने का मौका मिला है। मैं अपने इस राष्ट्रकवि का, जनता की ओर से अभिनन्दन करता हूँ और उसके उत्तरोत्तर उत्कर्ष के लिए प्रार्थना भी करता हूँ।

—काका कालेलकर

पुरोवाक्

स्वातन्त्र्योत्तर काल में, देश जिन आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक गतिविधियों के मोड से गुज़रा है, जनता पर जो उसकी प्रतिक्रिया हुई है, उसकी मानसिक आशा, निराशा, आकांक्षा, आक्रोश के भाव साकार होकर आपसे साक्षात्कार करना चाहते हैं।

इन रचनाओं में कवि की व्यक्तिगत नहीं, जनता की भावनाओं की अभिव्यक्ति है, जिसका वह प्रतिनिधि है, जिसका वह प्रवक्ता है, जिसका वह प्रहरी है।

सत्य की प्रखरता में जिन्हें रस का आस्वादन प्राप्त होता है, उन्हें ये रचनाएँ तिक्त-काषाय नहीं, मधुर एवं प्रिय लगेंगी, इसमें सन्देह नहीं।

ये रचनाएँ देश की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं, और इनकी बड़ी चर्चा भी हुई है। अनेक वर्षों के बाद इन स्वरों में वे स्वर भी मिलने लगे हैं, जो सही स्थिति को स्वीकार नहीं करते थे।

सत्य से मुकरना कायरता है, विशेष रूप से साहित्यकार की ईमानदारी के लिए। वही सही समाज का व्यवस्थापक है। वह अपने दायित्व से कतरायेगा तो समाज कतरायेगा।

ये रचनाएँ युवा पीढ़ी को देश के प्रति अपना दायित्व निभाने में नया मनोबल, नये संकल्प, नयी प्रेरणा दे सकें तो यह सृजन सार्थक होगा। और युवा पीढ़ी सशक्त एवं समृद्ध भारत के निर्माण में, महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने में आगे बढ़ेगी, मुझे पूर्ण विश्वास है।

—सोहनलाल द्विवेदी

नयी दिल्ली
स्वाधीनता रजत पर्व, १९७२

खण्ड १ : आवाहन

जागरण गीत

अब न गहरी नींद में तुम सो सकोगे,
गीत गाकर मैं जगाने आ रहा हूँ।
अतल अस्ताचल तुम्हें जाने न दूँगा,
अरुण उदयाचल सजाने आ रहा हूँ।

कल्पना में आज तक उड़ते रहे तुम,
साधना से सिहरकर मुड़ते रहे तुम;
अब तुम्हें आकाश में उड़ने न दूँगा,
आज धरती पर बसाने आ रहा हूँ।

सुख नहीं यह, नींद में सपने सँजोना,
दुख नहीं यह, शीश पर गुरु भार ढोना;
शूल तुम जिसको समझते थे अभी तक,
फूल मैं उसको बनाने आ रहा हूँ।

फूल को जो फूल समझे, भूल है यह,
शूल को जो शूल समझे, भूल है यह;
मूल में अनुकूल या प्रतिकूल के कण,
धूलि भूलों की हटाने आ रहा हूँ।

देखकर मँझधार तुम घबड़ा न जाना,
हाथ ले पतवार तुम घबड़ा न जाना;
मैं किनारे पर तुम्हें थकने न दूँगा,
पार मैं तुमको लगाने आ रहा हूँ।

तोड़ दो मन में कसी सब शृंखलाएँ,
तोड़ दो मन में बसी संकीर्णताएँ;
बिन्दु बनकर मैं तुम्हें ढलने न दूँगा,
सिन्धु बन तुमको उठाने आ रहा हूँ।

तुम उठो, धरती उठे, नभ शिर उठाये,
तुम चलो गति में, नयी गति झनझनाये;
विपथ होकर मैं तुम्हें मुड़ने न दूँगा,
प्रगति के पथ पर बढ़ाने आ रहा हूँ।

दासता इन्सान की करनी नहीं है,
दासता भगवान की करनी नहीं है;
वन्दना में मैं तुम्हें झुकने न दूँगा,
वन्दनीय तुम्हें बनाने आ रहा हूँ।

●

युगभारती

किसकी पायल बजती रुनझुन, कौन मन्दगति आती है ?
नीलाम्बर हो उठा अरुण है, कुंकुम उषा बिछाती है !
राजहंस उड़ता है नभ पर, शुभ्रांचल लहराती है,
शरद मेघ सी कौन अग्नि वीणा में राग उठाती है ?
ओ, इस युग के सजग ! उठो, पूजन के विविध विधान करो !
आती युगभारती धरा पर, कवि ! उठ मंगल गान करो !

मंगल घट हैं सजे द्वार पर, जय-जय के अभियान चले;
मुक्त राष्ट्र के तरुण बढ़े क्या ? नवयुग के अभियान चले !
जननी का सिंहासन लेकर जब उन्नत आह्वान चले;
तिमिर चीरते हुए युगों का शत-शत स्वर्ण विहान चले !
अन्धकार हो गया दूर, नव किरणों का मधुपान करो !
आती युगभारती धरा पर, कवि ! उठ मंगल गान करो !

जय-यात्रा में बढ़े चलें जो, वही देश के मतवाले;
पिये उन्होंने ही जीवन भर जी भर अमृत के प्याले !
मरहम-सा रख दिया घाव पर, जिनके फूटे हैं छाले;
बलि-पन्थी से बड़ा कौन ?— जो उनकी पदरज को पा ले ।
देशव्रती राष्ट्रोन्नायक उन हृदयों पर अभिमान करो !
आती युगभारती धरा पर, कवि ! उठ मंगल गान करो !

जन-जन में, जनपद-जनपद में आज नया जीवन जागा;
नया देश निर्माण हो रहा, ध्वंस कहीं उठकर भागा;
भवन नहीं उठ रहे, नहीं उठतीं कंचन की मीनारें;
आज नया मानव उठता है लेकर जाग्रत् हुंकारें !
नया सृजन हो रहा अजिर में, बढ़ नूतन सोपान धरो !
आती युगभारती धरा पर, कवि ! उठ मंगल गान करो !

व्यक्ति व्यक्ति बन जाय, देश की भक्ति स्वर्ण बन दमक उठे !
व्यक्ति व्यक्ति बन जाय, देश की शक्ति किरण बन चमक उठे !
आज तुम्हारी भी स्वरलहरी गूँजे, ऐसी गमक उठे;
सबल राष्ट्र की रचना में प्राणों का पौरुष तमक उठे !
बहे सुरभि, बरसे मधु-कुंकुम, मधुमय स्वर्ण विहान करो !
आती युगभारती धरा पर, कवि ! उठ मंगल गान करो !

प्रयाण गीत

कोटि कोटि कण्ठों से मिलकर जननी का जयगान करो!
बढ़ो, देश के युवक, युवतियो ! आज पुण्य प्रस्थान करो !

चल सकती है नहीं अधिक दिन मतवालों की मनचाही,
चल सकती है नहीं बहुत दिन और अधिक तानाशाही !
युग तुमको दे रहा बधाई, नया देश निर्माण करो !
बढ़ो, देश के युवक, युवतियो ! आज पुण्य प्रस्थान करो !

तुमने तो औरों के हित अपने शीशों का दान दिया;
अपने प्राणों को दे करके पर-घर का निर्माण किया;
अपनी जननी के हित फिर सर्वस्व आज बलिदान करो !
बढ़ो, देश के युवक, युवतियो ! आज पुण्य प्रस्थान करो !

सिंहासन पर आज लोकसत्ता को तुम आसीन करो;
आज जियो या आज मरो तुम, किन्तु विजय स्वाधीन करो;
जय हो जनता के जोवन की, बढ़ो बढ़ो, अभियान करो !
बढ़ो, देश के युवक, युवतियो ! आज पुण्य प्रस्थान करो !

क्षण भर यदि है उधर विजय, तो नहीं पराजय तुम मानो;
भाग्य तुम्हारा साथ दे रहा, तुम विजयी, निश्चय जानो;
मेरे सेनानी, तुम अपनी सेना पर अभिमान करो !
बढ़ो, देश के युवक, युवतियो ! आज पुण्य प्रस्थान करो !

शुभारम्भ जो किया देश में, नवचेतनता आई है;
मुरदा प्राणों में फिर से छायी नवीन तरुणाई है;
स्वतन्त्रता की ध्वजा न नीचे झुके, यही ध्रुव ध्यान धरो !
बढ़ो, देश के युवक, युवतियो ! आज पुण्य प्रस्थान करो !

तुम भारत के भाल, झुको मत, आज झुकेगा सिंहासन;
आज सत्य-बल के आगे काँपेगा हरि का भी आसन;
तुम अपने प्रण का, रण का, अपने व्रत का अभिमान करो!
बढ़ो, देश के युवक, युवतियो! आज पुण्य प्रस्थान करो!

चलो उधर ही, जिधर आज ले चला तुम्हारा है नेता;
आज उसी के संकेतों पर बनना है तुमको जेता;
पाप-शाप हो क्षार, आज वह पशुपति-शर सन्धान करो!
बढ़ो, देश के युवक, युवतियो! आज पुण्य प्रस्थान करो!

स्वतन्त्रता सेनानी

किन छन्दों की अगरु-धूप से. बन्धु, उतारूँ आरती?
जिसकी वाणी में स्वर-सप्तक वीणापाणि सँवारती?

कर्मवीर बन कर्म - गीत जीवन भर तूने गाया है;
मेरा सोया देश, सूर्य बन, तू ने सदा जगाया है;
हिमकिरीटिनी का मस्तक माणिकमणि से चमकाया है;
तेरे गीतों से संचारित नव भारत की भारती!
किन छन्दों की अगरु-धूप से, बन्धु, उतारूँ आरती!

मेरे तरुणों के दल में तेरे मन की तरुणाइयाँ;
इनके मुख - मण्डल पर तेरे ही मन की अरुणाइयाँ;
मेरी पीढ़ी क्या है? तेरे गौरव की परछाइयाँ;
वनमाली! है कली - कली तेरा ही गन्ध पसारती!
किन छन्दों की अगरु-धूप से बन्धु, उतारूँ आरती?

तू ने क्या न दिया हमको, जीवन भर ही तो प्यार दिया;
वीरों को हुंकार और मूकों को स्वर उपहार दिया,
कोटि-कोटि प्राणों के तारों में माँ का जयकार दिया;
बलिपन्थी, तेरे तप की ध्वनि बलि का पन्थ बुहारती !
किन छन्दों की अगरु-धूप से, बन्धु उतारूँ आरती ?

तू क्या बोला, तेरे स्वर में मेरा भारत बोल उठा;
तेरे शब्दों के पंखों में गगन उठा, भूगोल उठा;
गंगा, यमुना में, कृष्णा, कावेरी में कल्लोल उठा;
द्वापर जगा, जग गया त्रेता, चेतनता मनुहारती !
किन छन्दों की अगरु-धूप से, बन्धु, उतारूँ आरती ?

चिर स्वतन्त्र, तेरी स्वतन्त्रता कोई साध नहीं पाया,
सोने - चाँदी के सिक्कों से कोई बाँध नहीं पाया;
सिंहासन श्रद्धानत हो तेरे ही चरणों में आया;
तेरा त्याग - विराग देख सिद्धियाँ स्वयं को वारतीं !
किन छन्दों की अगरु-धूप से, बन्धु, उतारूँ आरती ?

वनमाली, माँ के चरणों में शीश सुमन धरनेवाले !
कैसे वन्दन करूँ, समर्पण जीवन - धन करनेवाले ?
पूत हो गया वह सपूत, जो तेरा गीत - गन्ध पा ले;
गन्ध-मुग्ध दृग-अन्ध मधुप की पंक्ति गीत गुंजारती !
किन छन्दों की अगरु-धूप से, बन्धु, उतारूँ आरती ?

कहाँ अकेला है तू, जिसके इतने प्यारे लाड़ले ?
पा तेरा संकेत आज चल सकते शीश पहाड़ ले;
देख, विजय भारत की आयी तेरे स्वर पर बाढ़ ले;
जन्मभूमि-जननी की जय में तेरी जय झनकारती !
किन छन्दों की अगरु-धूप से, बन्धु, उतारूँ आरती ?

पुण्य प्रयाण

चलो साथियो ! चलो साथियो ! पावन पुण्य प्रयाण में,
राज विदेशी भाषा का अब रहे न हिन्दुस्तान में !

कितने ही बढ़ चले तुम्हारे साथी, तुम्हें निहार रहे,
कितने ही बढ़ चले तुम्हारे साथी, तुम्हें पुकार रहे,
अग्नि परीक्षा आज, कौन इस पार रहे, उस पार रहे;
माता के वे ही सपूत जो जूझ पड़ें मैदान में;
राज विदेशी भाषा का अब रहे न हिन्दुस्तान में !

यही समय है, जागो अपनी भाषा के ओ सम्मानी !
यही समय है, जागो अपनी संस्कृति के ओ अभिमानी !
यही समय है, जागो अपनी जननी के ओ बलिदानी !
तुमको समय पुकार रहा है आज अमर अभियान में !
चलो साथियो ! चलो साथियो ! पावन पुण्य प्रयाण में !

जिसको अपने देश, वेश, अपनी भाषा का ज्ञान नहीं,
उसे देश का प्रतिनिधि बनने का कोई भी स्थान नहीं;
ऐसे नेताओं से सधता कभी राष्ट्र - कल्याण नहीं;
कह दो, सभी होश में आयें, संयम रखें ज़बान में !
राज विदेशी भाषा का अब रहे न हिन्दुस्तान में !

नहीं चलेगी, नहीं चलेगी यहाँ कभी भी अँग्रेज़ी,
नहीं चलेगी, नहीं चलेगी कोई सत्ता चंगेज़ी,
नहीं चलेगी, नहीं चलेगी दमन - चक्र की खूँरेज़ी;
आग लगादो ऐसे काले, कृत्रिम, कुटिल विधान में !
राज विदेशी भाषा का अब रहे न हिन्दुस्तान में !

हुंकार

जब तक न स्वयं ही तार सजें कुछ गाने को,
कुछ नयी तान, सुरताल नया बन जाने को,
छेड़े कोई भी लाख बार, पर तारों पर झनकार नहीं कोई होगी !

जब तक न मधुप मधु पी करके दीवाना हो,
मन में रह - रह कुछ उठता नहीं तराना हो,
छेड़े कोई भी लाख बार, पर भौंरों में गुंजार नहीं कोई होगी !

जब तक न स्वयं ही बेचैनी से उठे जाग,
जब तक न स्वयं कुछ करने की लग जाय आग,
उकसाये कोई लाख बार, मुरदा दिल में ललकार नहीं कोई होगी !

जब तक न लहरता स्वाभिमान का रक्त बहे,
जब तक न आत्मसम्मान जागकर मुक्त रहे,
ठुकराये कोई लाख बार, पर बुज़दिल में हुंकार नहीं कोई होगी !

ज्वाला मन्द न हो !

इस स्वतन्त्रता की अमर ज्योति की ज्वाला मन्द न हो !
प्राणों का स्नेह चढ़ाने की यह धारा बन्द न हो !

है अभी-अभी कल से उजियाली छायी आँगन में,
है अभी - अभी कल से हरियाली छायी उपवन में,
है अभी - अभी कल से खुशहाली छायी तन - मन में;
आनन्दमग्न मत बनो कि ऐसा फिर आनन्द न हो !
प्राणों का स्नेह चढ़ाने की यह धारा बन्द न हो !

घिर रहीं आँधियाँ दसों दिशा से इसे बुझाने को,
चल रहा प्रभंजन ज़ोर शोर से इसे मिटाने को,
बन लोहे की चट्टान खड़े हो इसे बचाने को;

फिर अन्धकार हो जाय, कहीं ऐसा छलछन्द न हो !
प्राणों का स्नेह चढ़ाने की यह धारा बन्द न हो !

घिर रहे मेघ काले - काले अम्बर में, भूतल में,
हैं कौंध रही बिजलियाँ निगलने को हमको पल में,
है सबल सदा ही अभय, गाज गिरती है दुर्बल में;
देखना, तुम्हारे आस - पास कोई जयचन्द न हो !
प्राणों का स्नेह चढ़ाने की यह धारा बन्द न हो !

मुक्तक

छायी क्यों अजब उदासी है ? ज़िन्दगी बन गयी दासी है;
ताज़गी नहीं गर ख़यालों में, ज़िन्दगी तुम्हारी बासी है !

खोलो खिड़की, हो गयी सुबह, रोशनी छिटक कर आने दो !
दिल मचल रहा है गाने को, कुछ नया तराना गाने दो !

ख़ामोश न बैठो बन मुरदे, आँधियाँ बनो, तूफ़ान बनो !
दुनिया है बदल गयी सारी, तुम आज नये इन्सान बनो !

ओ पत्थर की प्रतिमा, पिघलो !

नारायण, उतरो नभ से नर की इन मौन गुहारों से;
ओ पत्थर की प्रतिमा, पिघलो अब तो हाहाकारों से !
लो, जननी है खड़ी गोद में शिशु के शव को लिये हुए;
पड़ी तुम्हारे सिंहद्वार पर पद में सिर नत किये हुए।
खड़े द्वार पर नंगे भिखमंगों की करुण पुकारों से;
ओ पत्थर की प्रतिमा ! पिघलो अब तो हाहाकारों से !

यों ही मानवता को यदि तुमको भूखों तड़पाना है,
भरा हुआ भण्डार तुम्हारा, किन्तु न तुम्हें खिलाना है,
तो समेट लो इस जगती को, आज सृष्टि का अन्त करो !
या अपनी करुणा का, दानी ! अंचल आज अनन्त करो !
लो अवतार, उदार ! आज घर घर से, द्वारों - द्वारों से !
ओ पत्थर की प्रतिमा ! पिघलो अब तो हाहाकारों से !

जय हो !

जय हो, हे मृत्युंजय मेरे !
अमित तुम्हारी ज्योति, शक्ति कितनी तम में, जो तुमको घेरे ?
जय हो, हे मृत्युंजय मेरे !

गये रथी चढ़ बलि के रथ पर, महामुक्ति के पावन पथ पर,
जगमग ज्योतिर्मय सिंहासन, रवि, शशि ने मिल फूल बिखेरे !
जय हो, हे मृत्युंजय मेरे !

अमर ! मृत्यु का क्या तुमको डर, मृत्यु काँपती रही निरन्तर;
प्रलय मच गया नभ, जल-थल में, जब भी तुमने नयन तरेरे !
जय हो, हे मृत्युंजय मेरे !

सूनी धरणी, सूना अम्बर, तुम्हें न पाकर आज दिगम्बर;
शिवशंकर बन गये आज तुम, नीलकण्ठ प्रलयंकर मेरे !
जय हो, हे मृत्युंजय मेरे !

उतरो जननी के जन - जन में, उतरो मानव के मन - मन में;
पाकर के तप - त्याग तुम्हारा बढ़े देश फिर पथ पर तेरे !
जय हो, हे मृत्युंजय मेरे !

खंड २ : आत्मचिंतन

मुक्तिपर्व

ऐसे हर्ष की क्या बात?

जो मनायें मुक्ति का दिन, हम जलायें दीप अनगिन,
हटी काली रात, फिर भी घिरी काली रात!
ऐसे हर्ष की क्या बात?

कल अभी था एक क्रन्दन, किन्तु आज अनेक क्रन्दन;
नयन से हट प्राण में है छा गयी बरसात!
ऐसे हर्ष की क्या बात?

क्या यही है मुक्ति अपनी, सही हमने व्यथा इतनी,
आज तक जिसके लिए सह सह विषम आघात?
ऐसे हर्ष की क्या बात?

क्या यही स्वातन्त्र्य सुख है, दशों दिशि प्रतिकूल रुख है;
हो रहा है सतत आशा पर तुषार - निपात!
ऐसे हर्ष की क्या बात?

जाग, जन - सत्ता अचेतन! उठा अपना विजय - केतन!
खण्ड कर पाखण्ड का यह स्वर्ण झंझावात!
ऐसे हर्ष की क्या बात?

विद्रोही

जाग, जाग, विद्रोही मेरे !

अवसादों का गरल घूँट पी अब तक बहुत चुका है तू जी;
भवन भस्म हो जाय न तेरा, आती हैं ज्वालाएँ घेरे !
जाग, जाग, विद्रोही मेरे !

रक्षक ही बन जाय न तक्षक, तू उठ बनकर स्वयं परीक्षक;
जनता के भयभीत स्वरों को निर्भय गर्जन का बल दे रे !
जाग, जाग, विद्रोही मेरे !

कोटि-कोटि कण्ठों का गर्जन, कोटि-कोटि शीशों का अर्पण,
तेरे साथ आज, युग - नेता, युगचेता, तुझको युग हेरे !
जाग, जाग, विद्रोही मेरे !

आत्मचिन्तन

स्वतन्त्रता के पुण्यपर्व पर जानेवाले दीवानो,
स्वतन्त्रता के विजय-गर्व के गानेवाले मस्तानो,
पीछे हटो, बढ़ो मत आगे ध्वजवन्दन की वेदी पर,
क्या तुम इसके योग्य आज हो, रुको, स्वयं को पहचानो !

ओ गणतन्त्र मनानेवालो, ओ जनतन्त्र-गीत-गायक,
पीछे हटो, बढ़ो मत आगे बन जनता के उन्नायक,
स्वयं सुधारो तुम अपने को, ओ सुधारवादी नेता,
कथनी और, और करनी है, आज रहे तुम किस लायक ?

यह खादी का वेश, सत्य का वेश, शहीदों का बाना,
जिसे किया धारण बापू ने, आत्माहुति देना जाना,
इसे कलंकित करो आज मत, जो गौरव अंकित इस पर,
इसकी धवल कीर्ति को धूमिल करने का छोड़ो गाना।

कहाँ लगन वह, कहाँ भावना, कहाँ साधना आज रही,
जिसको पाकर ताप-शाप से मुक्त हमारी हुई मही ?
ध्वज तिरंग इंगित करता है व्यंग्य भरी मुस्कान लिये,
ढंग तुम्हारा आज नहीं वह, जिससे जोवन - धार बही।

स्वतन्त्रता का ध्वज तिरंग फहरानेवाले उत्साही !
करो आत्म-दर्शन रुक करके, अब न चलेगी मनचाही।
छिपा स्वार्थ का चोर नहीं क्या मन में है ? सच-सच कहना।
तुम गुमराह स्वयं, तब तुम क्या दूर करोगे गुमराही ?

गान्धी जी की जय बोलो मत, बन गान्धी के अनुयायी,
क्या तुम इसके योग्य आज हो, सच कहना, मेरे भाई !
पीछे हटो, बढ़ो मत आगे फूल फेंक दो, धूल बनें,
गान्धी की प्रतिमा तुम जैसों को निहार कर शरमायी !

ओ गणतन्त्र मनानेवालो, ओ जनतन्त्र - देश - प्रेमी !
पीछे हटो, बढ़ो मत आगे, मातृ - वन्दना के नेमी !
बढ़ने दो उन वीरों को, जिनके मन - प्राण-हृदय निर्मल,
अड़ो न बन दीवार सामने दीन-हीन के बन क्षेमी !

यदि तुममें है आग, देश- सेवा की सच्ची लगी लगन,
लेने की है नहीं कामना, देने को कुछ भी है मन,
सिंहासन के आसपास घूमो मत मुकुट चुराने को,
सावधान कर रहा समय, रुक करके करो आत्मचिन्तन !

झण्डे फहरानेवालो !

ऐ लाल किले पर झण्डे फहरानेवालो !
सच कहना, कितने साथी साथ तुम्हारे है ?
क्या आज खुशी की लहर देश में है सचमुच;
उठ रहे खुशी के सचमुच ऊँचे नारे हैं ?
कब तक ऐसे झूठे त्योहार मनाओगे ?
कब तक ऐसे झूठे श्रृंगार सजाओगे ?
जिसमें मन खुलकर खिले नहीं, मुरझाया हो;
ऐसे दुर्दिन में नाचोगे, तुम गाओगे ?

ये झूठी खुशियाँ और मनाओ आज नहीं,
दिन आज खुशी का नहीं, दुखी दिलवालों का।
पीछे झण्डा फहराना, ऐ झण्डेवालो,
पहले जवाब दो मेरे चन्द सवालों का !

आज़ादी का दिन आया है, मालूम हमें,
पर हममें अब क्यों उठता वह उत्साह नहीं ?
क्यों साथ तुम्हारा आज न हम देते बढ़कर ?
क्या हमें देश का प्रेम, देश की चाह नहीं ?
तुम अलग-अलग, हम अलग-अलग चलते रहते,
बोलो, साथी, फिर कैसे साथ तुम्हारा हो ?
मुस्कानों में मुस्कान किस तरह वह घोले,
बन गयी ज़िन्दगी जिसकी आँसू खारा हो ?

पर तुमको क्या करना है इन सब बातों से,
तुम पीटो अपना ढोल गमकतो तालों का ?
पीछे झण्डा फहराना, ऐ झण्डेवालो,
पहले जवाब दो मेरे चन्द सवालों का !

तुम भीख अन्न की द्वार-द्वार में माँग रहे,
तुम भीख द्रव्य की द्वार-द्वार में माँग रहे;
क्या आज़ादी से मिली तुम्हें यह आज़ादी,
तुम कर्ज़ काढ़कर समझे मार छलाँग रहे ?
यह क़ौम देश का जब-जब कर्ज़ चुकायेगी,
इस आज़ादी की याद हमेशा आयेगी !
बेड़ियाँ कर्ज़ की और न बाँधो पाँवों में,
क्या इससे हमको नींद चैन की आयेगी ?

है एक गुलामी हटी, दूसरी फिर आयी,
यह मर्ज़ हमारा और बढ़ गया सालों का।
पीछे झण्डा फहराना, ऐ झण्डेवालो,
पहले जवाब दो मेरे चन्द सवालों का !

क्या आज़ादी यह वही, देखते थे अब तक
जिसका हम आँखों में प्यारा-प्यारा सपना ?
जब राज्य हमारा आयेगा, दुख जायेगा,
छायेगा चारों ओर अमन से घर अपना।
क्या आज़ादी यह वही, जहाँ लाचारों पर
लादी जायेगी और न ज़्यादा लाचारी ?
बज रही चैन-सुख की जिसमें वंशी होगी,
लेंगे राहत की साँस देश के नर-नारी।

कल से बेहतर हो गये आज हैं हम कितने,
ज़्यादा मत पूछो हाल जले दिलवालों का।
पीछे झण्डा फहराना, ऐ झण्डेवालो,
पहले जवाब दो मेरे चन्द सवालों का !

क्या तुमने पूछा कभी, हमें क्या चाहत है ?
क्या तुमने पूछा कभी, हमें क्या राहत है ?
क्या खाते हम, क्या पीते हम, रहते कैसे ?
यह हृदय हमारा कहाँ-कहाँ पर आहत है ?
घर बसे हमारे आज और हैं उजड़ रहे,
जो पहले थी वह आज नहीं घर में पूँजी;
आज़ादी तो आयी, बरबादी गयी नहीं,
पूरी न हुई वह आशा जो मन में पूजी !

रुपये दिखलाते बहुत, मगर वे दिवालिया,
यह देश तुम्हारा आज बना कंगालों का !
पीछे झण्डा फहराना, ऐ झण्डेवालो,
पहले जवाब दो मेरे चन्द सवालों का !

क्या तुमने पूछा कभी, हमें गेहूँ मिलता,
कितनी क़ीमत देकर हम उसको लाते हैं ?
क्या तुमने पूछा कभी, हमें शक्कर मिलती,
कितनी मुसीबतें झेल उसे हम पाते हैं ?
हर क़दम-क़दम पर मिलती है हर चीज़ यहाँ,
जब दाम सवाया या ड्यौढ़ा दे आते हैं।
जब कभी खरे पैसे हम उनको दिखलाते,
तब खाली हाथों, मुँह लटकाये आते हैं !

तुम चोरबज़ारी बढ़ा रहे या घटा रहे ?
बेहाल करो मत हाल और बेहालों का !
पीछे झण्डा फहराना, ऐ झण्डवालो,
पहले जवाब दो मेरे चन्द सवालों का !

धीरे - धीरे कर लगा न ऐसे कर काटो,
कहते किसान यह राज्य बड़ा ही जाली है ।
रिश्वत लेना है पाप, लिखा दीवारों पर,
रिश्वत लेने की करता राज्य दलाली है ।
पटवारी तो पटवारी थे, पर यह प्रधान ?
जो बना गाँव का खाऊ बड़ा लुटेरा है;
अपनी ज़मीन औ' जोत बनाये रखने को
बिक चुका बहुत-कुछ अपना लुटिया-डेरा है ।

क्या न्याय मिलेगा यों ही रिश्वत देने से,
यह राज्य चलेगा कब तक रिश्वतवालों का ?
पीछे झण्डा फहराना, ऐ झण्डेवालो,
पहले जवाब दो मेरे चन्द सवालों का !

बनकर सचमुच हमदर्द कभी आये होते,
छुपके - चुपके, क्या हम पर आज गुज़रती है;
तुम खुद ही अपनी आँख देख लेते सब कुछ,
ज़िन्दगी बिगड़ती जाती या कि सँवरती है ।
होता न भले कुछ, पर आँसू तो पुँछ जाते,
हम तुम्हें समझते तुम हितचिन्तक शासक हो;
हम लेते इतना मान, तुम्हें हमदर्दी है,
तुम सचमुच ही जनता के दुख - विनाशक हो !

पर कब तुम पुरसाँहाल बने दुख-दर्दों के ?
तुमको तो आता रहा ख़याल ख़ुशहालों का !
पीछे झण्डा फहराना, ऐ झण्डेवालो,
पहले जवाब दो मेरे चन्द सवालों का ।

सच-सच कहना, ये खरी-खरी कड़ुवी बातें
तेज़ाब सरीखी तेज़ बहुत लगती होंगी ?
हम सावधान कर रहे, तुम्हें जो घेरे हैं,
उनमें बहुतेरे हैं अवसरवादी ढोंगी।
गर बुरा न मानो, तो फिर बहुत भला होगा,
तुम अब भी सोचो, कहाँ - कहाँ पर खामी है!
गर बुरा न मानो, तो फिर बहुत भला होगा,
है अभी समय, जब देता समय सलामी है!

गर सच कहना है जुर्म, तुम्हारा मुजरिम हूँ,
दो सज़ा 'मौत की जन्नत देश निकालों का।
पीछे झण्डा फहराना, ऐ झण्डेवालो,
पहले जवाब दो मेरे चन्द सवालों का!

तुमसे यह शिकवा नहीं शिकायत है मेरी,
यह तो दिल की दो सीधी सीधी बातें हैं;
दिन आया होगा जहाँ, रोशनी भी होगी;
है यहाँ अँधेरा, काली - काली रातें हैं।
तस्वीर नहीं यह रंगभरी है ख़यालों की,
सच्ची हालत है, सच्ची यही हक़ीक़त है,
सुननेवालो! करना तुम मुझको माफ़ आज,
सिर - दर्द बढ़ गया होगा, बड़ी मुसीबत है!

अफ़सोस! तुम्हें खुश करने का संगीत नहीं,
यह गीत नहीं, सागर है आहों - नालों का।
पीछे झण्डा फहराना, ऐ झण्डेवालो,
पहले जवाब दो मेरे चन्द सवालों का!

सुननेवालो ! करना तुम मुझको माफ़ आज,
सिर-दर्द बढ़ गया होगा, साफ़ कहानी है।
इन्साफ़ चाहता हूँ तुमसे न हुकूमत से,
किसका क़ुसूर, किसकी इसमें नादानी है ?
यह देश तुम्हारा और हमारा है सब का,
क्या आज़ादी का यों ही जशन मनायेंगे ?
बर्बादी से वीरान हो रहा जब गुलशन,
तब आज़ादी के दिये जलाये जायेंगे ?

कल से बेहतर हो गये आज हैं हम कितने,
ज़्यादा मत पूछो हाल जले दिलवालों का।
पीछे झण्डा फहराना, ऐ झण्डेवालो,
पहले जवाब दो मेरे चन्द सवालों का !

मैं तुमसे कहता नहीं, न यह मेरा स्वर है,
यह जनता की कातर पुकार है, तड़पन है,
मैं तुमसे कहता नहीं, न यह मेरा स्वर है,
यह जनता की बेचैनी है, यह धड़कन है।
हमदर्दी हो तो हाथ धरो आ सीने पर,
देखो, कितनी रफ़्तार तेज़ है सीने की,
मायूस ज़िन्दगी से न हुए फिर भी हम हैं,
है हमें तमन्ना अभी बहुत दिन जीने की !

बेदर्दी से गर काम लिया तुमने अब भी,
बेसब्री ढूँढ़े मोड़ न और बवालों का !
पीछे झण्डा फहराना, ऐ झण्डेवालो,
पहले जवाब दो मेरे चन्द सवालों का !

मुस्कान बिखेरो तुम अपनी इस जलसे में,
मैं खारे आँसू इसमें आज मिलाऊँगा;
तुम विजय - गीत गाओ अपने नक्कारों पर,
मैं आज हृदय का हाहाकार सुनाऊँगा!
तुम झण्डा फहराओ ऊँचे - ऊँचे चढ़कर,
तुमसे हटकर, मैं उसकी कीर्ति बढ़ाऊँगा;
तुम हर्षनाद से कर दो गुंजित दिग्-दिगन्त,
मैं आज तुम्हारा साथ नहीं दे पाऊँगा।

त्योहार तुम्हारा, यह मेरा त्योहार नहीं,
त्योहार कहाँ होता कोई ग़मवालों का!
पीछे झण्डा फहराना, ऐ झण्डेवालो,
पहले जवाब दो मेरे चन्द सवालों का?

गर मानोगे तुम ऐसे नहीं मनाने से,
जैसे मानोगे, वैसे तुम्हें मनाऊँगा;
झण्डा फहराऊँगा इससे ज़्यादा ऊँचा,
ग़द्दार न मैं, जो इस की शान झुकाऊँगा।
पर 'हाँ हुज़ूर' मैं नहीं, करे जो हाँ में हाँ,
जो ऐब करोगे, खुलकर उसे बताऊँगा;
मदहोश हुए गर सिंहासन पर बैठ - बैठ,
नीचे उतारकर तुम्हें होश में लाऊँगा।

ख़ामोश न देखूँगा, ऊपर मीनार सजे,
घर के भीतर लड़खड़ा रही दीवालों का!
पीछे झण्डा फहराना, ऐ झण्डेवालो,
पहले जवाब दो मेरे चन्द सवालों का!

वे समझाते हैं बार-बार, मत यों बिगड़ो,
आज़ाद देश जब करवट कभी बदलता है,
होती हैं यों ही उथल-पुथल, बदगुमानियाँ,
शासन का यों ही काम हमेशा चलता है!
मैं कहता हूँ, वे बुज़दिल हैं, वे मुरदे हैं,
जो धरकर सिर पर हाथ, हाथ को मलते हैं;
जिनमें बेक़ाबू दर्द आग बन जाता है,
वे आँधी बन, दुनिया समेटकर चलते हैं!

लेते झण्डा वे छीन निकम्मे हाथों से,
इतिहास नाम लिखता ऐसे मतवालों का!
पीछे झण्डा फहराना, ऐ झण्डेवालो,
पहले जवाब दो मेरे चन्द सवालों का!

दिल्ली दरबार

कर पर कर लद रहे, किन्तु मेरी सुनता अब कौन है?
जो रोटी पाते शासन से, उनकी वाणी मौन है!
जो सच कहे उसी को खाली करना पड़ता भौन है!
फिर क्या होगा मुझ गरीब की आँसू भरी गुहार का?
मुझे भरोसा रहा नहीं अब दिल्ली के दरबार का!

अधिकारों से मोह, न ज़िम्मे- दारी की परवाह है;
शासन अपने हाथ रहे, केवल यह मन में चाह है;
जिसके दिल को भेद नहीं पाती जनता की आह है;
जिसे जीत की चिन्ता है, पर ध्यान नहीं है हार का!
मुझे भरोसा रहा नहीं अब दिल्ली के दरबार का!

छीन लिया घर-घर से जिसने जो कुछ था धन - धान भी,
छीन लिया कर-कर से कंगन, आभूषण, परिधान भी,
छीन लिया मस्तक का टीका, परिणय की पहचान भी;
अब तक बन्द नहीं है मुँह जिसके खाली भण्डार का!
मुझे भरोसा रहा नहीं अब दिल्ली के दरबार का!

व्यय बढ़ रहा, आय घटती है जन - जन के परिवार में,
हम नीचे गिर रहे रात-दिन प्रति योजना, सुधार में,
फिर भी जो बेख़बर, व्यस्त अपने वैभव, श्रृंगार में;
आहत को राहत न मिली तो क्या फल है आधार का?
मुझे भरोसा रहा नहीं अब दिल्ली के दरबार का!

बाँधों पर बँध रहे बाँध हैं, उनके भीतर छेद भी,
होता है निर्माण या कि निर्वाण, न होता खेद भी,
इसका ज़िम्मेदार कौन? सब समझ रहे हैं भेद भी!
वही, बनाया है जिसको तुमने मालिक अधिकार का।
मुझे भरोसा रहा नहीं अब दिल्ली के दरबार का!

संविधान कल और बना था, संविधान अब और है,
संविधान बन गया बदलने वाला मुँह का कौर है;
नहीं भरोसा रहा नीति का, नहीं प्रीति का ठौर है;
कोई पुरसाँ हाल नहीं पीड़ित की करुण पुकार का!
मुझे भरोसा रहा नहीं अब दिल्ली के दरबार का!

एक सूत्र में बँधा राष्ट्र यह जिस भाषा, जिस भाव से,
हुआ देश स्वाधीन हमारा जिसकी शक्ति, प्रभाव से,
वही राजभाषा न बन सकी जिसके द्रोह, दबाव से;
जिसे विदेशी भाषा ही हो मार्ग मिला उद्धार का।
मुझे भरोसा रहा नहीं अब दिल्ली के दरबार का!

असन्तोष की आग सुलगती जाती ही है अनजानी,
महँगाई, भुखमरी, गरीबी बढ़ती जाती मनमानी,
यह विक्षोभ न भस्म करे घर बनकर ज्वाला तूफ़ानी;
क़लम छोड़कर ले न सहारा क्रोध कहीं तलवार का
मुझे भरोसा रहा नहीं अब दिल्ली के दरबार का !

मुझे नहीं है लोभ राज के वरदानी वरदान का,
मुझ नहीं है लोभ राज्य के सम्मानी सम्मान का,
मैं जनता का साथी हूँ, मैं कवि हूँ हिन्दुस्तान का;
खोज रहा हूँ माँझी माँ को इस डगमग पतवार का !
मुझे भरोसा रहा नहीं अब दिल्ली के दरबार का।

अन्धकार घिर रहा क्षितिज में, घिरती आती रात है;
राह दिखानेवाला सच्चा साथी अभी न साथ है;
जनता, आँसू पोंछ, आ रहा तेरा सुखद प्रभात है;
आज नहीं तो कल होगा शासन तेरे इतबार का।
मुझे भरोसा रहा नहीं अब दिल्ली के दरबार का !

एक बात यह

सौ बातों की एक बात यह !

कुछ धरा न केवल कहने में, केवल भावों में बहने में;
करनी की भाषा में बोलो, सौ प्रातों का एक प्रात यह !
सौ बातों की एक बात यह।

यदि कुछ कहा, किया कुछ तुमने, एक कर्म, स्वर बने न अपने;
इससे बढ़ दुर्भाग्य न कोई, सौ रातों को एक रात यह !
सौ बातों की एक बात यह।

हो सकता, जग तुम्हें न जाने, तुम्हीं तुम नहीं जो वह माने;
क्षमा कर सकोगे न स्वयं को, सौ घातों की एक घात यह !
सौ बातों की एक बात यह।

चलो सत्य को लेकर सम्मुख, दुख भी चमक उठेंगे बन सुख;
तुम पर जीत ज्योति की होगी, सौ मातों की एक मात यह !
सौ बातों की एक बात यह।

त्याग वहीं, अनुराग जहाँ है, त्याग जहाँ सौभाग्य वहाँ है;
अर्जन नहीं, विसर्जन निधि है, सौ पाँतों की एक पाँत यह !
सौ बातों की एक बात यह।

इतना आज अगर कर पाओ

व्यथा दूर हो सभी देश की, इतना आज अगर कर पाओ,
सिंहासन का मोह छोड़कर जनता के साथी बन जाओ !

देख रहे तुम दूर गगन को, कितने ग्रह नक्षत्र बन रहे;
देख न पाते हो धरती को, कितने गृह हैं आज ढह रहे;
जनता की आकांक्षा, तड़पन, जनता की चाहें औ' आहें,
जनता के बनकर के ही तुम समझ सकोगे कसक-कराहें,
हे मेरे युग के निर्माता ! नवयुग का निर्माण सजाओ,
व्यथा दूर हो सभी देश की, इतना आज अगर कर पाओ !

दूर-दूर तुम हमसे रहते, कैसे पास तुम्हारे आयें ?
आने के भी द्वार बन्द हैं, कैसे तुमको व्यथा सुनायें ?
फिर कहते तुम, साथ चलें हम, बनें तुम्हारे पथ अनुगामी;
बोलो, यह कैसे सम्भव है, बनें तुम्हारे पथ के हामी ?
जब तक तुम न हमारे सुख-दुख में आ करके हाथ बँटाओ !
व्यथा दूर हो सभी देश की, इतना आज अगर कर पाओ !

अभियान गीत

कोटि-कोटि कण्ठों से माँ की जय जय गाओ रे!
आया पावन पर्व, गर्व से आज मनाओ रे!

ऊँचा तरल तिरंगा नभ पर अपना फहराये,
देख - देख गंगा यमुना भी उठकर लहराये;
चाहे जैसी काल घटा आ शिर पर घहराये,
बनो प्रभंजन, पदाघात से मार भगाओ रे!
कोटि कोटि कण्ठों से माँ की जय जय गाओ रे!

डरना किससे, कालयजी तुम, माँ के अभिमानी!
डरना किससे, वीर व्रती तुम, पौरुष - अभिमानी!
डरना किससे, माता के हित तुम जीवन-दानी!
निर्भय होकर, एक साथ सब कदम बढ़ाओ रे!
कोटि-कोटि कण्ठों से माँ की जय जय गाओ रे!

एक ओर हिमगिरि पर अजगर फन फैलाये है,
एक ओर नापाक ताक में आँख गड़ाये है,
अब भी शत्रु खड़ा लड़ने को दायें - बाँयें है;
तो शस्त्रों पर आज नयी फिर धार चढ़ाओ रे!
कोटि-कोटि कण्ठों से माँ की जय जय गाओ रे!
कोटि - कोटि हाथों माँ की आरती सजाओ रे!

जागते रहो !

हिमगिरि की चोटी से पुकार, कहता हूँ तुमसे बार बार'
मेरे भारत के कर्णधार ! जागते रहो, हो ख़बरदार !

जब-जब भी तुम बेख़बर हुए जब-जब तुमने दी दया दान,
तब तब तुम नीचे हुए, शत्रु ऊपर आ बैठा लिए शान !
इतिहास कह रहा है पुकार ! जागते रहो, हो ख़बरदार !

लेखनी नहीं, तलवार आज दुनिया में करने चली राज !
तलवारों का तलवारों से देना है तुम्हें जवाब आज !
हो व्यर्थ न प्राणों की पुकार ! जागते रहो, हो ख़बरदार !

तलवारों की ही धारों से सिंहासन चमका करता है !
तलवारों की अनुहारों से सिंहासन दमका करता है !
करुणा न कहीं बन जाय हार ! जागते रहो, हो ख़बरदार !

हो कहीं देश पर यदि प्रहार, लो आक्रान्ता का सिर उतार,
हिमगिरि की चोटी से पुकार, कहता हूँ तुमसे बार-बार !
मेरे भारत के कर्णधार ! जागते रहो, हो ख़बरदार !

सीमान्त के पहरुए !

तुम दूर पर खड़े हो, पर पास हो हमारे,
तुम दूर पर खड़े हो, हर साँस में हमारे,
ओ देश के सिपाही !

तुम भूख प्यास साधे दिन रात ही खड़े हो,
प्रणबद्ध, शस्त्र बाँधे दिनरात ही खड़े हो,
ओ देश के सिपाही !

हम भूल नहीं पाते, तुम याद सदा आते,
सीमान्त के पहरुए, सीमान्त तुम जगाते,
ओ देश के सिपाही !

तुमने विजय वरी है हर युद्ध में सदा ही,
इतिहास यह हमारा है दे रहा गवाही,
ओ देश के सिपाही !

है शत्रु छिपा बायें, है शत्रु छिपा दायें,
हैं रक्त - रंजिता ही अब तक बनीं दिशाएँ,
ओ देश के सिपाही !

यह रक्त देश का है बिखरा शिखर-शिखर पर,
इसको न भूल जाना, कहता निखर-निखर कर,
ओ देश के सिपाही !

हों बिजलियाँ चमकती, हों बदलियाँ कड़कती,
हर बार में तुम्हारी हों बाहुएँ फड़कती,
ओ देश के सिपाही !

घबड़ा कहीं न जाना, मत पीठ तुम दिखाना,
हो काल सामने भी, तो शीश काट लाना,
ओ देश के सिपाही !

बहनें निहारती हैं, माता निहारती हैं,
जीते रहो सदा तुम, आशीष वारती है,
ओ देश के सिपाही !

माँ का मुकुट हिमालय झुकने कभी न देना,
यह देश का शिवालय झुकने कभी न देना,
ओ देश के सिपाही !

वीर सैनिको !

सहे कौन अपमान इस तरह, जिसमें कुछ भी पानी हो ?
पानी हो क्या, जब तक तन में चढ़ती हुई जवानी हो !
तुमने रण हुंकार किया, अपने जीवट को बता दिया;
तुम भी नहीं नमक के पुतले, क्षण में अरि को पता दिया !

धन्य तुम्हारा अद्‌भुत विक्रम, हुए भले क्षत - विक्षत तुम !
हिन्द राष्ट्र का विजय - केतु नभ पर फहराते अक्षत तुम !
माना, अस्त्र - शस्त्र दुश्मन के हैं तुमसे ज़्यादा भारी,
माना, उसने की है तुमसे रण की ज़्यादा तैयारी !

किन्तु पाप के पथ पर कोई कब तक यों बढ़ सकता है ?
विजय-शिखर के गौरव-गिरि पर कैसे वह चढ़ सकता है ?
किन्तु तुम्हारा सत्य-न्याय पथ, वह आदर्श पुराना है,
जिसके आगे नतमस्तक युग, नतशिर सभी ज़माना है !

तन जर्जर, मन जर्जर, जीवन जर्जर भले तुम्हारा हो !
किन्तु, वीरवर, अमर राष्ट्र का उठता ऊपर नारा हो !
जीता जग में वही, कहीं जो मन में कभी न हारा हो,
युग - युग के अक्षय गौरव का मणिमय मुकुट तुम्हारा हो !

अभय राष्ट्र के, अजय राष्ट्र के प्रेम - नेम में अनुरागे !
धन्य, राष्ट्र के वीरव्रती तुम, जो बढ़ते रण में आगे !
हिन्द राष्ट्र के वीर सैनिको ! बढ़ो, बढ़ो युद्धस्थल पर,
दुनिया का इतिहास लिखेगा विजय तुम्हारी भूतल पर !

●

सावधान ! ओ देशवासियो !

सावधान, ओ देशवासियो, अभी न युद्ध - विराम है !
युद्ध बन्द है नहीं, युद्ध का यह केवल विश्राम है !

पता नहीं हो जाय युद्ध प्रारम्भ कहाँ किस कोने से,
विजय तुम्हारी कहीं पराजय बन न जाय फिर सोने से,
सावधान रहना है प्रतिक्षण तुमको पड़े बिछौने से;
दग़ाबाज़ दुश्मन है, धोखा देना उसका काम है !
सावधान, ओ देशवासियो, अभी न युद्ध विराम है !

यह समाप्त ही हुआ अभी रण का पहला अध्याय है,
अभी न जाने कितने रण का फिर करना स्वाध्याय है;
जब तक शत्रु नहीं बन जाता सीमा पर निरुपाय है,
जागरूक रहना, हे प्रहरी ! सब आराम हराम है !
सावधान, ओ देशवासियो, अभी न युद्ध विराम है !

तुम्हें आज ही नहीं, हमेशा ही रहना तैयार है,
मातृभूमि का करना तुमको नया - नया श्रृंगार है,
कोटि - कोटि हाथों में देना नये शस्त्र की धार है;
आज एक ही काम देश में, नहीं दूसरा काम है !
सावधान, ओ देशवासियो, अभी न युद्ध विराम है !

सावधान, भारत ! चीनी को सेना - बल का गर्व है,
सावधान, एशिया ! निगलना तुझे चाहता सर्प है,
सावधान, संसार ! न जब तक दुर्मद का मद खर्व है,
युद्ध न होगा बन्द, युद्ध ही जब उसका पैग़ाम है !
सावधान, ओ देशवासियो, अभी न युद्ध विराम है !

नयी फ़सलें

जवानों ने विजय - श्री से मुकुट माँ का सँवारा हैं.
किसानो, अन्न - धन से अब तुम्हें अंचल सजाना है !
हमारी अन्नपूर्णा माँ न माँगे अन्न की भिक्षा,
करोड़ों हाथ से माँ का नया सम्बल सजाना है !

चुनौती शत्रु की स्वीकार जैसे की जवानों ने,
किसानो, यह चुनौती भी तुम्हें स्वीकार करना है;
कि लेकर अन्न औरों का नहीं है दासता लेनी,
युगों की दासता का अब तुम्हें संहार करना है;
किसानो, हों तुम्हारे भी क़दम पीछे नहीं रण में,
जवानों के क़दम पर ही क़दम तुमको मिलाना है !

तुम्हारी गंग - यमुना है, तुम्हारी कृष्ण - कावेरी;
तुम्हारा देश वह प्यारा, जहाँ थी अन्न की ढेरी;
कहाँ संसार में ऐसी धरा जो उर्वरा इतनी,
ललचतीं शत्रु की आँखें कि यह हो सम्पदा मेरी !
जवानों ने उबलते रक्त की दी खाद है जिसमें,
किसानो, अब वहीं तुमको नयी फ़सलें उगाना है !

नयी फ़सलें तुम्हारी जब यहाँ पर लहलहायेंगी,
नयी फ़सलें तुम्हारी जब यहाँ पर रंग लायेंगी;
लड़ेगा कौन ऐसा सूरमा इन रक्त - पुत्रों से,
तुम्हारा अन्न खाकर जब कि ये बाँहें मिलायेंगी।
जवानों ने सँवारा आज का दिन ताज पहनाकर,
कदच धन - धान्य का पहना तुम्हें दुर्जय बनाना है !

हज़ारों बैल - हल लेकर जहाँ तुम खेत जाओगे,
हलों की हलचलों से माँ धरित्री को जगाओगे;
उठेगी अन्नपूर्णा माँ लिए धन-धान्य वह इतना,
भरेगा घर तुम्हारा ही नहीं, बाहर लुटाओगे;
जवानों ने जगायी देश की सोयी विजय - लक्ष्मी,
किसानो, भाग्य - लक्ष्मी को तुम्हें उठकर जगाना है !

न बनकर कर्ण हमको कौरवों का अन्न खाना है,
न बनकर कर्ण हमको कौरवों का साथ देना है,
कि जिसने अन्न खाकर अन्न का ही ऋण चुकाने को
न माँ का प्रेम जाना है, न माँ का क्षेम जाना है;
भले भूखे रहें, निश्शस्त्र हों, पर न्याय की ख़ातिर
हमें तो पाण्डपुत्रों के विजय - रथ को बढ़ाना है !

भले भूखे रहेंगे हम, नहीं हथियार माँगेंगे,
भले भूखे रहेंगे हम, नहीं उपहार माँगेंगे;
किया है देश ने संकल्प जो संसार के आगे,
समर की बात है तो हम समर - त्यौहार मागेंगे;
अभी तो कुछ नहीं हमने किया अभ्यास था रण का,
अभी जी खोलकर के जंग में जौहर दिखाना है !

नहीं हम चन्द टुकड़ों के लिए सम्मान बेचेंगे,
नहीं हम चन्द टुकड़ों के लिए विश्वास बेचेंगे;
नहीं हम चन्द टुकड़ों के लिए ईमान बेचेंगे,
नहीं हम चन्द टुकड़ों के लिए इतिहास बेचेंगे !
किया संकल्प जो हमने, नहीं संकल्प बेचेंगे !
किसानो, राष्ट्र का संकल्प यह तुमको निभाना है !

न तिल भर भूमि औरों की कभी चाही, न चाहेंगे,
कि तिल भर भूमि अपनी भी कभी जाने नहीं देंगे;
सहस्रों वर्ष क्या, लाखों लड़े कोई न क्यों आकर,
किसी भी शत्रु को सीमान्त पर आने नहीं देंगे!
नहीं भारत रहा यह, अब महाभारत हमारा है!
जहाँ नव कृष्ण अर्जुन ने समर सन्धान ठाना है!

जवानों ने विजय-श्री से मुकुट माँ का सँवारा है,
किसानो, अन्न-धन से अब तुम्हें अंचल सजाना है!

●

खंड ४ : अभिवादन

गांधी दर्शन

गान्धी की प्रतिमा खड़ी हृदय में वह विशाल!
जिसके पद छूती धरा, चूमता गगन भाल।
जिसकी बाँहों में मानवता पा अभय दान।
है भूल गयी हिंसा, बर्बरता, रक्तपान।

जिसके मस्तक पर चमक रहा है सत्य-सूर्य।
जिसकी आगमनी बजा रहा है सत्य-तूर्य।
मलयानिल-सा लहराता जिसका करुणांचल।
जिसकी स्वर लहरी में है पावन गंगाजल!

गान्धी मिट्टी का नहीं, न पत्थर का तन है।
गान्धी अशरीरी है, दृढ़ संकल्पी मन है।
गान्धी विचार है, नव जीवन का दर्शन है।
गान्धी निर्बल का बल है, निर्धन का धन है।

गान्धी है अविरत कर्म, धर्म का संस्थापन!
गान्धी जीवन का मर्म, दलित का उत्थापन!
गान्धी बल है, बलि है, बलिपन्थी का जीवन!
गान्धी भव में नव मानवता का सुखद सृजन!

संकल्प

[एक सच्ची घटना के आधार पर लिखित जीवन की झाँकी]

एक बार खो गये बापू के चप्पल,
चलने लगे इसलिए रात दिन पैदल;
वर्धा की राह में तो सभी कुछ मिलते,
कंकड़ भी, काँटे भी,/तलुवे थे छिलते !
नित्य रात कस्तूर बा घृत ला,/गरम कर तलुओं में लगातीं,
चोट सेंक चरण तल नरम थीं बनातीं।

बापू उठे आज प्रात,/देख-देख निज चरण अरुण वरण,
कोमल ज्यों नवनीत,/स्वस्थ स्फीत;
समझ गये, सभी बात।

यह थी और कुछ नहीं,/कस्तूर बा की करामात!
बापू नहीं कोमल ही./वे तो रहे हैं कठोर,
प्रण के धनी,
प्राण भले चले जायें, व्रत का मिल जाय छोर।

मिला नया पुरस्कार,
"कस्तूर बा ! तुम करतीं नहीं उपचार,
यह है अहिंसा नहीं,/प्रण की यह हिंसा है!
चप्पल थे खो गये मेरी ही भूल से,
लड़ूँगा मैं रोज़ काँटों से, बबूल से;
बदलूँ नित्य पदत्राण,/इतना नहीं धनवान
प्रण पर रहता है सदा, हाँ, मुझे अभिमान !"

मालिश हो गयी बन्द !/बा थीं मौन, निरानन्द !!
बापू नित्य पैदल ही चलते,
छाले भी पड़ते, फफोले भी पड़ते;
किन्तु बापू कहाँ अपने व्रत से विचलते ?

यह था वह संकल्प, जो चलता है युग-कल्प-कल्प;
साहस का देख अथ, देता है हिमालय पथ,
सिन्धु बना बिन्दु/झुक जाता पदतल में,
श्रद्धा से पल में !

नोआखाली में गान्धी

यहाँ वाव हैं, वहाँ घाव हैं, कहाँ न पीड़ा प्राणों में ?
भीष्म बना बंगाल पड़ा है विषम विष बुझे बाणों में !
अब तक दीख रहा है भीगा शोणित से माँ का आँचल;
तू निर्भीक बढ़ा जाता है, अपने प्रण में अडिग, अचल !

किसमें इतनी शक्ति प्रबल, जो तेरी गति को रोक सके ?
किसमें इतनी शक्ति सबल, जो तेरी मति को टोक सके ?
किसमें इतना त्याग रहा, जो यों प्राणों पर खेल सके ?
किसमें इतनी आग, आग को यों बढ़कर जो झेल सके ?

तेरा अमृत प्रभाव, घाव भर गये जहाँ भी तू धाया;
तेरा अमृत प्रभाव. भाव भर गये जहाँ भी तू आया।
जय हो तेरी मातृभक्ति की, तेरे सत्य, अहिंसा की,
जय हो तेरी, और पराजय हो भय की, प्रतिहिंसा की !

जय हो तेरी, और विजय हो अभयदान की यात्रा की;
जय हो तेरी, हे पदयात्री ! इस संजीवन मात्रा की !
रक्त - दान देकर अपना तू चला बुझाने रक्त - तृषा;
हे तापस, बस कर, न और तप, तेरा तप होगा न मृषा !

तू न जला अपना तन तिल-तिल धधक रहे अंगारों में,
मिट जायेंगे कोटि - कोटि हम तेरे तनिक इशारों में।
सदा मृत्यु की वेदी पर ही जीवन - कमल खिला करता !
शीश काटकर जो रख देता उसको शीश मिला करता !

बावन अवतार

आया भूमि-दान का नेता ! आया ग्राम-दान का नेता !

वही मन्द मुस्कान मधुर है, जिससे झरता अमृत सुर है;
भिक्षाटन को चले बुद्ध ज्यों, दर्शन को जनता आतुर है;
आया क्षमा-दान का नेता। आया सतयुग, द्वापर, त्रेता।

उगा वही प्राची में रवि है, जिसकी पहचानी-सी छवि है;
प्राणों में नव ज्योति जग रही; तम-भ्रम की चढ़ती सी हवि है !
आया नव विहान का नेता ! आया सतयुग, द्वापर, त्रेता !

बही वही हलचल ले आँधी, जैसे फिर उतरा हो गान्धी;
चला साधना पूरी करने, उसकी अभी साधना आधी !
आया समाधान का नेता ! आया भूमि-दान का नेता !

पाप-ताप सब क्षार हो गया, फिर पावन संसार हो गया;
बलि से भूमि-दान पाने को ज्यों वामन-अवतार हो गया !
आया अभय-दान का नेता ! आया भूमि-दान का नेता !

अशोक के प्रति

शस्त्र विसर्जन किया आज तुमने गैरिक परिधान धरा,
देख वीर-वैराग्य, कलपती वीर-भोग्या वसुन्धरा !
क्रूर आततायी आक्रामक जब आतंक मचायेंगे।
वज्रयान या महीयान तब कैसे राष्ट्र बचायेंगे ?

तुमने यह क्या किया, शस्त्र को अपने कर से छोड़ दिया ?
चक्रवर्ति सम्राट् ! प्रगति की धारा का रुख मोड़ दिया ?
राजदण्ड था जिन हाथों में, भिक्षुपात्र उनमें मेला;
विजय जहाँ नर्तन करती थी, वहीं पराजय का खेला !

धर्मचक्र का सतत प्रवर्तन, यह तो जैसे ले डूबा;
फिर चंगेज़ विजय का मन में लगा बाँधने मनसूबा !
है साक्षी इतिहास, आक्रमण हुए देश पर मनमाने;
कौन रहा, जो आगे बढ़कर ले लोहा सीना ताने ?

शस्त्र न उठ पाया हाथों में, शस्त्रों का अभ्यास नहीं;
क्या तरुणाई में तुमने ही दिया हमें संन्यास नहीं ?
हे कलिंग-विजयी ! यह कैसा दया-धर्म-पथ सुझा दिया ?
आज तुम्हारे विक्रम-पौरुष का, लगता है, बुझा दिया !

क्षमा, अहिंसा, भिक्षु-पात्र लो, और वसन गैरिक अपने !
अपने तक ही सीमित कर लो नव मानवता के सपने !
आज तुम्हारे विजयस्तम्भ ये निबल पराजय-स्तम्भ बने !
दया-धर्म-रक्षक न बन सके, केवल मन के दम्भ बने !

इतने विजित हुए हम सब ही, युग-युग तक बन दास रहे;
शस्त्र-विसर्जन करके ही हम महामृत्यु के ग्रास रहे।
फिर अशोक का नया जन्म होगा उन्मद तरुणाई में,
जिसके आगे टिका न कोई बंक - भ्रकुटि परछाईं में।

तक्षशिला, नालन्दा अब फिर कभी न जलने पायेंगे;
चले भस्म करने जो हमको, स्वयं भस्म हो जायेंगे!
अब धर्मेन्द्र, संघमित्रा, संदेश न लेकर जायेंगे,
शोणित के प्यासों की अब शोणित से प्यास बुझायेंगे!

पेशवा शिवा

आसुरी शक्ति थी किये देश को पदाक्रान्त,
भयकातर जनता व्यथित, त्रसित, जीवन अशान्त!
जब तुम आये, मिट गया युगों का अन्धकार,
आलोक खिला, ले कोटि सूर्य का कर - प्रसार।

तुम आये, जैसे स्वयं शक्ति हो मूर्तिवन्त,
नव रक्ताभा से अरुण हो गये दिग् - दिगन्त!
मिल गयी पंगु को गति, मूकों को सिंहनाद,
निर्बल को शक्ति अजस्र; शक्ति को जय - निनाद!

पाषाणों को मिल गये प्राण, उठ अचल चले!
तुम जिधर चले, भूडोल, प्रलय उठ मचल चले।
हे राष्ट्र - चेतना रथ के पूर्वज सूत्रधार,
मृतहत जनता के अमृत, अभय के संस्कार!

यदि मिले अग्रणी तुम सा, अबिचल संकल्पी,
लें जन्म देश में निर्माता, वे दृढ़ शिल्पी!
यह खण्ड - खण्ड भूखण्ड सिमटकर दुर्निवार
हो एक सूत्र में बद्ध; रुद्ध खुल जाय द्वार!

जय शिवा भवानी के उद्घोषक, सेनानी!
निर्बल दलितों के पोषक, माँ के अभिमानी!
है नाम मात्र तेरा वीरों का बीजमन्त्र,
जिससे आक्रान्ता के तिल-तिल कर ढहें तन्त्र!

जो सम्प्रदाय या जाति- वाद के घेरे में
हैं बाँध रहे तुझको, वे स्वयं अँधेरे में!
यदि अन्धे को है नहीं सूझ पड़ता दिनकर,
तो दिनकर का क्या दोष, स्वयं अन्धा है नर!

मेरी जननी के जन जन में फिर एक बार
जागो, मेरे तेजस ओजस, फिर दुर्निवार!
तेरे अखण्ड भारत का फिर हो स्वप्न पूर्ण!
दम्भी, कायर क्लीवों का हो अभियान चूर्ण!

है पदाक्रान्त अब भी अपनी अवनी पवित्र,
आक्रान्ता रह - रह खींच रहा है विजय - चित्र!
दे शिवा - भवानी को मेरे शत - शत कर में!
पेशवा, पेशवा! तव जय गूँजे अम्बर में!

माता के आराधक, साधक! हे राष्ट्रव्रती!
तू सेनापति बन, हम सेनानी वीरव्रती!
मेरे कण्ठों में आ जब तू हुंकार भरे!
तब कौन शक्ति, जननी को जो पददलित करे!

शांतिदूत शास्त्री

वह अशोक का पुत्र, समर का विजयी योधा,
शान्ति-चक्र का धर्म-प्रवर्तक, शान्ति - पुरोधा!
उठा धरा से, शिखर पहुँच आकाश बन गया!
धरा देखती रही, पुत्र इतिहास बन गया।

शान्ति खोजने गया, शांति की गोद सो गया!
मरते - मरते विश्वशान्ति के बीज बो गया!
कोई कुछ भी कहे, भाव जब क्रुद्ध न होगा!
सार्थक यह बलिदान तभी, जब युद्ध न होगा!

सीमान्त गांधी के प्रति

रोक न पाया तेरे मन को कोई इन्द्रजाल, बन्धन,
तुझे खींच लाया भारत में फिर भारत का गठबन्धन!
आगत! स्वागत करूँ किस तरह, आज सँवारूँ अभिनन्दन?
ओ भारत के अतिथि! पधारो, बिछे कोटि हैं हृदयासन!

कोटि - कोटि जनता आतुर करने को तेरी अगवानी,
कोटि - कोटि जनता आतुर सुनने को तेरी ही वाणी;
तेरा मन भारत में, तू तो युग - युग से भारतवासी!
क्या दूँ तुझको भेंट, भेंट करनेवाले सब संन्यासी!

जिस अखण्ड भारत का तूने निशि दिन स्वप्न सँवारा था,
मिला क़दम से क़दम, साथ चलने में कभी न हारा था;
वे आज़ादी के मतवाले सिंहासन पा फूल गये,
विधि-विधान! दुर्भाग्य, नियति का व्यंग्य, तुझे ही भूल गये!

उसका ही अभिशाप, पाप, यह देश अहर्निश झेल रहा,
रक्तपात ! हिंसा, बर्बरता, महानाश है खेल रहा;
गान्धी तो मर गया उसी दिन जब यह देश विभक्त हुआ;
गान्धी की आत्मा से पूछो कितना दुखी अशक्त हुआ !

फिर भी जीवित रहा द्वेष हिंसा की आग बुझाने को,
लपटों में जल - जलकर, जी कर, टूटा स्वप्न सजाने को;
तू भी उस जलती ज्वाला में घर - घर में है घूम रहा,
आहत मन की राहत बन चाहत की गलियाँ चूम रहा !

तेरी वाणी में, लगता, मेरा गान्धी फिर बोल रहा;
तेरे चरणों में, लगता, मेरा गान्धी फिर डोल रहा;
तेरी आँखों से, लगता, मेरा गान्धी फिर हेर रहा;
तेरे अनशन से, लगता, मेरा गान्धी युग फेर रहा !

गान्धी नहीं, किन्तु गान्धी- भक्तों के प्राणार्पण ले जा !
गान्धी की प्रतिमूर्ति ! आज गान्धी का स्वप्न-सृजन दे जा !

'निराला' के प्रति

सूर्यकान्त हो गया अस्त अब,/गया निराला, मौन, त्रस्त सब;
दिन में ही छा गया अँधेरा;
यह आयी वह रात कि/जिसका नहीं सवेरा !

यह किसने आघात दिया है ?
क्या हमने ही नहीं विषम संघात किया है ?
बोलो, क्या ये हाथ हमारे नहीं कलंकित ?
बोलो, क्या ये प्राण, हमारे नहीं प्रकम्पिक ?

हमने उसे उपेक्षा से क्यों ऐसा हेरा ?
उसने सदा-सर्वदा को हमसे मुँह फेरा !
हमने ही क्या उसे नहीं बलिदान किया है ?
जिसने जीवनभर जीवन का दान दिया है ।
क्या अपराधी नहीं आज हम/उसकी बलि के ?

प्राण दहक उठते हैं अपने,/प्राण बहक उठते हैं अपने;
क्या अधिकार हमें छूने का/उसकी पावन यशःकाय को ?
लगता है, हम हत्यारे हैं महाप्राण के
लगता है, हम अपराधी/असमय प्रयाण के !

वह था स्नेह प्यार का भूखा,
बड़े प्रेम से खाया उसने रूखा-सूखा,
किन्तु, उसे भी प्यार प्राण का दे न सके हम;
कुछ दिन जीता और गर्व से,/ऐसा भी वर ले न सके हम

कौन गया अब ?—/आज रिक्तता से पूछो सब !
गया निराला,/समा गया प्राणों-प्राणों में,
जैसे भीष्म पितामह सोये हों बाणों में ।
सूर्य अस्त हो गया,/सूर्य में समा मिल गया,
आँखों से हो दूर—/सूर्य बन पुनः खिल गया !

राष्ट्रदेवता

[राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद के प्रति]

तुम विदेह की परम्परा के/राज्य-नियामक,
जहाँ भोग में योग रहा/जीवनभर व्यापक;
विमल रहे तुम नित्य नील/नीरधि में ऐसे,
शुभ्र कमल हो, पुण्डरीक/पावनतम जैसे,
जिसके पग भू पर,/दृग नभ पर,
सहस्रांशु की स्वर्ण ज्योति/जो अन्तर में भर,
बिखेरता हो केसर, कुंकुम,/मधु निशि-वासर !

राष्ट्रदेवता !
तुम्हें देखकर साधु-सन्त की आ जाती थी याद,
जिनके मुख पर सहज सरलता,/स्नेह-तरलता
खेला करती मन से घुल-मिल दिन-रात ।

साधु भरत से तुम भारत के बनकर प्रहरी,
जन-जन के जीवन की चिन्ता लेकर गहरी,
रहे देखते राह निरन्तर,/कब आयेंगे राम,
जिन्हें समर्पित कर सिंहासन मन पाये विश्राम ।

कहाँ गये तुम ?/और कहाँ जा सकते हो तुम ?
लगता है तुम आसपास हम सब को घेरे;
जितनी दूर हो गये हो, तुम उतने ही मेरे !
कहाँ साधना, कहाँ तपस्या का अब/रहा विधान ?
जो तुम-सा तप-तप चमके/निज तप से सूर्य समान !
तुम भारत की संस्कृति के/स्वर्णिम इतिहास अनन्य !
श्रद्धांजलि हो गयी/तुम्हारी स्मृति को छू धन्य !

खंड ५ : अक्षत-चन्दन

रजत-वर्ष

वर्ष - प्रहर ले आये हैं कैसी बेला रसवन्ती !
निशिदिन के पंखों पर चढ़कर आयी रजत जयन्ती !

आये पर्व अनेक, मुक्ति का दिन प्रति वर्ष मनाया,
किन्तु वर्ष यह एक, जायगा युग - युग तक दुहराया,
जिसने ब्याज समेत देश का जैसे कर्ज़ चुकाया,
झुके हुए माँ के मस्तक को ऊँचा आज उठाया।
युगों-युगों तक याद रहेगी, युग की जयजयवन्ती !
वर्ष - प्रहर ले आये हैं कैसी बेला रसवन्ती !

उदित हुआ स्वातन्त्र्य - सूर्य, पूरब के उदयाचल में,
जिसकी किरणों की नव आभा फूट रही जल-थल में,
देती यह संकेत, विजय मिलती निश्चित भूतल में,
जिसका दृढ़ संकल्प, मृत्यु को वश कर लेता पल में।
सत्यमेव जयते नाऽनृतम्, ऋचा बनी यशवन्ती !
युगों-युगों तक याद रहेगी, युग की जयजयवन्ती !

●

अक्षत-चन्दन

मेरे साथी देश! तुम्हारे शत अभिनन्दन!
आओ, आज लगा दूँ शिर पर अक्षत - चन्दन!

जय बँगला का स्वप्न आज साकार हुआ है,
धरती माता का सुन्दर शृंगार हुआ है;
नये राष्ट्र का उदय, नया संसार हुआ है,
फिर स्वतन्त्रता का नूतन अवतार हुआ है!
यह दिन, यह क्षण भी कितना पावन, मनभावन!
मेरे साथी देश, तुम्हारे शत अभिनन्दन!

फिर नोआखाली में गान्धी डोल रहा है,
फिर नोआखाली में गान्धी बोल रहा है;
एक देश है, एक प्राण है देश हमारा,
कर सकता है, हमें न कोई हमसे न्यारा।
आज गले मिल रहे युगों से बिछुड़े जन-जन!
मेरे साथी देश! तुम्हारे शत अभिनन्दन!

जिन्ना का जन्नत का सपना चूर - चूर है,
दुनियाँ की आँखों से पर्दा हुआ दूर है;
मज़हब से ही कहीं राष्ट्र निर्माण हुआ है!
मज़हब से कब मानवता का त्राण हुआ है!
एक देश है वही जहाँ हैं घुले-मिले मन
मेरे साथी देश! तुम्हारे शत अभिनन्दन!

आज हमारी और तुम्हारी जीत यही है,
दानवता से मानवता भयभीत नहीं है;
स्वतन्त्रता है जन्म - सिद्ध अधिकार हमारा,
कण्ठ - कण्ठ में गूँज रहा है ऊँचा नारा।
नव्य चेतना से लगता आलोकित कण - कण !
मेरे साथी देश ! तुम्हारे शत अभिनन्दन !

जय बँगला ! जय हिन्द ! नाद से गगन गरजता;
सावधान ! दिग्गज, दिगन्त ! है काल बरजता;
नहीं एशिया खण्ड उठेगा, बन प्रलयंकर—
रण - ताण्डव में नाच उठेंगे फिर शिवशंकर !
जाग्रत् अरुण प्रभात, मुक्त विहगों के कूजन !
मेरे साथो देश ! तुम्हारे शत अभिनन्दन !

गूँज रही नजरुल - रवीन्द्र की मृदु स्वर - लहरी,
पद्मा की लहरों पर गमकें उठतीं गहरी;
मुक्तिवाहिनी की दिशि-दिशि में उड़ी पताका,
नये रक्त का चला आज से विजयी साका !
आओ कण्ठ लगा लें, फैलायें भुज - बन्धन !
मेरे साथी देश ! तुम्हारे शत अभिनन्दन !

युगबोध अभिशप्त

भारत कहाँ है, बन्धु ?
आज मैं कराऊँगा भारत-का दर्शन,
जहाँ टूट जाते देशकाल के बन्धन,
जिसका विराट् रूप/हिमगिरि से ऊँचा है,
जिसके उदर में निहित/भव समूचा है।

भारत यह नहीं मात्र, जिसे आज देख रहे,
मिट्टी की सीमा में जिसके उल्लेख रहे,
उत्तर में जिसे हिमगिरि ने बाँधा है,
दक्षिण में जिसे सागर ने साधा है;
यह मात्र उसका पार्थिव तन,
इसमें भी कितना है आकर्षण !
गंगा और यमुना जिसका तन-मन/सँवारती,
कृष्णा और कावेरी/आरती उतारतीं,
जिसका गुण गाते नहीं थकती है भारती।

तुमने तो पढ़ा ही होगा,/गीताकार रहता कहाँ ?
"मद् भक्ता यत्र गायन्ति/तत्र तिष्ठामि नारद !"
तो सुनो बन्धु—/भारत वहाँ है, जहाँ भारत का इतिहास,
भारत का विश्वास!
भारत का धर्म-कर्म,/भारत का सत्य-मर्म--
चलता, जहाँ बोलता है,
जीवन की जटिलतम ग्रन्थियाँ खोलता है !
"सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः।"--
जिसका है सामगान,
वेदों-उपनिषदों की ऋचाएँ जहाँ गूँजतीं,
प्राणों में स्पन्दन बन अनुदित अनगूँजतीं।

कैसी विडम्बना, बन्धु !/कैसी यह छलना है ?
भारत के बाहर आज/भारत का पलना है !
भारत का दर्शन और भारत की आस्था,
दे रही संसृति को संस्कृति, व्यवस्था !
––और हम अपने ही घर में परदेसी हैं,
धर्महीन, आस्थाहीन. भटके विदेशी हैं।
इससे भी बड़ा व्यंग्य/होगा क्या नियति का ?
मनुज हम नहीं रहे/लगता सब मवेशी हैं।

भौतिकता के डण्डे से हाँके सभी जा रहे,
केवल अर्थतृष्णा में भागे सभी जा रहे
कहीं भी टिकाव नहीं,/कहीं टकराव नहीं,
केवल भटकाव मात्र मानव की यात्रा !

हम भी वन गये हैं आज/प्राणहीन लौह-यन्त्र,
चलते हैं सदा जो मालिक की मर्ज़ी से।
कुछ भी हमें मिलता नहीं,/कहीं कोरी अर्ज़ी से।
करते हैं घेराव, करते हैं हड़ताल,
घर में ही लड़ते हैं हम,/ठोंकते ही रहते ताल।

रक्तपात, हिंसा आज रँग रहा/––क्षण-क्षण है;
नगर बने जंगल, यह कैसा जीवन है !
इसका भी कारण कभी सोचा, बन्धु ! क्या है !
आत्मबोध भूल––/युगबोध अभिशप्त हम !
मात्र अर्थबोध,/अर्थ-तृषा-सन्तप्त हम !!
जीवन नहीं धन है, जीवन आत्मदर्शन है !

तो आओ, बन्धु ! एक बार/अपने को जानें हम;
अपनी अस्मिता, अपनी संस्कृति/पहचानें हम !
एक-एक बिन्दु-बिन्दु, कड़ी-कड़ी/जोड़ें हम;
श्रुतियों, स्मृतियों से अमृत/निचोड़ें हम,
प्रेयस ही नहीं, श्रेयस का ले विजय केतु
चलो पार करें, बन्धु, दुस्तर भवसिन्धु-सेतु !

यह कैसा जनतन्त्र ?

अधर-अधर उल्लास थिरकता ! हृदय-हृदय संत्रास रे !
यह कैसा जनतंत्र ? जहाँ पर घोर विरोधाभास रे !
दूर - दूर भीतर से रहते, बाहर - बाहर पास रे !
ओ भारत के भाग्यविधाता, बदलो यह इतिहास रे !

जन-जन को दे सके न अब तक नन्हा एक निवास रे !
झोंपड़ियाँ रो रहीं, आज भी हँसते हैं रनिवास रे !
वह कैसा समाज, जिसमें है दीनों का उपहास रे ?
जो मिहनत करते, पाते भर- पेट न मुँह का ग्रास रे !
निर्वसना बहुएँ अब भी छीला करती हैं घास रे !
ओ भारत के भाग्यविधाता, बदलो यह इतिहास रे !

कहाँ गरीबी मिटी ? अमीरी भी बन गयी गरीब रे !
है गरीब में और गरीबी, जागा कहाँ नसीब रे।
यह कैसी योजना तुम्हारी, यह कैसी तरतीब रे !
देख न पाये घाव हमारे आ कर कभी करीब रे !
अब भी जनता खड़ी द्वार पर, चेहरा लिये उदास रे !
ओ भारत के भाग्यविधाता, बदलो यह इतिहास रे !

महँगाई बढ़ रही रात-दिन द्रुपद-सुता के चीर-सी;
बेकारी बढ़ रही चीरती अन्तर्मन को तीर-सी;
जायें कहाँ, रहें, क्या खायें, कसक रही है पीर-सी;
क्या मुहताज बने रहना ही अपनी अमिट लकीर-सी?
यदि उत्कर्ष यही है अपना, तो क्या होगा ह्रास रे?
ओ भारत के भाग्यविधाता, बदलो यह इतिहास रे!

कण्ठ-कण्ठ में घुटन, रहेंगे कब तक सब चुपचाप रे?
अन्तर्ज्वालामुखी धधकता पा भीषण संताप रे;
हो विस्फोट कहीं न, प्राण पिघले बन करके भाप रे;
मूक व्यथा बन जाया करती कभी-कभी अभिशाप रे!
भूधर भी ढह जाते हैं पा करके गरम उसास रे!
ओ भारत के भाग्यविधाता, बदलो यह इतिहास रे!

जो पग चूम रहे हैं, उन पर ही लुटते वरदान रे!
पथदर्शक पथ खोज रहे हैं, सहते हैं अपमान रे!
स्वाभिमान जिनमें, माँगेंगे कभी न भिक्षा-दान रे!
धधक उठेंगे स्वयं एक दिन बन जन-क्रांति महान रे!
क्या आनेवाली आँधी का तुम्हें न कुछ आभास रे!
ओ भारत के भाग्यविधाता, बदलो यह इतिहास रे!

द्वार-द्वार पर द्वारपाल हैं, द्वार-द्वार पर हैं प्रहरी;
प्रहरी पर प्रहरी बैठे हैं, देहरी के ऊपर देहरी;
कैसे पहुँचें पास तुम्हारे, पड़ी साँकलें हैं गहरी?
किसे सुनायें व्यथा, दिशाएँ राजभवन की हैं बहरी?
कौन सुने फ़रियाद, याद आते जिनको मधुमास रे!
ओ भारत के भाग्यविधाता, बदलो यह इतिहास रे!

हंस कर रहे आज वंदना धूर्त दिवांध उलूक की;
सरस्वती कर रही अर्चना लक्ष्मीपुत्र अचूक की;
है समस्त साहित्य निछावर राजनीति के पाँव में;
सत्य बन गया है शरणार्थी इन झूठों के गाँव में?
सिंह नहीं आने पाते हैं सिंहासन के पास रे!
ओ भारत के भाग्यविधाता, बदलो यह इतिहास रे!

भारत का सौभाग्य! मिली जननी को बेटी मरदानी,
जिसने किसी चुनौती में है जानी नहीं हार खानी;
अवसर बारम्बार न आता, ओ अवसर के सम्मानी!
घर-घर मंगलदीप जल उठें, करें तुम्हारी अगवानी!
भर दो जन-जन के मन-मन में आज नया विश्वास रे!
ओ भारत के भाग्यविधाता, बदलो यह इतिहास रे!

संजीवनी

[खण्ड काव्य]

भूमिका

राष्ट्रकवि पंडित सोहनलाल द्विवेदी हिन्दी के उन प्रमुख कवियों में हैं, जिनकी काव्य-साधना द्विवेदी-युगीन परिवेश में गांधीवादी आदर्शों से प्रेरित होकर आरंभ हुई थी, और आज तक वह भारतीय संस्कृति के उदात्त जीवन-मूल्यों का संयोजन और संवर्धन करती हुई सतत गतिमान है। इनकी कविता का मूल स्वर राष्ट्रीय चेतना और देश-प्रेम है।

स्वतन्त्रता आन्दोलन के साथ जुड़ी हुई अनेक उद्‌बोधनात्मक लम्बी रचनाएँ भी उन्होंने लिखीं और कुछ पद्‌बद्ध रूपक शैली की रचनाएँ तथा कई खंड-काव्य भी उन्होंने लिखे। इनमें 'वासवदत्ता', 'कुणाल' आदि रचनाएँ विशेष रूप से प्रसिद्ध हुईं। उनकी रचनाओं में स्वतन्त्रता संग्राम की चेतना का आदर्श अनेक रूपों में व्यक्त हुआ है। उनके काव्य में किसानों और श्रमजीवियों के साथ सहानुभूति, युद्धों के लोक-विध्वंसकारी प्रभाव की मीमांसा, राज्य-व्यवस्था में प्रजा का अधिकार, अहिंसक सत्याग्रह की शक्ति, विश्वबंधुत्व और मानवतावाद के आदर्श आदि अनेक महनीय मानव-मूल्यों की चैतन्य अनुभूति प्राप्त होती है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की ही तरह द्विवेदी जी में भी कलानुसरण की विशिष्ट क्षमता है। इसका अर्थ यह है कि उनमें देश और समाज की बदलती हुई भावनाओं एवं विकासमान काव्य-प्रणालियों को ग्रहण कर उनमें सफलतापूर्वक रचना करने की शक्ति है। इस दृष्टि से उनको राष्ट्रकवि कहना सर्वथा उचित ही है।

द्विवेदी युग के बाद छायावादी काव्य का स्वर्ण युग आया। इस काव्य की दार्शनिक चिंतना, सांस्कृतिक नव्योत्थान की भावना और भाषा के लाक्षणिक एवं व्यंजनात्मक शक्ति के अपूर्व उन्मेष ने काव्य-कला को उच्चतम प्रकर्ष पर पहुँचा दिया।

द्विवेदी जी की कला जिस भाव, लक्ष्य एवं मूल हेतु से प्रेरित रही है, उसके निदर्शन उनकी 'वासवदत्ता', 'कुणाल' आदि रचनाओं में मिलते हैं। 'संजीवनी' में द्विवेदी जी की काव्य-कला का अधिक विकसित स्वरूप प्रकाश में आया है। श्री अरविंद के अनुसार, "किसी साहित्य की महानता सर्वप्रथम उसकी विषयवस्तु के मूल्य एवं महत्त्व और उसके विचार की उपयोगिता तथा आकारों के सौन्दर्य में निहित रहती है...।" गोस्वामी तुलसीदास भी

यह मानते हैं कि लोकमंगलकारिणी कृति वही हो सकती है जिसकी वस्तु भली हो—"भनिति भदेस वस्तु भलि बरनी, रामकथा जग मंगल करनी।" द्विवेदी जी भी इसी पथ के पथिक हैं, वे लोकमंगलकारिणी काव्य-रचना में निष्ठा रखनेवाले कवि हैं। 'संजीवनी' काव्य में कथानक का चयन ही उनकी धर्म्य नैतिक मानसिकता का प्रमाण है। अतीत से पुराणों की परंपरा के द्वारा जो महिमामय आख्यान हम तक आये हैं, उनमें कच-देवयानी की गाथा भारत के आदर्शनिष्ठ मानस के इतिहास की एक महत्तम उपलब्धि है। कवि-प्रवर द्विवेदी जी ने इस गौरवमयी गाथा को बड़े मनोयोगपूर्वक' संजीवनी' में काव्यबद्ध किया है और चरित्र-सम्बन्धी उच्चतम और कोमलतम मानवीय आदर्शों को मूर्तरूप प्रदान किया है। द्विवेदी जी की लेखनी के कौशल ने इस पवित्र गाथा को आदर्श के रंगों की अनेक आभाओं से मंडित कर प्रस्तुत किया है। सामान्यतः शुष्क समझी जानेवाली नैतिकता ने इस काव्य में बड़ा रसमय रूप प्राप्त किया है। भारत के नैतिक मानस को काव्य के रूप में ढालने का द्विवेदी जी का यह नव्य उपक्रम अभिनंदनीय है।

इस काव्य की कथावस्तु जितनी गौरवशालिनी है, उसका विधान और विन्यास भी उतना ही कलात्मक और उदात्त है। इस काव्य के विभिन्न सर्गों का नामकरण उनमें वर्णित प्रमुख घटनाओं के आधार पर किया गया है। 'पुण्य प्रस्थान' सर्ग इस काव्य के मूल लक्ष्य और हेतु को बड़ी प्रभविष्णुता के साथ रूपायतित करता है—

साधना चली बनने को सिद्धि भुवन की,
प्रार्थना चली कल्याण लिए त्रिभुवन की।

प्रत्येक सर्ग में वेगमय, ओजस्वी, नमनीय एवं प्रवाहशील छंद का प्रयोग किया गया है, जिसमें महाकाव्योपयुक्त संगीत व्याप्त मिलता है। वर्णन-शैली में जो सरलता और स्पष्टता है, वह अभिव्यंजना की दृष्टि से समृद्ध और निरर्थक अलंकारों के भार से मुक्त है। निरंतर स्वर-सामंजस्य का निर्माण करनेवाली इस काव्य की रमणीयता आदि से अन्त तक सहृदय को अनुरंजित रखती है।

द्विवेदी जी ने बड़े सतर्कतापूर्ण कौशल से इस कथानक को देवासुर-संघर्ष का जीवंत रूप प्रदान किया है। इस संघर्ष के धरातल दो हैं—एक बाह्य और दूसरा आन्तरिक। यह द्विविध संघर्ष कच के चरित्र के विकास के माध्यम से बड़े सहज रूप में चित्रित किया गया है। कथावस्तु और चरित्र-चित्रण दोनों में उत्थान-पतन की कई मार्मिक परिस्थितियों की सृष्टि की गई है।

द्विवेदी जी की प्रतिभा का परिपाक विशेष रूप से प्रबंध काव्यकार के रूप में हुआ है। उन्होंने अपने प्रबंध-काव्यों में जीवन के किसी न किसी पूर्ण का प्रदर्शन बड़ी कुशलता के साथ किया है। इन प्रबंध-काव्यों के वस्तु-पक्ष में विचारों, संवेदनाओं और जीवन-दृष्टियों की अपेक्षित बहुलता, व्यापकता और गम्भीरता मिलती है। उनके सभी प्रबंध-काव्य राष्ट्रीय चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'संजीवनी' के विषय में निःसंदेह रूप से यह कहा जा सकता है कि उसमें काल-निरपेक्ष राष्ट्रीय चेतना की प्रतिनिधि कला का सम्यक् उन्मेष हुआ है। इस प्रबंध में प्रगीत, नाटकीयता आदि अनेक उपकरणों का समायोजन द्विवेदी जी ने कुशलता के साथ किया है।

यह काव्य जिस युग में प्रस्तुत किया जा रहा है, उसमें साहित्य पर यथार्थ का एकछत्र साम्राज्य है। मैंने आरम्भ में मार्क्सवादी यथार्थ, अर्थात् ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और अन्तश्चेतनावादी यथार्थवाद की चर्चा की है। मार्क्सवादी यथार्थवाद ने प्रगतिवाद को प्रेरणा दी और अन्तश्चेतनावादी यथार्थवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता आदि का नियामक बना। मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि पण्डित सोहनलाल द्विवेदी ने अपनी स्वस्थ अनाविल सामाजिक मंगल से प्रतिबद्ध दृष्टि से गांधीवादी जीवनदर्शन को अपने काव्य का प्रेरणा-स्रोत चुना। वस्तुतः मैं इसको भी उनकी उच्चतर यथार्थवादी दृष्टि का प्रमाण मानता हूँ। रावण जैसों के लिए जो आदर्श है, राम के पदांकों का अनुसरण करनेवालों के लिए वही यथार्थ है। इसलिए मेरा निश्चित मत है कि 'संजीवनी' आदर्शवादी यथार्थवाद की भूमिका पर रचा गया एक सफल और सशक्त काव्य है। इस कोटि की काव्य-रचना हिन्दी में उपेक्षित होती आ रही है। आशा है, 'संजीवनी' से इस धारा को बल मिलेगा और हिन्दी में आदर्शवादी यथार्थवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा हो सकेगी। इस धारा के उन्नायक के रूप में द्विवेदी जी का स्थान साहित्य के इतिहास में अमर रहेगा।

कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह

शुभाशंसा

राष्ट्रकवि पंडित सोहनलाल द्विवेदी जी की लेखनी की ताज़ी देन है—'संजीवनी'। यह कृति उन शाश्वत रचनाओं में है जो चिर-नवीन रहा करती हैं। कथावस्तु की दृष्टि से इस खण्ड-काव्य का संदर्भ पौराणिक है, किन्तु यह कितनी प्रासंगिक, समसामयिक एवं टटके संदर्भों से आपूरित है, इसे 'संजीवन' के रचना-संसार में कुछ क्षणों तक खोकर और जीकर ही जाना जा सकता है।

'संजीवनी' प्रतीक-काव्य के रूप में एक सफल प्रयोग है। 'कच' मानवीय संकल्प और आस्था को प्रतीकित करता है, तथा 'देवयानी' मानवोचित कोमल कामना को।

'संजीवनी' के रचना-संसार में कविता की लहरें कथा को प्रवाह प्रदान करती हुई एक विलक्षण सौन्दर्य-सृष्टि करती हैं, जिसके माध्यम से एक नया जीवन-दर्शन धीरे-धीरे सुस्पष्ट होता चला जाता है, और अन्त में संकेतों के कुहासे से अलग हटकर एक सुस्पष्टता के साथ कविता 'विराम' लेती है।

कच ब्रह्मचर्य संकल्प शक्ति का बल है,
कामना देवयानी का मन दुर्बल है।
जो त्याग प्रेय को श्रेय वरा करते हैं,
वे कच हैं, जो ध्रुव ध्येय धरा करते हैं।

वस्तुतः 'संजीवनी' का रचना-संसार न सिर्फ़ संकल्प और कामना के द्वंद्व को रेखांकित करता है, अपितु प्रेम के समक्ष श्रेय की श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए एक स्वस्थ एवं सार्थक जीवन-दर्शन के समाहार को भी प्रस्तुत करता है। इसके प्रश्न ताज़े हैं और इसका उत्तर है शक्ति।

सचमुच, राष्ट्रकवि की रससिद्ध लेखनी से निःसृत यह कृति स्वयमेव एक पूर्ण रचना है।

'हिन्दी-भवन' शंभुनाथ
१८-१२-८३

१. स्वर्ग

यह स्वर्ग लोक, अपवर्ग लोक,
यह दिवालोक, आलोक लोक,
है जहाँ नहीं दुख-व्यथा, शोक, आनंद मग्न जीवन निहाल।
होता अहरह जय विजयघोष,
भरता गौरव से सुयश-कोष,
सुख बाँट रहा है तृप्ति, तोष, गर्वोन्नत सबके उच्चभाल।

अंबर, भूतल, पाताल, अतल,
किसका प्रताप तप रहा प्रबल ?
त्रिभुवन में ऐसा कौन सबल ? कोई न कहीं जिसके समान ?
दिग्पाल खड़े हैं जोड़ हाथ,
हैं अनल, अनिल सब प्रणत-माथ,
यम, वरुण, कुबेर बने सनाथ, सुरपति सिंहासन दीप्तिमान !

गन्धर्व, यक्ष, देवतावृन्द
पढ़ते गरिमा के अमर छन्द,
सुरपति मुसकाते मन्द - मन्द, जगमग-जगमग मणि-रत्न-द्वार।
यमराज देखते नयन - दृष्टि,
संहार करें या करें सृष्टि,
किस पर करुणा की करें वृष्टि, अर्पित पद-तल पर हीर-हार।

किन्नरियाँ, अप्सरियाँ प्रमत्त,
बंकिम कटाक्ष-दृग, अधर रक्त,
छेड़ती राग - रागिनी मत्त, सुरपति महान, सुरपति महान।
घिर गई पलक में प्रलय घटा,
उल्लास - हास सारा सिमटा,
वासन्ती मादक दृष्य हटा, सबका न समय रहता समान।

असुरों का परम पराक्रम बल,
है रौंद रहा प्रतिपल सुरदल,
अब 'त्राहि-त्राहि' स्वर है संबल। नित देवों की हो रही हार।
इन्द्रासन के मणिदीप मंद,
पड़ते न सुनाई नृत्य, छन्द,
आनंद बन गया निरानंद, दुःस्वप्न सदृश था समाचार।

छाई चिन्ता, आशंका मन,
आ सकता है ऐसा भी क्षण,
लें असुर छीन सुर - सिंहासन; रुक गये सभी उत्सव-विधान।
सिंहासन का यह महामोह,
अबतक न मिटा है वन विमोह,
संघर्ष निरंतर, द्वेष - द्रोह, सुख-शान्ति कहाँ से मिले, त्राण ?

२; संघर्ष

कौन त्रिभुवन का बनेगा युद्धकर अधिराज,
असुर या सुर ? प्रतिस्पर्धा थी परस्पर आज।
इधर थे सुरगुरु बृहस्पति, उधर शुक्राचार्य।
सूत्रधार बने भयंकर, युद्ध था अनिवार्य।

देवताओं की पराजय हो रही थी नित्य;
क्षीण - बल - तप - तेज होते क्या कभी कृतकृत्य ?
कर रहे थे असुर सुरदल का विपुल संहार;
त्रास, नाश, विनाश था, सर्वत्र हाहाकार।

असुर करते थे सुरों पर घोर अत्याचार;
लगा कँपने विश्वमंडल, उठी प्रलयी ज्वार।

खुल गया जैसे त्रिलोकी का कुपित हो नेत्र;
भस्म होने लगा अगजग, सकल संसृति - क्षेत्र।

असुर मर - मर पुनः जी उठते, समर - सन्नद्ध;
ले नई ऊर्जा, नये तूणीर - शर, कटिबद्ध।
रुंड - मुंड - कबंध से भर गया जल - थल - व्योम;
समर - तांडव - कांड से निस्तब्ध दिनकर - सोम।

देख उस दिन देवकुल का आदि - अन्त - विनाश,
शोक से नीला पड़ा अब तक धवल आकाश।
वेदना जब तोड़ देती कभी सीमा - बिन्दु,
चेतना जगकर दिखाती मुक्ति का सुख - सिंधु।

है जहाँ मझदार, उसके सन्निकट ही कूल;
शूल उगते हैं जहाँ, उगते वहीं पर फूल।
खोजती थी अहर्निश दिशि- दिशि सुरों की दृष्टि,
कौन अनघ अनिंद्य अकलुष, बचा सकता सृष्टि ?

हुई नभ - वाणी, सुना सब ने लगाकर ध्यान,
'कच कवच बन देवताओं— का करेगा त्राण !
ऋषि - कुमार, स्वयं बृहस्पति के नये अवतार,
सिद्धकर संजीवनी तरणी करेंगे पार !'

गए सत्वर देवगण ऋषि- पुत्र के आवास,
देवगुरु का दिव्य आश्रम, उमड़ता उल्लास।
वेद शाखा सुमख का था चल रहा अध्याय,
न्याय - दर्शन - उपनिषद् में निरत ऋषि समुदाय।

प्रणति ने पाया सभी का अमित आशीर्वाद,
चल पड़ा सुर-असुर-कुल का तुमुल रण संवाद।
देवकुल के छिप सके पल भर न अन्तर्भाव,
ज्वार बन उमड़े प्रभावी प्रेरणा - प्रस्ताव—

"हे बृहस्पति - पुत्र, तुम ऋषि अंगिरा के पौत्र,
त्याग - तप के वंशधर, प्रज्ञा - प्रभा के गोत्र,
रक्त में जिसके प्रवाहित ब्रह्मकुल का तेज,
दुर्मदों के मद जहाँ बनते सिमट निस्तेज।

वेद्वाणी सूत्र - शाखा युगयुगों से प्राप्त,
उपनिषद् - दर्शन - ऋचायें धमनियों में व्याप्त।
तुम्हीं में शम - दम - नियम, संयम, जितेन्द्रिय वीर!
पाशुपति - शर सदृश सकते गहन तम तुम चीर!

तुम उठो तो उठे जग में नया देव - समाज,
स्फूर्ति, ऊर्जा संचरित हो देव - सत्ता आज।"
कच प्रबोधित सुन रहे अभ्यर्थना - अनुरोध,
देवकुल के ध्वंस का था दुखद, दुःसह बोध।

पूर्वजों का स्वाभिमानी जगा गौरव - गर्व,
किया जिसने दानवों का दलन, दुर्मद खर्व।
डूबते को मिल गई, जैसे पकड़ती बाँह,
कहा कच ने दृढ़ स्वरों में, सुदृढ़ था उत्साह--

"मैं उठा लूँगा हथेली पर निखिल ब्रह्मांड,
चूर्ण कर दूँगा दनुज - कुल-- रक्त - पूरित भांड।
कर सकूँ यदि मैं नहीं अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण,
तो पितामह - पिता का होगा न ऋण सम्पूर्ण।

अमर को हो मरण का भय, यह नियति का व्यंग्य;
शौर्य का उपहास, जिसका रहे रिक्त निषंग।"
देवकुल आश्वस्त अब, सब आपदा थी दूर,
प्राप्त कर जयश्री चले जैसे समर में शूर।

बरस कर कादंबिनी, करुणाम्बु की रसधार,
दग्ध मरुथल में खिला दे माधवी श्रृंगार।

जय पराजित को मिले, अभिशप्त को वरदान,
ध्वंस में निर्माण विहँसे, पतन में उत्थान।

सहमते हों, सकुचते हों, जब अधर पर बोल,
चरण की गति रुक गई, पथ पर न सकती डोल।
धैर्य - साहस जा रहा हो छोड़ मन का साथ,
झुक गये हों दीनता से हीनता के माथ।

देव वह, दुर्दैव को दल, बदल दे दुर्भाग्य,
फूंक दे भवितव्य पर कर्तव्य का अनुराग।

कवच कच का था दृढ़ संकल्प, मुदित ऋषि-मुनि का आशीर्वाद,
उदित सौभाग्य, दुरित दुर्भाग्य, जिसे मिल जाये पुण्य प्रसाद।

शकुन शुभ सजा रहे थे पंथ, लिये मंगल घट शोभा-मूल;
देवबालाएँ थीं आ रहीं, लिए नवदूर्वादल फल - फूल।
लहरती रह - रह अतुल उमंग, उमड़ता अचल आत्मविश्वास,
करूँगा करतल में आमलक, सिद्धि बन जाता सतत प्रयास।

बड़ा वह मंगलयुक्त मुहूर्त, उमड़ता जब मन में आनंद,
सिद्धियाँ आतीं अपने आप, जहाँ किंचित् न चित्त में द्वन्द्व !
सोम ने दिया अतुल सौन्दर्य, सूर्य ने दिया अमित आलोक;
तुम्हारी जय यात्रा हो पूर्ण, लोक में रहे न कोई शोक।

वरुण ने कर पावन अभिषेक, भरी थी रोम-रोम में स्फूर्ति,
समुत्सुक दिग्पालों ने कहा— "लक्ष्य की होगी निश्चित पूर्ति।"
अनिल ने देकर प्रबल प्रवाह, बढ़ाया अन्तर का उत्साह;
अनल ने देकर ऊर्जा, ओज, जगाई जीवन - शक्ति अथाह।

मिले अन्तरतम का आशीष, सफलता का अग्रिम अवदान;
असंभव भी संभव बन जाय, शक्ति शब्दों में छिपी महान।
शब्द से होता शक्ति - निपात शब्द से होता वज्राघात,
शब्द से बहता सुधा - प्रवाह, शब्द से सृजन, प्रलय-आघात।

असंशय, अभय, अचल, अविराम, जहाँ पर बन जाता संकल्प,
निमिष में कर लेता है पार, पथिक पथ की सीमा युगकल्प।
बड़ों की चरण-धूलि का अर्घ्य, बड़ों के पद का प्रणत प्रणाम
उठा देता विनयी का शीश, साजकर मुकुट मंजु अभिराम।

तुम्हारा पथ मंगलमय हो।
तुम्हारी यात्रा की जय हो।
उषा लेकर के कुंकुम-थाल, करे चर्चित केशर से भाल,
निशा ले नक्षत्रों की माल, तुम्हारे स्कंधों में दे डाल।
अहर्निश नव स्वर्णोदय हो।
तुम्हारा पथ मंगलमय हो।
जहाँ हो भव-आतप की बाँह, नील नीरद बन जाये छाँह,
बढ़ाये पग मन का उत्साह, सुगम बन जाये दुर्गम राह।
किसी से कहीं नहीं भय हो।
तुम्हारा पथ मंगलमय हो।
तुम्हारी यात्रा की जय हो।

3. प्रयाण

कच चला, चला उत्साह स्वयं वपु धर कर,
बहता था समय-प्रवाह, बहा रस-निर्झर;
संकल्प चला बनने को शिव औ' सुंदर,
निष्पाप बनाने को धरती औ' अंबर।

साधना चली बनने को सिद्धि भवन की,
प्रार्थना चली कल्याण लिए त्रिभुवन की;
विश्वास चला लाने को सुधा गरल से,
इतिहास चला बनने को शृंग अचल से।

पुरुषार्थ चला प्रण को परिपूरण करने,
परमार्थ चला वेदना विश्व की हरने;
अनुरोध चला करने को दुःख - निवारण,
प्रतिशोध चला बन विजय-घोष का कारण।

चिन्तन - अवगाहन - मनन चला उलझाता,
दृढ़ जटिल ग्रंथियों की कड़ियाँ सुलझाता;
अन्तर्लोचन खुल गए, खुला अवचेतन,
सत् - असत् विवेचन, पाप-पुण्य अनुशीलन।

असुरों की चिर-आसुरी वृत्ति निश्चय है,
इससे ही होता उनका अस्त-उदय है।
सुर कभी नहीं वे, जो सुर का वपु धरते,
पर असुरों से भी अधम कर्म हैं करते।

दुर्बुद्धि दाह, दुख, दुरभि-संधि दुलराती,
सद्बुद्धि सौंपती सुख - संपति की थाती;
आसुरी करों में जाकर शासन - सत्ता,
झुलसाती जगजीवन का पत्ता - पत्ता।

इस विषधर के विषदंत तोड़ने होंगे,
टूटतो सृष्टि के सूत्र जोड़ने होंगे,
परित्राण साधु का ही स्वधर्म अब मेरा,
दुष्कृति न लगा पाएँगे जग में डेरा।

किसलिए युद्ध; वह कौन विमोहिनि सत्ता,
वह सर्वशक्ति संचारिणि लोक - महत्ता—
धरती है रंग अनेक रंगिणी बनकर,
या अमृतलता या कभी भुजंगिनि बनकर।

जीवन तो केवल सिंह जिया करते हैं,
दिग्गज पछाड़कर राज किया करते हैं।

कोई न किसी के शीश मुकुट धरता है,
केहरि अपना अभिषेक स्वयं करता है।
मैं पुनः लौटकर स्वर्ग नहीं जाऊँगा,
धरती पर ही मैं खींच स्वर्ग लाऊँगा।

दानव - दल का बल - गर्व खर्व कर दूँगा,
प्रतिदान मान इन्द्रासन कभी न लूँगा।
अब यहीं बसेंगे प्रलयंकर शिवशंकर,
पंचानन ब्रह्मा, विष्णु, लोक - मंगलकर।

विजयी की शोभा - श्री है क्षमा - अहिंसा,
विजितों की शोभा युद्ध, विजय, प्रतिहिंसा।
आया विराम चिंतन में, गहन मनन में,
गुरुधाम सन्निकट लगता था कानन में;

वृषपर्वा की नगरी अब दूर नहीं है,
गंतव्य मार्ग रुक जाता यहीं कहीं है।
लगता है आश्रम यहीं निकट है सुन्दर,
जा रहीं रँभाती धेनु उधर ही सत्वर;

है शान्त हो रहा जगती का कोलाहल,
नीरव, निर्जन संध्या का फैला आँचल।

असुरपुर जा पहुँचा सुरपुत्र, चकित सब कच कुमार को देख,
नील नीरद में जैसे खिची तड़ित की स्वर्णिम उज्ज्वल रेख।
यहाँ क्यों आया है सुर - दूत, कौन पथ, क्या इसका गन्तव्य;
बढ़ी चिन्ता जिज्ञासा विकल, छिपाये क्या नीरव मंतव्य।

निकट आए कुल असुर कुमार, देखते रूप बन गए चित्र;
देखते अपलक मुग्ध की ओर, दिव्य आभा की ज्योति पवित्र।
सौम्य सौन्दर्य खड़ा प्रत्यक्ष, तृप्त हो गए नयन औ' प्राण;
सहज ही स्वागत में बढ़ गए, सभी का था उद्ग्रीव प्रयाण।

"कौन तुम हो, सुन्दर, सुकुमार, कहाँ जाना तुमको किस देश ?
भटक कर इधर आ गए कहाँ, तुम्हारा क्या यात्रा - उद्देश्य ?"
दिया उत्तर कच ने, "मैं चला, स्वर्ग से इस धरती की ओर,
जहाँ रहते हैं शुक्राचार्य, सुयश है जिनका अमित अछोर ।

बड़ी आकांक्षा मन में जगी, बनूँ मैं भी उनका ही शिष्य;
कृपा की छोर मुझे मिल जाय, सँवारूँ जीवन-जन्म-भविष्य ।"
असुर-सुत देख अतिथि का रूप, हो गए थे पहले ही मुग्ध;
सुना स्वर - लहरी का संगीत, और भी थे सब मंत्र-विमुग्ध ।

देखता कोई स्वर्णिम केश, देखता कोई मणि - केयूर;
अनसुना, अनदेखा यह रूप, थिरकते थे मन बने मयूर ।
ले चले आगत को मिल सभी, हृदय में थे स्वागत के भाव;
बना निर्वैर चित्त शंकालु, विनय में होता बड़ा प्रभाव ।

उठ रहा अग्निहोत्र का धूम, वट तले बैठे शुक्राचार्य ।
जटाएँ रहीं धरा को चूम, तपस्वी युग - युग से प्राचार्य ।
दीर्घ पलकें थीं बनीं सुदीर्घ, सतत ऋषि थे समाधि में लीन ।
दिगम्बर, व्याघ्राम्बर आसीन, अंग पर वस्त्र मात्र कौपीन ।

पास में था आहट - संकेत, उमड़ता आता चला समाज ।
खुल गये नयन नील - रक्ताभ, कौन असमय में आया आज ।
प्रणत्त कच कर साष्टांग प्रणाम, दिया अपना परिचय अविराम—
"वृहस्पति - पुत्र, अंगरिष - पौत्र, खोजता आया हूँ गुरुधाम ।"

"वत्स तुम बन्धु वृहस्पति - पुत्र, स्नेह है जिनसे मुझे अपार ।
देखकर तुमको विनत, प्रसन्न, प्रार्थना करता हूँ स्वीकार ।
शरण - आगत को देकर स्थान, मुक्त हो करे ज्ञान का दान ।
वही गुरु भव में वंद्य वरेण्य, शास्त्र-श्रुति का है यही प्रमाण ।

रहो निर्भय, निश्चल, निश्शंक, असुर होते हैं बड़े सशंक ।
तुम्हारा अशुभ न कोई करे, कि जिससे मुझको लगे कलंक

४. तपोवन

ऋषि - आश्रम में जीवन लहरा,
हो गया तपोवन हरा - भरा, जन-जन में थी सुर-सुत-चर्चा;
स्वागत - सत्कार - समायोजन,
सम्मान अतिथि का था क्षण-क्षण, बन गया तरुण सब की अर्चा।

ऊषा - संध्या का गो - दोहन,
कानन - कानन - बन गो-चारण, देता मन को विश्राम परम,
तरु-लतिकाओं का जल - सेचन,
कितना सुखमय कर देता क्षण, घुल जाता है दिन भर का श्रम।

आनंदित थे गुरुकुल - गुरुजन,
गुरुदेव मुदित पा शिष्य - रतन, कच बने स्नेह के आलम्बन;
आश्रमवासी, पुरजन, परिजन,
सेवा में कितना सम्मोहन! उल्लास - हास से भरा भुवन।

निर्जन वन में रस की धारा,
बह उठी भिगोती जग सारा, पतझर में ज्यों मधुमास खिला।
तरु - तरु में नूतन फूल खिले,
सुमनों में सौरभ घुले - मिले; तृण-तृण को नवलावण्य मिला।

कच और देवयानी मिलकर,
जाते प्रातः - संध्या खुलकर, करने को यज्ञ हवन - पूजन।
दोनों के मन अनुराग जगा,
दोनों में प्रीति - पराग पगा, दो देह, एक थे प्राण रमण।

शुक-पिक पुलकित करते किलोल,
तरु - लतिकाओं में डोल - डोल, उठती थी मधुरिम स्वर लहरी।

मन उड़ने लगता यहाँ - वहाँ,
पाने को मधु जाने न कहाँ; सुख - निद्रा आँखों में गहरी

प्रमुदित मन ही मन ऋषि-कन्या,
अपने को समझ रही धन्या, देखा नयनों से प्रथम तरुण,
जिसके प्राणों की सुरभि-श्वास,
बनती भुज - बंधन, प्रणय - पाश, कर देती आनन अरुण-अरुण।

ऋषि-कन्या पथ पर खड़ी-खड़ी,
ले विकल प्रतीक्षा, अश्रुलड़ी, मुखपर सह धूप - छाँह गहरी.
देखा करती थी पथ अपलक,
जा सके दृष्टि जिस सीमा तक; थे नयन बने पथ के प्रहरी।

आ जाता जब कच लिए धेनु,
बज उठती मन की मधुर वेणु, गुंजित हो जाते कुंज - कुंज;
नतमुख निहारती रक्तानन,
रतनारे बन जाते लोचन, खिल उठते सरसिज पुंज - पुंज।

जो कभी न कच आश्रम आएँ,
खिच जातीं चिन्ता - रेखाएँ, होती थी विकल देवयानी;
खो गया कहाँ मेरा सहचर,
क्या भटक गया है इधर - उधर, ऋषि - कन्या बनती बौराना।

कुंजों में जाकर कभी - कभी,
बैठते युगल जग भूल सभी, निरखा करते कुसुमित कानन;
सुन पपिहा की पी - पी पुकार,
बजते प्राणों के तार - तार, सुन पड़ती थी उर की धड़कन।

कच सकुच-अचकचा कर कहता—
"कोई क्या साथ नहीं रहता ? मैं रहता हूँ नित विभ्रम में;
कैसे पहुँचूँ द्रुत - द्रुत आश्रम,
तुमको करना न पड़े कुछ श्रम, मैं हाथ बँटा लूँ उपक्रम में ?"

गल-बाँह डालकर कभी - कभी,
कहती—"तू कितना निर्मोही ? रहता तुझको मेरा न ध्यान,
मैं कैसे समय बिताती हूँ,
कैसे मैं समय सिराती हूँ, कुछ भी होता तुझको न भान।"

बीतने लगे सुर-सुत के दिन,
पक्षों - मासों में जुड़ अनगिन, करते गुरुकुल की शुश्रूषा;
नव समिधा-तृण, नित कुसुम चयन,
नित गो-दोहन, नित गो-चारण, भरते पूजन की मंजूषा।

यज्ञाग्नि कभी हो नहीं मंद,
चिन्ता रहती थी चिर अमंद, चलते नियमित आश्रम के क्रम;
गुरु की शिक्षा, गुरु की दीक्षा,
पूरी करती सारी इच्छा, देती मन को विश्राम परम।

आकुल करता एकाकीपन,
चाहता जाय मिल कहीं स्वजन, हो जीवन की रिक्तता पूर्ण,
सुख - दुख में जिसका बढ़े हाथ,
सुख-दुख भोगे जो साथ - साथ, तो लगे नहीं जगती अपूर्ण।

ऋषि-कन्या अब तक थी निसंग,
पाकर समवय का सुखद संग, उछली - फिरती थी हिरणी-सी;
निर्जन में जाग उठा जीवन,
था मिला युगों में सुहृद - स्वजन, लहरों पर तिरती तरणी - सी।

मलयज बहता था मंद - मंद,
पढ़ता अनुरागी छंद - बंद, बौराये लगते दिग्दिगन्त;
किसका मन उठता नहीं डोल,
सुन सुन पिक के माधवी बोल, श्री - सौरभ जब बिखरे अनंत।

५. संशय

कच देव - पुत्र, गौरांग वर्ण, कमलायत लोचन, केश स्वर्ण,
उन्नत ललाट, दृढ़ वृषभ कंध, आजानु बाहु, वपु स्वर्ग - गंध,
मोहते चराचर सृष्टि - बंध;
सौभाग्यवान के दीर्घ कर्ण, कच देव - पुत्र, गौरांग वर्ण।

स्वर्णिम कुन्तल की लहर-लहर देखते पथिक थे ठहर - ठहर;
पलकों पर अलकों की हिलोर, रोमांचित करती पोर - पोर,
उठ राशि-राशि छवि की झकोर,
रह जाती मुख पर बिखर-बिखर; स्वर्णिम कुन्तल की लहर-लहर।

वाणी में वीणा का कर्षण, करती वह नित अमृत - वर्षण;
श्रुति-पुट को मिलता सुरस-दान, हो जाते शीतल तप्त प्राण;
उत्सुक - उत्कंठित, मग्न - ध्यान
मृग मुग्ध पास आते क्षण - क्षण, वाणी - वीणा का आकर्षण।

असुरों में जगा बड़ा संशय, सुर - सुत में गुरु का हो प्रत्यय !
जाने कब आये घोर प्रलय ! चिंता - शंका का हुआ उदय,
कैसे इस भय से बनें अभय !
प्रति-क्षण चर्चा का यही विषय, असुरों में जगा बड़ा संशय।

शंका उपजाती है शंका, आकुल करती है आशंका;
सुर-पुत्र असुर-गुरु - प्रीति - पात्र, यह छद्म - वेश - धर बना छात्र,
रह गया न संशय लेश मात्र;
ढाहे न विभीषण बन लंका, शंका उपजाती है शंका।

आचार्य शुक्र के पूज चरण, अनुदिन अनुभव कर रहा वरण।
इसमें कोई छलना - रहस्य, घर में भेदी कोई अवश्य;

चर-अचर-जीव-जड़ प्रीति-वश्य;
बन जाती श्रद्धा हृदय-हरण, आचार्य शुक्र के पूज चरण।

दनुजों ने मिल सोचा उपाय, जिससे चिन्ता का शूल जाय;
कर दें न इसे क्यों मिल समाप्त, जो विष बनकर हो रहा व्याप्त ?
अरि-अग्नि न लघु है, वाक्य आप्त।
मिट जाय सदा को हाय-हाय, दनुजों ने मिल सोचा उपाय।

६. प्रतिशोध

दूर, कच आश्रम के अति दूर, मगन-मन गो-चारण में लीन,
कर रहा था वटतल विश्राम, बज रही थी मन की मृदु बीन !
तरंगित मन में विविध विचार, साधना होगी कब यह पूर्ण,
पुनः कब जाऊँगा सुरलोक, सिद्धि-संजीवनि ले सम्पूर्ण।

धन्य है, यह जीवन भी धन्य, हरित वन-प्रान्तर का सहवास;
धेनु-वत्सों का मुग्ध किलोल बढ़ाता है मन में उल्लास।
स्रवित स्तन से माता का नेह उमड़ता आता बनकर क्षीर;
समुत्सुक नयन, समुत्सुक श्रवण, वत्स करते पयपान अधीर।

स्नेह का बहता रहता स्रोत सभी जीवों में एक समान;
भले ही कह न सकें मुँह खोल, नयन से मिल जाती पहचान।
वन्य खग-मृग आकर के पास, सूँघते देह-गंध की श्वास,
पाणि-पल्लव का कर के स्पर्श, ले रहे नव सुख का उच्छ्वास।

पड़ रही थी अलकों पर धूप, तरुतले सघन द्रुमों को भेद;
चमकता कच का आनन-ओज, झलकता मुक्ताकण-सा स्वेद।
बड़ा ही था पावन-निष्पाप, वन्यप्रान्तर का पुण्य प्रदेश;
वहीं पर छिपकर आया पाप, क्रूर असुरों ने किया प्रवेश।

गरज कर कहा एक ने—"कौन, सो रहा है वट-तरु की छाँह ?"
सकुच कच संभ्रम हुआ सचेत, उठाता अलसाई सी बाँह।
कृतांजलि बोला—"अनुचर एक, चराता हूँ गुरुकुल की गाय;
करें आदेश, करूँ शिरधार्य, आपकी वांछित कृपा - सहाय।"

युगों से सुर-गुरु का अरि-भाव, बढ़ाता था मन में उत्साह;
शोध लेने का आया समय, चूक अब होगी भूल अथाह।
दानवों की किंचित् भी त्विषा, त्वरित बन जाती है विस्फोट;
नृशंसों को देती आनन्द किसी पर आघातों की चोट।

प्रकृति सहमी, सिहरी चुपचाप, अवश हो सुनती थी संलाप;
दिशाएँ, पवन सभी निस्पन्द, विवश लखने को पाप-कलाप।
क्रोध में बह जाता है बोध, बधिर बन जाया करते कान;
कौन, क्या किससे कहता कहाँ, नहीं रहता है किंचित् ध्यान।

दनुज - दल ने पा समय - सुयोग, झपट सुर-सुत को लिया दबोच;
पलक में अंग - अंग कर भंग, लिया द्रुत प्राण - पखेरू नोंच।
रक्त - रंजित धरती का अंक, हुआ थर-थर कम्पित आकाश;
उड़ गया था पिंजड़े का हंस, पड़ा निर्जीव पिंड बन ग्रास।

व्याघ्र, वृक, शूकर, गृध्र, शृगाल, पा गए अनायास आहार;
नहीं अवशेष रहा कुछ लेश, रक्त सूखा बन हाहाकार।
सूर्य से देखा गया न दृश्य, तिमिर का अंचल मुख पर तान,
मलिन मुख अस्ताचल की ओर कर गया दिन में ही प्रस्थान।

आ गया अग्निहोत्र का समय, लौट आयीं गुरुकुल में गाय,
न लौटा कच, अब तक है कहाँ, बड़ी चिन्ता, सब थे निरुपाय।
न समिधा-कुश-कुसुमांजलि मिली, शुक्र की भृकुटि हो गयी वक्र;
देवयानी हो गयी अधीर, समझ असुरों का कुटिल कुचक्र।

हृदय कंपित, कंपित थे अधर, हो गया था तन संज्ञाहीन;
नयन में थी अविरल जलधार, न खुलते थे स्वर वाणीहीन।

देवयानी ने अनुनय किया— "पिताजी अन्तर्यामी आप,
ध्यान करके देखें तो कहाँ, पा रहा देवपुत्र संताप।"

धैर्य देते ऋषिवर ने कहा-- "न बेटी इतनी बनो अधीर;
जान लूँगा मैं सभी रहस्य, पोंछ लो दृग से बहता नीर।
करूँगा आवाहन मैं अभी, चराचर के अन्तर को चीर;
प्रकट होगा मेरा प्रिय शिष्य, सामने अक्षत लिए शरीर।"

अधर प्रस्फुरित, मुखर था मंत्र, गगनभेदी स्वर था गंभीर--
"जहाँ भी हो, आओ, सुर-पुत्र ! प्रतीक्षा में हैं सभी अधीर।"
पलक में परिवर्तित था दृश्य, खड़ा कच पद तल किए प्रणाम,
दे रहे थे ऋषि आशीर्वाद-- "जियो शत शरद पुत्र अभिराम।"

लहरने लगा अगरु औ धूप, यज्ञ की लेकर पावन गन्ध,
शंख - ध्वनि, भेरी - झाँझ - मृदंग बनाते जड़ - चेतन निर्बन्ध।
मुदित ऋषि-कन्या प्रमुदित-अंग, देखती मुखमयंक की ओर;
भाव में विस्मय, मुग्ध - विभोर, बन गए सबके नयन चकोर।

गुरु - कृपा पाकर परम कृतज्ञ देखता था कच चारों ओर,
कभी ऋषिवर का आनन दीप्त, कभी ऋषि-कन्या हर्ष-विभोर।
बढा गुरु - चरणों में अनुराग, दिया जिसने नवजीवन दान;
और जो इतनी ममतामयी, करूँगा क्या उसको प्रतिदान।

देवयानी का देखा रूप, खड़ी जैसे करुणा साकार,
अंक भर लेने को निश्शंक रही स्नेहांचल सुखद पसार।
विचरता अब तो कच स्वच्छन्द, आतमविश्वास अचल था साथ;
किसी से क्या भय, चिन्ता कौन, कि जिस पर कालजयी का हाथ।

कुंज - वन में लहरा उल्लास, हुआ सुमनों में नया विकास;
मलय - मारुत मंथर बह चला, खिला तृण-तृण, कण-कण नवलास।
प्रफुल्लित धेनु, प्रफुल्लित वत्स, देखतीं रह - रह कच की ओर,
आ गया जैसे, धर नवरूप, यहाँ वृन्दावन का चितचोर।

दनुज-दल हुआ बहुत उद्विग्न देख करके कच को जीवन्त;
पुनर्जीवित अरि का पुरुषार्थ और भी होता ऊर्ध्व अनन्त।
अग्नि का नन्हा-सा भी स्फुलिंग भस्म कर देता है संसार;
सर्प - शिशु का भी ईषत् दंश स्वयं बन जाता है संहार।

मंत्रणा की सबने संयुक्त, सभी ने निश्चित की नव युक्ति —
"अचल जल में दें कच को डाल, न जिससे मिले कभी भी मुक्ति।"
मंत्रणा की सबने मिल गूढ़, खिल गई आनन पर मुस्कान;
मिल गई जैसे औषध हाथ, कुचलने को विषधर - उत्थान।

न जाने कोई कहीं रहस्य, चले फिर दनुज लिए उत्साह,
कभी इस राह, कभी उस राह, न जिससे पाये कोई थाह।
पाप के कँपते रहते पाँव, खोजता रहता है एकान्त;
लोक से रहता है भयभीत तिमिर का शिविर, निरापद प्रांत।

विजन बन में कच सांयकाल चुन रहा था पूजन के फूल,
असंशय, अभय, अजय, अज्ञेय, प्राप्त ऋषि का आशिष् अनुकूल।
बढ़े फिर दनुज, लिए दल साथ, एक निर्बल का करने अन्त;
रुक गया पवन, झुक गया गगन, सिहरने लगे सभीति दिगंत।

न कच को हुआ कहीं कुछ भान, किया किसने कब-कहाँ प्रहार;
उड़ गया प्राण - पिंड से जीव, एक ही प्राणान्तक पा वार।
उठा शव, शिव - सा सुन्दर रूप, अतल जलनिधि में किया विलीन;
हो गए मुदित, क्षुधित ज्यों व्याघ्र मत्त गज को कर पौरुषहीन।

उड़ी ज्यों ही संध्या - गोधूलि, देवयानी ने खोले द्वार,
प्रतीक्षा अपलक करने लगी, अभी तक लौटा नहीं कुमार।
आ गईं पर्णकुटी में धेनु, बहातीं अश्रु उदास - उदास;
काँपने लगा हृदय अविलंब, हुआ क्या, मिला उसे आभास।

"कुछ नहीं और—कुछ नहीं और, किया है दनुजों ने संहार!
आह मेरा कितना दुर्भाग्य, दानवों का निर्मम व्यवहार।"

हो गई ऋषि - समाधि भी भंग, धेनु - कुल करता आर्त - गुहार;
धधकता आँखों में था क्रोध, प्रलय के झरते थे अंगार।

"दानवों की दानवी प्रवृत्ति, लगे रखने मुझसे दुर्भाव;
अधम-पामर-जड़ - निष्ठुर - नीच, बदलते अपना नहीं स्वभाव।
हिंस्र-पशु हिंसा में आसक्त, घूमते बनकर रक्त - पिपासु,
उचित है इनको दण्ड - विधान, मिटे जगती का संकट - त्रास।"

देवयानी की दशा निहार, स्वयं नयनार्द्र-द्रवित ऋषिराज,
पिता का छलका है वात्सल्य, मातृ - ममता उमड़ी है आज।
मंत्र पढ़ किया जहाँ आह्वान, जलधि के अतल गर्भ को चीर,
आ गया देव - पुत्र प्रत्यक्ष, लिए शुचि सद्यःस्नात शरीर।

७. सिद्धि

दनुज - दल के प्रयास थे व्यर्थ, हुए पर मन में नहीं निराश,
विजय मिलती है उसको नहीं, बैठता जो बन निपट हताश।
किसी का भय न कहीं आतंक, दनुज - दल उच्छृंखल - उद्दाम,
क्रोध का दावानल - अविवेक, भस्म करता अपना ही धाम।

दनुज - दल की थी भीषण हार, देखकर सुर-सुत का सम्मान—
"भले ही रहें न शुक्राचार्य, असह था आत्मदंश - अपमान।
बड़ा है दर्प, सिद्धि का गर्व, खर्व होगा जप - तप - व्रत सर्व,
हमारा नूतन मारण - मंत्र, मनायेगा विजयोत्सव - पर्व।

तपोधन, निश्छल - निर्मल चित्त, सहज विश्वासी, साधु - स्वभाव,
हलाहल भी कर सकते पान, जहाँ स्वजनों का प्रीति-प्रभाव।
हमारी कूटनीति का चक्र, बनेगा इतना मारक वक्र,
कि करके बस निज प्राणोत्सर्ग, बचा पायेंगे कच को शुक्र।"

मंत्रणा की सबने मिल गूढ़— "बनाकर के सुर - सुत को क्षार,
क्षार को मदिरा में दें घोल, मनायें प्रीतिपान त्योहार।
समझ मधु-पर्क, सोमरस - पान, पियेंगे ऋषि माणिक - मकरंद;
पुनर्जीवन देने का मंत्र स्वयं ही हो जायेगा मन्द।

प्रतिष्ठा, प्राण, जन्म, निर्माण, विवशता होगी तब दुःसाध्य;
नहीं आराधक होगा कहीं, रहेगा कहीं नहीं आराध्य।"
मनाते उत्सव बजते वाद्य, झाँझ, ढप, भेरी, ढोल, मृदंग,
थिरकने लगे चरण, उन्मत्त दनुज - दल पाकर नई उमंग।

ध्वजाएँ अरुण, अर्घ्य का थाल, लिए - पूजन के विविध विधान,
चले वृषपर्वा के गिरि - शृंग, गूँजता था नभ - भेदी गान।
कहीं शृंगी थे, कहीं विषाण, लिए था कोई रक्त - कपाल,
दानवों के कण्ठों पर पड़ी थिरकती थीं मुण्डों की माल।

व्याघ्र - चर्माम्बर के कौपीन बनाते रौद्र रूप विकराल,
रक्तनेत्रों में थे अंगार, जल रही धू - धू रक्त-मशाल।
स्वयं ही उन्मुख हो आचार्य देखते शोभा - यात्रा रंग,
इधर ही आता भक्त - समाज, लिए उपहार - हार उत्संग।

नृत्य करते दे - देकर ताल, बज रहा डमरू, भैरव - नाद,
पूज्य चरणों में नत शिर सभी; चल पड़ा समारोह - संवाद—
"तपोनिधि के आराधन हेतु, भक्तगण लाए अनुपम पान;
करें स्वीकार प्रीति - उपहार, सुवासित मदिरा का मधुपान!"

उठ रही मधु की मादक गंध, बनाती ध्यान - धारणा अंध,
समुत्सुक - विस्फारित थे नेत्र, बन रहा था संयम निर्बन्ध।
असुरगुरु का तो था अभ्यास, मदिर - मदिरा का मादक मोह;
पी गए एक घूँट में पूर्ण मधु - कलश, बढ़ा प्रेम-सम्मोह।

दनुज - दल का नव हर्षोल्लास छू रहा था उठकर आकाश;
मनाते विजय, उठा जयघोष, गए अपने - अपने आवास।

न पाकर कच को अपने पास, म्लान ऋषि - कन्या संज्ञा - हीन,
त्यागकर नीर, अन्न एकान्त पड़ी वह, अर्ध - चेतना - लीन।

देवयानी का रुदन विलाप लगा देने ऋषि को संताप;
कहा ऋषि ने, "रुचिकर है नहीं तुम्हारा बारंबार विलाप।
तुम्हारा तुच्छ तरुण में मोह, नहीं यह ऋषि - कन्या शृंगार;
बना मर्मान्तक तुम्हें विछोह असंभव अब कोई उपचार।

किन्तु, मेरे जीवन की श्वास, रही है अनुदित घड़ियाँ हेर,
न जाने कब पंछी उड़ जाय, व्यथाएँ ढाती हैं अंधेर।"
निशाभर ऋषिवर रहे अचेत, उषा लाई चेतन संकेत;
यज्ञ करने को जैसे चले, हुआ मानस भी पूर्ण सचेत।

पढ़ा ऋषि ने आवाहन मंत्र, "कहाँ हो? आओ देवकुमार!"
उदर से उनके गूँजा शब्द— "यहाँ मैं, बन्द देहरी - द्वार।
आपको ज्ञात नहीं, गुरुदेव. मुझे कर भस्म, बनाकर क्षार,
बनाया दनुजों ने मधुपान, जिसे पी गए योग - अवतार।

रहा हूँ नरक - यातना भोग, आपही कर सकते उद्धार,
आप ही करुणा के अवतार, सर्व - सामर्थ्य - सिद्धि - आगार।"
"तुम्हारी सेवा में दिनरात, दे दिया जीवन जिसने दान,
उचित क्या यही उसे प्रतिदान, स्वयं देखे अपना निर्वाण।"

स्वयं में विवश दीन लाचार, देवयानी बोली असहाय;
"न जननी का स्नेहांचल आज, अंक भर देती मुझे सहाय।"
"समस्या विकट, द्विधा है बड़ी, करूँ कैसे अनुप्राणित देह,
देह धर पाये तब सुरपुत्र बनूंगा जब मैं स्वयं विदेह।

तुम्हारी अभिलाषा क्या यही, पिता की ममता का उपहार,
तुम्हें प्रिय मिले, अप्रिय हो गया, तुम्हें अपना ही जनक उदार?"
"नहीं, यह नहीं, यह नहीं तात! घोर पातक एकांग विचार,
तुम्हें तजकर न चाहिए स्वजन. साक्षी पारब्रह्म साकार।"

भले मेरे जीवन की श्वास आज ही हो जाए निस्पंद;
प्राण - पंछी हो जाये मुक्त, तड़पता जो पिंजड़े में बंद !"
तपोधन अचल, पलक भर मौन, "शेष तो अब है एक निदान,
खोलना होगा गुप्त रहस्य, युगों का संचित मंत्र-विधान।

पुत्र का होगा यह कर्तव्य, पिता में करे प्रतिष्ठित, प्राण।
तुम्हारे पूरे दोनों हाथ, पिता-प्रिय का हो मिलन महान।"
नयन में अश्रु, अधर पर हास, देवयानी रोमांचित गात,
एकटक खड़ी मूर्तिवत् जड़ी, खिल उठा मुरझाया जलजात।

तपोधन अचल, पलक भर मौन, "दे रहा हूँ मैं दीक्षा आज,
शेष तब तो है एक निदान, मंत्र से करें प्रतिष्ठित प्राण।"
चक्षु उन्मीलित, गूँजी ऋचा, पढ़ा ऋषि ने आवाहन मंत्र;
उदर को चीर प्रकट सुरपुत्र, सिहर निश्चेष्ट हुआ तनतंत्र।

एक क्षण पहले जो जीवंत, बना था शव साधना - शरीर,
तपस्वी तरुण बना सिद्धार्थ, खड़ा पदतल, प्रणिपात, अधोर।
"एक ही ध्यान, एक अवधान, मंत्र था मुखर शब्द - संधान;
लगी पलभर की अचल - समाधि, मंत्र ने किया प्रतिष्ठित प्राण।

उठ पड़े मुद्रित आँखें खोल तपस्वी, जैसे सद्य स्नात,
दूर दुःस्वप्न, काल की रात्रि, खिला था पावन पुण्य प्रभात।
देवयानी, कच, शुक्राचार्य, देखते एक दूसरी ओर,
छा गया त्रिभुवन में आनन्द, चराचर लहरी हर्ष - हिलोर

अँधेरे में जल जाये दीप, भटकते को मिल जाये पंथ,
साधु हो सुखी, साधना सफल, प्राप्त करके जैसे सदग्रन्थ।
नील नीरद बरसाये सुधा, खिल उठे मरुथल में ही पद्म।
देवता के आने पर बने गृही का जैसे पावन सद्म।

विधाता ने की जो भी भूल, सँवारे कवि देकर छविदान,
स्वर्ण में सुरभि, सुरभि में स्वर्ण, धनी हो चिर - निर्धन विद्वान।

"दिया तुमको संजीवनि मंत्र, युगों की संचित निधि दुर्भेद्य,
मृतक में करो प्रतिष्ठित प्राण, सृष्टि को मिले सृजन - नैवेद्य।

दनुज दल का दारुण विद्रोह, तुम्हारे लिए बना वरदान,
वत्स कच, हुई तपस्या पूर्ण, बनो चिरजीवी आयुष्मान्।
स्वयं मैं पा पातक परिवेश, सिद्धि को करता रहा अशुद्ध;
शक्ति असुरों की बढ़ती रही, बुद्धि अब मेरी हुई प्रबुद्ध।

तुम्हारे पुण्य स्पर्श से तात। मिटा मेरा भी अन्तर्दाह;
युगों का घृणा - वैर - विद्वेष बह गया बनकर अश्रु - प्रवाह।"
असुरदल का अविरल आतंक, मिटे जगती से पापाचार;
युद्ध, विद्रोह, कलह, उत्पात न खोलें नित्य मृत्यु के द्वार।

मिटे मदमत्सर का व्यामोह, व्याप्त हो अगजग में चिर शान्ति,
साधु के हाथों में जा सिद्धि करे भव में नव मंगल-क्रान्ति।"

८. अनुताप

अब आज मुझे हो रहा बोध, अनुताप धधक बन रहा क्रोध।
मैं आश्रम-गुरु आचार्य - प्रवर, प्रज्ञा प्रकांड, चेतना प्रखर—
बन व्यंग्य हँस रही है मुझ पर,
मैं बना स्वयं अपना विरोध, अब आज मुझे हो रहा बोध।

मैं स्वयं बना कुल का कलंक, मस्तक पर चन्दन बना बंक;
अनजाने ही आकर अनिष्ट ले गया छीन मेरा विशिष्ट,
आचरण बना अन्तर अशिष्ट,
निःशंक बन गया मन सशंक, मैं स्वयं बना कुल का कलंक।

यदि करता मदिरा नहीं पान, तो क्यों अनिष्ट होता महान।
मद की मिलती है जहाँ गन्ध, हो जाते मद पी नयन - अन्ध,
टूटते त्वरित साधना - बन्ध,
तनता क्यों विभ्रम का वितान, यदि करता मदिरा नहीं पान।

रे मन! तेरी यह महा भूल, तू प्रेय मात्र मानता फूल;
प्रेयस् पर श्रेयस् बार-बार संहार न कर, जीवन सुधार;
मिलता न जन्म यह बार-बार।
मत बो निज पथ पर शूल-शूल, रे मन! तेरी यह महा भूल।

मानव तन है साधना सद्म, जिसके सहस्रदल प्राण - पद्म;
प्रभुका मन्दिर, विभुका निवास, जीवात्म जहाँ पाता विकास,
बनता अखंड उज्ज्वल प्रकाश।
तू अपने से तो कर न छद्म, मानव तन है साधना सद्म।

दुर्बोध बन गया था सुबोध, अब आज मुझे हो रहा बोध।
प्रतिशोध बना कर्तव्य आज, चुकता कर दूँगा मूल - ब्याज,
जिससे न कलंकित हो समाज,
कोई न रहे जग में अबोध। अब आज मुझे हो रहा बोध।

अपने अतीत को देख - देख, मैं खींच रहा हूँ अमिट रेख।
जिसने मदिरा पी कभी कहीं, वह ब्रह्म - तेज का अंश नहीं,
सब धर्म - कर्म का ध्वंस वहीं,
इसमें न रही अब मीन - मेख, मैं खींच रहा हूँ अमिट रेख।

अनुशोचन - अनुरोदन अरण्य, खोजता शांति सुख-पथ वरेण्य।
जागो, ऋषि के सोये विवेक! जीवन के सुगत सुकृत अनेक!
अब भी व्रतधारी बने टेक;
बन जायें चिन्ताएँ नगण्य। अनुशोचन - अनुरोदन अरण्य।

●

९. अन्तर्द्वन्द्व

कैसी उड़ान अविराम, अनंत, अनश्वर !
निशि-दिन पंखों पर समय-विहग उड़ - उड़ कर,
करता रहता है पार काल - नीलाम्बर,
क्षण, पक्ष, मास, संवत् - शताब्दि मन्वतर।

जो छंद चला लय बनकर, द्रुतगति बनकर,
देता विराम, विश्राम कभी यति बनकर;
चाहता प्रवासी लौट चलूँ निज घर को,
सिद्धियाँ, ऋद्धियाँ लिये, अभीप्सित वर को

रुक गये चरण जिस शरण - वरण को पाकर,
है बिन्दु बन गया सिन्धु - पूर्ण रत्नाकर,
वे कुंज करील कछार बिटप वल्लरियाँ,
जिनमें गातीं अब भी सुधि की किन्नरियाँ।

गुरुकुल, गुरुजा, गोधन, पुरजन औ' परिजन,
भूलते भुलाये नहीं कभी स्नेही जन,
युग-युग के सहचर खग - मृग, ये वन - उपवन,
कैसे तोड़ूँ अनुराग - राग के बन्धन ?

वे धेनु - वत्स, गोचारण - भूमि सुहावन
अब भी वैसे ही लगते हैं मनभावन।
कैसे इन सबसे विदा आज मागूंगा,
जिनका कृतज्ञ, उनको कैसे त्यागूंगा ?

उन असुरों का उपकार नहीं कुछ कम है,
वे कहाँ विरोधी बने ?, कहे जो, भ्रम है;
उनका विरोध - विद्रोह, निरन्तर पीड़न
लग रहे आज, जैसे हों कौतुक - क्रीड़न।

उनकी निर्ममता बनी किसी की ममता,
बाधायें - विघ्न - विरोध जगाते क्षमता,
यदि असुर न निशि - दिन यों पीड़ा पहुँचाते,
ऋषि में करुणा के भाव कहाँ से आते ?

युग-युग का छिपा रहस्य नहीं फिर खुलता;
दृढ़ अचल हिमाचल विचल न होकर डुलता;
हो द्रवित देवयानी देवी कल्याणी,
निर्झरिणी बनती नहीं कठिन पाषाणी।

उसकी करुणा की कोर नहीं यदि मिलती,
कामना - कली तब नहीं कभी भी खिलती;
हैं शुक्राचार्य स्वयं भू के शिवशंकर,
पी स्वयं हलाहल, मुझे दिया अमृतवर।

क्या आज देवयानी से दीन कहूँगा,
आजीवन उपकृत पदतल प्रणत रहूँगा;
जीवन विसर्ग कर दूँ, सौ जन्म निछावर,
तो भी प्रतिदान न पूरा होगा तिलभर।

मेरे जीवन की दात्री, भाग्य - विधात्री,
धृति, क्षमा, दया, करुणा, ममता की धात्री,
यह सिद्धि सकल उसकी करुणा का फल है,
वह सर्व - मंगला, निर्मल गंगा - जल है।

उस तपस्विनी से क्या ये शब्द कहेंगे।
वाणी न रहेगी, केवल श्रवण रहेंगे।
जो हुए सुकृत में मेरे कभी सहायक,
मेरे प्रवास - सहवासी, व्रत उन्नायक,

उन सबका है आभार शीश - आँखों पर,
गाते जिनका गुणगान विहग शाखों पर।

× × ×

थी शुभ्र चाँदनी बिखरी नील गगन में,
फैलाती अपना इन्द्रजाल त्रिभुवन में,
तरु-तरु सम्मोहित, तृण - तृण डोल रहा था,
स्वप्निल आँखों की निद्रा खोल रहा था।

बह चला समीरण मन्द - मन्द पद धर-धर,
जैसे कवि लिखता छन्द - बन्द नवरस भर,
गिरि-शिखरों पर हिम-राशि-राशि भुसकाती,
जब चारु चन्द्रिका लोट - लोट इठलाती।

शारदी लिए कर - पल्लव कोकाबेली
थी घूम रही वन - वन वन नई नवेली।
था बना धरा का अंचल सुघर सलोना,
कर गया अभी ज्यों कोई जादू - टोना।

जड़ बन जाते चेतन, झरती निर्झरिणी,
मिलने को व्याकुल सिंधु - सजन से तटिनी।
नीलोदधि उर्मिल विधु को चूम रहा था,
उन्मत्त, तृप्त, विस्मृति में झूम रहा था।

तब चली देवयानी बन वन की रानी,
कहने को अपनी युग - युग प्रणय - कहानी।
योगी समाधिरत था आसन पर अविचल,
हो स्फटिक - खंड पर पुंडरीक ज्यों निर्मल।

कुसुमायुध ज्यों परिमल प्रत्यंचा खींचे,
धर कुसुमवाण, केशर - कुंकुम से सींचे,
ऐसे ही सुमनांजलि भर युगल करों में,
थी प्रणत पुजारिन चढ़ा रही चरणों में।

योगी की भंग समाधि, स्वप्न जाग्रत् था,
अभ्यंतर से आकर्षक बाह्य जगत् था।

जिस देवी की की थी पूजा, पदवंदन,
है वही कर रही सब कुछ आज समर्पण।

वह आराध्या ही लिए अर्घ्य की अंजलि,
बन बैठी आराधिका स्वयं बद्धांजलि!
कैसा यह मधुमय व्यंग्य नियति का, विस्मय ?
होता संक्रामक स्नेह, नहीं कुछ संशय।

कैसा विचित्र संयोग, विपर्यय क्रम है,
जल में पर्वत, पर्वत में जल उद्गम है।
वैरागी है बड़भागी पा अनुरागी,
अनुरागी पाकर मन बनता वैरागी।

१०. अभिशाप

खड़ी है कच के सम्मुख आज देवयानी अति पुलकित गात,
उड़ रही स्नेह - सुरभि की गंध, खिले हैं प्राणों के जलजात।
कर रही अनुभव, जैसे स्वयं साधना ही बन बैठी सिद्धि,
उसी की हुई परीक्षा पूर्ण, सफलता बनती स्वयं प्रसिद्धि!

आज अनुराग कर रहा विनय— "तजो, हे वनवासी! वैराग्य;
आर्य की हुई तपस्या पूर्ण, सेविका का है यह सौभाग्य!
जगाया जो तुमने अनुराग, कहीं वह बने न आज विराग;
विकल होता रहता है हृदय, सुलग उठती संशय की आग।

आज ही आई है वह घड़ी, प्रीति का मुझे मिले प्रतिदान,
तुम्हारे भुजबंधन में बँधे, देवयानी पाये सम्मान।
करो, प्रिय, विगत दिनों की याद, हुए कितने प्राणान्तक वार;
सदा मैं सदा तुम्हारी रही, मिली सौ - सौ संकट कर पार।

न जाने कितने व्याकुल वर्ष इसी आशा में किए व्यतीत;
प्रलय की घिरी घटाएँ जहाँ, प्रणय की हुई वहीं पर जीत।"
देख कच ऋषि - कन्या की ओर, प्रकंपित देह, प्रकंपित प्राण;
कहे क्या ? वाणी, जड़ थी बनी, न मिलता शब्दों को संधान।

"देवि ! यह सत्य, परम है सत्य, तुम्हारी करुणा का अवदान;
जिया मैं मर-मर कर सौ बार, तुम्हारा है उपकार महान !
बड़ा होता मेरा सौभाग्य, तुम्हारा पा जीवन भर संग,
सृष्टि में रचता नूतन सृष्टि, लहरता तृण - तृण में रस-रंग।

धर्म की मर्यादा का मोह मध्य में उठ कर रहा निषेध,
तोड़ दूँ कैसे बंधन सभी, रहा जो रोम - रोम को भेद ?
किन्तु यह होगा बड़ा अनर्थ, समर्पण गुरु - पद होगा व्यर्थ;
स्वयं तुम बुद्धिमती हो शुभे ! समझने में हो सभी समर्थ !

कहेगा क्या सारा संसार, प्राप्त कर कच ने गुरु से तंत्र,
नीच पामर वह कितना अधम, सुता पर उनको फूँका मंत्र।
किया जिसने मुझपर विश्वास, जिलाया देकर जीवन - श्वास,
पाप कितना होगा, परिताप, उसी का प्रत्यय करूँ विनाश !

तुम्हारे हैं सौ - सौ उपकार, तुम्हारे हैं अनगिन आभार;
न इनसे उऋण हो सकूँ कभी, भले ही जन्मूँ सौ - सौ बार।
देवयानी, कल्याणी देवि ! न देतीं यदि तुम मेरा साथ,
न जाने कब पिंजरे का हंस, उड़ गया होता बना अनाथ।

तुम्हीं ने देकर जीवनदान, प्रतिष्ठित किये देह में प्राण;
स्वयं मैं जो कुछ भी हूँ आज, तुम्हारा ही नूतन निर्माण !"
"समझ लूँ तो क्या इसका अर्थ, स्वार्थ की पूर्ति मात्र था इष्ट,
स्नेह - संवाद, प्रणय के गीत, सभी छलना थे, घोर अनिष्ट !"

"इष्ट था मेरा विद्या - प्राप्ति, साध्य करना जो रहा असाध्य;
लोक - कल्याण, शोक - निर्वाण, सतत गुरुवर मेरे आराध्य !"

भृकुटि में बंक, अधर में कंप, प्रताड़ित प्रेम बना विद्रोह;
क्रोध में ढह जाता है बोध, असह प्रिय का जब बने बिछोह।
"देवयानी क्या तेरे योग्य, शुक्र - कन्या है नहीं अबोध,
बतायेगा तुझको भवितव्य, जानती है वह लेना प्रतिशोध!

विप्र वटु, कायर, छली, नृशंस, तुझ मैं देती हूँ अभिशाप,
नष्ट हो तेरी सिद्धि समस्त, लगे परित्यक्ता का परिताप।
करे जब भी, आवाहन - मंत्र, व्यर्थ हो तेरा स्वर - संधान
योग के योग्य न हो तू कभी, प्रतिष्ठित हो न मृतक में प्राण?"

"अकारण मुझे दिया अभिशाप, सिद्धि करने को मेरी चूर्ण,
किन्तु क्या कोई ब्राह्मण - पुत्र, करेगा तेरी इच्छा पूर्ण!
अन्य देवों को बता रहस्य, प्राप्त कर लूँगा निज गंतव्य,
देव - कुल की रक्षा - कल्याण, साधना सफल, सफल मंतव्य।

देव-कुल पर यदि आई आँच, नहीं सह पाऊँगा संताप,
मुझे चिन्ता है अपनी नहीं, तपाये मुझ तुम्हारा शाप।
स्नेह का आभारी हूँ, देवि! स्नेह से स्निग्ध आज मन-प्राण,
अहर्निश तप - तप भी कल्याणि, तुम्हारा चाहूँगा कल्याण!'

११. विराम

है यहीं स्वर्ग, अपवर्ग, नरक भूतल में,
कुछ धरा नहीं अन्यत्र किसी भी स्थल में।
सुर - असुर एक कल्पना मात्र है मन की,
यह एक विभाजन - रेखा गुण - दुर्गुण की।

कच यहीं, देवयानी भी, गुरु का आश्रम,
तप यहीं, जप यहीं, सिद्धि-साधना का क्रम।
कच ब्रह्मचर्य संकल्प - शक्ति का बल है,
कामना देवयानी का मन दुर्बल है।

जो त्याग प्रेय को श्रेय वरा करते हैं,
वे कच हैं, जो ध्रुव ध्येय धरा करते हैं।
हममें ही सुर हैं, असुर, देव-दानव भी,
है सबका मूलाधार एक मानव ही,

मानव से ऊपर श्रेष्ठ न कुछ भूतल पर,
नश्वर तन में बैठा है चिर अविनश्वर।
उस कालजयी संकल्पव्रती की जय हो,
संजीवनि - सिंचित संसृति सतत अभय हो।

नव जीवन, नवचेतना देश में आये,
नव अरुणोदय की प्रभा क्षितिज पर छाये।

सेवाग्राम

विश्ववंद्य बापू को
उनके ७८वें जन्म-दिवस के
पुण्य पर्व पर
सादर प्रणाम सहित
समर्पित
२ अक्टूबर, १९४६

ग्रंथकार के नाम मालवीय जी का पत्र

प्रिय सोहनलाल जी,

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि तुम अपनी राष्ट्रीय कविताओं को 'सेवाग्राम' नाम से एक ग्रंथ में छपवाकर महात्मा गांधी को उनकी ७७ वीं वर्षगाँठ पर भेंट कर रहे हो। तुम्हारी कविताओं ने देश में सम्मान पाया है। मुझे विश्वास है कि इनका और भी अधिक प्रचार होगा। राष्ट्र के उत्थान और अभ्युदय में ये सहायक हों, ऐसी मेरी कामना है।

मदनमोहन मालवीय
२०-९-४६

ग्रंथ के संरक्षक का वक्तव्य

सेवाग्राम सोहनलालजी द्विवेदी की राष्ट्रीय कविताओं का संग्रह है। द्विवेदी जी की कविताएँ केवल कलाकारों के ही लिए नहीं हैं। उनमें रस तो होता ही है, पर साथ में कुछ जीवन उपयोगी सार भी रहता है। कविता केवल विलास के लिए हो और सार न हो, तो फिर वह निर्जीव सी बन जाती है। इस दृष्टि से सेवाग्राम की रचनाएँ अत्यन्त उपयोगी और पठन-पाठन के योग्य हैं।

घनश्यामदास बिड़ला

प्राक्कथन

डा० अमरनाथ झा, वाइसचांसलर, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

किं कवेः तस्य काव्येन, किं काण्डेन धनुष्मतः ?
परस्य हृदये लग्नं न विघूर्णयति यच्छिरः !

संस्कृत साहित्य में विश्वप्रेम प्रचुर मात्रा में है, परन्तु स्वदेशप्रेम का चिह्न कम है। हमारे पूर्वजों का तो मत था "वसुधैव कुटुम्बकम्।" संसार-मात्र एक है, ईश्वर की समस्त सृष्टि एक है, मानव-जगत् एक है, ऐसी उनकी धारणा थी। परन्तु आधुनिक ऐतिहासिक घटनाओं के कारण सम्पूर्ण जगत् में राष्ट्रीयता का भाव फैल गया है। पहले अपना देश, फिर अन्य देश — यह आज का गान है। इसकी आवश्यकता भी है। पश्चिमीय सभ्यता के बाह्य आडम्बर से हमारे मन में यह भाव उत्पन्न हो गया है कि जो कुछ आज आविष्कार हो रहा है, जो कुछ हमको अन्य देश में देख पड़ता है, जो कुछ हम विदेशीय साहित्य, विदेशीय राजनीति, विदेशीय दर्शन में पाते हैं, वही अनुकरणीय है, और अपने देश की परम्परागत सभ्यता, अपना दर्शन, अपना साहित्य, अपने आदर्श गर्हणीय है, तिरस्कार-योग्य हैं। प्राचीनता और नवीनता का समन्वय उचित है। "पुराणमित्येव न साधु सर्वम्", परन्तु नवीन वस्तुओं का ग्रहण करना, केवल इसलिए कि वे नवीन हैं, उचित नहीं है। आज की परिस्थिति में हमें यह सोचना है कि हमारे देश के किन आदर्शों को हम सुरक्षित रक्खें जिनसे हमारा और विश्व का कल्याण हो। हमें यह शिक्षा अपने शास्त्रों से मिलती है कि हमारा प्रधान धर्म है कि अपने चित्त को शान्त रखकर आनन्द प्राप्त करें। हमारा प्रयास विश्व में शान्ति स्थापित करना होना चाहिए। हम सबसे सुहृद् भाव रक्खें। हम पृथ्वी के जीवन को अपने आरम्भ और अन्त न समझें। हम आदर्शों और अपने कर्त्तव्य के पालन में अपने प्राण खोने से न घबराएँ। जिसने माया और ममता को छोड़कर राष्ट्रसेवा की है, उसकी प्रशंसा करें, उसका अनुकरण करें। सेवाग्राम में इसी आदर्श को सामने रखकर कवितायें लिखी गई हैं।

आज के कवियों में श्री सोहनलाल जी द्विवेदी की कविताओं की राष्ट्रीयता तथा प्रभावोत्पादकता से साहित्य-मर्मज्ञ बहुत प्रभावित हैं। आपके काव्य बच्चे आनन्द से पढ़ते हैं, उनका मनोरंजन होता है। युवकों को इससे प्रोत्साहन मिलता है, नई चेतना मिलती है। प्रौढ़ पाठकों को इसमें विचार की गम्भीरता देख पड़ती है। सत्काव्य का लक्षण यह है कि वह सद्यः हृदय-ग्राही हो, अतः सोहनलाल जी की कविता अवश्य उच्चकोटि की है। इसमें प्रत्येक रुचि को सन्तुष्ट करने की सामग्री है। देश-प्रेम और देश-भक्ति से तो पद-पद अनुप्राणित है। नवीनता के साथ-साथ प्राचीनता का सम्मिश्रण है। अहिंसात्मक जन-आन्दोलन की झलक इन कविताओं में है। और फिर भी कवि का दृष्टिकोण संकुचित नहीं है। राष्ट्र के प्रधान प्रशंसनीय विभूतियों का गुणगान तो है, परन्तु ऐसा नहीं कि किसी समुदाय अथवा समाज-विशेष की इससे कोई क्षति हो अथवा अपमान हो। द्विवेदी जी की कृति शिष्ट है, रसपूर्ण तथा शक्तिपूर्ण है। इससे पहले श्री सोहनलाल जी की कविताओं के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। बालकों के उपयुक्त झरना, शिशु-भारती, बाँसुरी आदि संग्रह हैं। इनको बच्चे पढ़कर प्रसन्न हो सकते हैं और शिक्षा-ग्रहण कर सकते हैं। वासवदत्ता, हिन्दी साहित्य में एक अनूठी रचना है। कुणाल में बड़ी कुशलता पूर्ण अतीत भारत की स्मृति के साथ अमर चरित्रों का सुन्दर परिचय मिलता है। भैरवी से स्वदेश-प्रेम जागृत होता है। युगाधार, पूजागीत, तथा प्रभाती राष्ट्रीय चेतना के काव्य-संग्रह हैं। इन कृतियों से कवि को प्रचुर लोकप्रियता तथा सम्मान प्राप्त हुआ है। परन्तु, इसमें सन्देह नहीं, कि सेवाग्राम का स्थान इन सबसे ऊँचा है।

निवेदन

सेवाग्राम मेरी राष्ट्रीय रचनाओं का संकलन है। ये रचनाएँ भैरवी, युगाधार, प्रभाती तथा पूजागीत से संगृहीत की गई हैं। सभी राष्ट्रीय रचनाएँ एक पुस्तक में पाठकों के समक्ष आ सकें, इस प्रकाशन का यही उद्देश्य है।

अपनी रचनाओं के संबंध में मैं क्या कहूँ? मैं उनके गुण-अवगुण का अच्छा जानकार भी नहीं हो सकता! दूसरा कोई कुछ कहे, तो वह सुनने योग्य भी बात हो सकती है और मान्य भी।

जहाँ अन्य कवियों ने स्वर्णकमलों से भारतमाता की पूजा की है, वहाँ ये निर्गन्ध किंशुक भी अनादृत न होंगे, इतना मुझे विश्वास है।

बिन्दकी, यू० पी०
१ अक्तूबर, १९४६

सोहनलाल द्विवेदी

विज्ञप्ति

सेवाग्राम में कुल ९७ कविताएँ संकलित हैं। ९६ कविताएँ भैरवी, युगाधार, प्रभाती तथा पूजागीत में आ चुकी हैं। केवल निम्नांकित एक कविता किसी अन्य संग्रह में सम्मिलित नहीं है :

राष्ट्रपति सुभाषचंद्र

नवयुवकों में नव उमंग
की नई लहर लहराते चल !
देशप्रेम की पावन गंगा
पग पग पर छहराते चल।

राष्ट्र - ध्वजा नीलाम्बर का
अंचल छूते फहराते चल !
स्वतंत्रता के मधुर युद्ध के
घन घमंड घहराते चल।

चमको राष्ट्र - गगन - मंडल में,
चूमे चरण सिंधु तेरे,
मेरे वीर सुभाषचंद्र !
सौभाग्य - चंद्र बन जा मेरे !

गान्ध्ययन

[गांधी जी के व्यक्तित्व, विचार, एवं जीवन पर लोकप्रिय कविताओं का संकलन]

विज्ञप्ति

गान्ध्ययन में कुल ३९ कविताएँ संकलित हैं। ये सभी कविताएँ भैरवी, युगाधार, चेतना, प्रभाती, पूजागीत, और मुक्तिगंधा में सम्मिलित हैं।

प्रस्तावना

राष्ट्रकवि सोहनलाल द्विवेदी हमारे ज़माने के कवि हैं। वह ज़माना आज न रहा, लेकिन उस ज़माने की भक्ति लुप्त नहीं हुई। इसलिए, आज भी उनकी कविता पढ़ते वही आनंद मिलता है, जो उस ज़माने का था।

मैं तो चाहूँगा, सोहनलाल जी की कविता में से चयन करके एक संग्रह प्रकाशित किया जाये, और आज उसे युवक-युवतियों के हाथ में दिया जाए, जिसके द्वारा उन्हें गान्धी-युग की भावनाओं का परिचय होगा।

—**काका कालेलकर**

आभार

कुछ दिन पहले आचार्य काका कालेलकर साहेब का एक पत्र मुझे मिला था, इसमें यह आग्रह किया गया था कि मेरी गान्धी-विचारधारा की कविताओं का एक ऐसा संग्रह प्रकाशित किया जाये, जिससे गान्धी-युग का दर्शन प्राप्त हो जाए, और वह आज के युवक-युवतियों के हाथों में दिया जाए। उस पत्र के बाद ही मुझे दूसरा पत्र उत्तर प्रदेश गान्धी-जन्म-शदाब्दी के मंत्री करण भाई का मिला। उसमें भी यही अनुरोध था कि अपनी कविताओं का एक ऐसा संकलन कर दूँ, जिससे गान्धीजी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का स्वरूप नई पीढ़ी के पाठकों को प्राप्त हो सके।

प्रस्तुत काव्य संकलन के पीछे गान्धी-विचारधारा के समर्थ प्रवक्ता एवं प्रसारक इन्हीं प्रमुख व्यक्तियों की प्रेरणायें हैं। वस्तुतः, इस प्रकाशन के प्रस्तुतकर्ता वे ही हैं, मैं नहीं। इस सामयिक सत्परामर्श के लिए हृदय से उनके प्रति अनुगृहीत हूँ।

गान्धीजी का सन्देश घर-घर पहुँचाने में गान्ध्ययन कुछ भी सार्थक हो सके तो इस प्रयास को सफल मानूँगा।

२ अक्टूबर १९६९ —**सोहनलाल द्विवेदी**
बिन्दकी, (उ० प्र०)

भाव-विभोर करने वाले छन्द

परमपिता परमेश्वर भगवान राम हुए। जन-जन में उनका प्रवेश हुआ। वे लाखों करोड़ों की आशा के आधार हैं।

राम का गुण-गान हजारों लाखों ने किया। न जाने कितने कवियों ने श्रद्धांजलि अर्पित की। कुछ ने आराध्य देव मानकर, कुछ ने पुष्पांजलि चढ़ाकर और कुछ ने यश और कीर्ति का गान कर उन्हें माना, इसका सारा श्रेय तुलसीदास को था। उन्होंने इसे तुलसीकृत रामायण में लिखा, जो करोड़ों कण्ठों से उद्‌घोषित होती है और होती रहेगी। क्यों ? इसलिए कि उन्होंने इसे शुद्ध सरल भाषा में, साधारण से साधारण जनों की समझने वाली भाषा में, लिखा; उनके दिल को छुआ। शब्दों का आडम्बर नहीं, फिर भी अत्यंत भावपूर्ण है, आज भी जन-जन के कण्ठ में विराजमान है।

आज उसी प्रकार इस युग में महात्मा गांधी हुए। वे मिस्टर गांधी हुए। इसके बाद महात्मा गांधी हुए और फिर हो गये सबके बापू। आज उन्हीं राष्ट्रपिता बापू की शताब्दी हम मना रहे हैं, इसलिये इस अवसर पर उनके जीवन, उनके विचार, उनकी भावना का साहित्य और कविता की आज भर-मार है। हाँ, किसी समय इतना साहित्य प्रकाशित नहीं हुआ है, जैसा आज हो रहा है। यह शुभ चिह्न है और उसका स्वागत है। किसी न किसी रूप में तो लोग इसे लेंगे ही।

परन्तु कुछ चीज टिक जायगी, रह जायगी, जन-जन तक प्रवेश करेगी। उन कुछ में भी सर्वोपरि हिन्दी कवियों में पंडित सोहनलाल द्विवेदी की रचना को मैं स्थान देता हूँ। बचपन से उन्होंने गांधी को देखा, समझा, उस युग में घूमे। सीधी, सच्ची, सही भाषा में सरलता से, साधारण जन भी जिसे दुहरा सके, गुनगुना सके, बापू की वाणी को ऐसे छन्दों में बद्ध किया है। छोटा बच्चा भी जिसे पढ़ता है, गुनगुनाता है और फिर गाने लगता है। मजदूर भी जिसे पढ़ता है और उसे ही अपनी बात उसमें दिखाई देती है। किसान भी जब सुनता है और फिर गुनगुनाता है फिर उसे उसमें अपनापन ही दिखाई पड़ने लगता है। ऐसी उनकी रचना सदा की अमर रचना है। अब तक उन्होंने

विविधता से भरे गांधीदर्शन, गांधी-जीवन पर जो लिखा, आप उसे पढ़िये; उसमें आज भी वही नयापन मालूम होगा।

उन्होंने अब तक जितनी रचनायें की हैं, बहुत हैं; परन्तु इस शताब्दी वर्ष में नयी पीढ़ी को चुने हुए, चुभते हुए, हृदय को उद्वेलित करने वाले, भाव-विभोर करने वाले छंद पढ़ने को मिलें, इस ग्रन्थ में उसी का प्रयास है।

मैं जब पढ़ता हूँ तो भाव-विभोर हो जाता हूँ। पाठक उसी भाव में जायें, इसलिये यह संकलन पाठकों के लिए प्रकाशित किया गया है। मुझे विश्वास है कि इस शताब्दी के अवसर पर यह प्रकाशन बड़ा समयानुकूल और अत्यंत उपयोगी होगा।

अक्षय कुमार करण
मंत्री,
उ० प्र० गान्धी-शताब्दि समिति

अनुक्रमणिका

[वर्णमाला के क्रम से कविताओं तथा सर्गों की
प्रथम पंक्तियों की सूची]

अनुक्रमणिका

पं० सोहनलाल द्विवेदी

- **जन्म :** बिंदकी, २८ फरवरी, १९०६
- **शिक्षा :** एम०ए०, एल-एल० बी०, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा प्रयाग विश्वविद्यालय।
- **बाल साहित्य :** लेखन १९२१ से प्रारंभ, पहली पुस्तक 'दूध बताशा' १९३० में प्रकाशित; लगभग १५ बाल रचनाएँ प्रकाशित।
- **कविता :** प्रथम रचना 'भैरवी' १९४१ में प्रकाशित; सभी रचनाएँ प्रस्तुत ग्रंथावली में संकलित हैं।
- **संपादन :** (१) दैनिक 'अधिकार' तथा मासिक 'बालसखा';
  (२) 'गांधी अभिनन्दन ग्रंथ', 'जय गांधी' तथा 'गांधी शतदल' आदि।
- **मानद उपाधि :** (१) डी० लिट्०, १९७४, कानपुर विश्वविद्यालय द्वारा;
  (२) साहित्य चूड़ामणि, १९६९, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर द्वारा।
- **सम्मान :** (१) राष्ट्रपति द्वारा 'पद्मश्री' के अलंकरण से सम्मानित २६-१-७०;
  (२) कलावलय, कानपुर द्वारा अभिनन्दन १९६८;
  (३) उत्तर प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा अभिनन्दन, १९६८;
  (४) पं० सोहनलाल द्विवेदी अभिनन्दन, ग्रंथ समिति द्वारा १४-९-१९६९ को भव्य अभिनन्दन समारोह तथा राष्ट्र कवि को विशाल अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट;
  (५) राजकीय बालिका इन्टर कालेज बिंदकी का शासन द्वारा नामकरण : सोहनलाल द्विवेदी बालिका इन्टर कालेज, १९७६।

ग्रन्थायन द्वारा प्रकाशित कुछ उत्कृष्ट पुस्तकें

- देखे सत्तर शरद्-वसंत (आत्मकथा) —डॉ॰ राकेशगुप्त
- सोहनलाल द्विवेदी ग्रंथावली (कवि की सम्पूर्ण काव्य रचनाएँ) —सं॰ डॉ॰ राकेशगुप्त
- कुमाउँनी-हिन्दी व्युत्पत्ति कोश —डॉ॰ केशवदत्त रुवाली
- सुमित्रानंदन पंत के साहित्य का ध्वनिवाद अध्ययन —डॉ॰ शेरसिंह बिष्ट
- आ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व —डॉ॰ सान्ध्य प्रभा
- नरेश मेहता का साहित्य : एक अनुशीलन —डॉ॰ विद्यासिंह
- समकालीन कहानी : कथ्य एवं शिल्प —डॉ॰ सविता मोहन
- हिन्दी कविता के प्रमुख वाद —डॉ॰ आदित्य प्रचंडिया
- प्रसाद : समग्र अनुशीलन —सं॰ डॉ॰ प्रभाकर शर्मा
- आधुनिक हिन्दी कवि —डॉ॰ ऋषिकुमार चतुर्वेदी
- उपन्यासकार भगवतीचरण वर्मा —डॉ॰ अर्जुन साहु
- रज्जबदास की सर्बंगी —डॉ॰ शहाबुद्दीन इराकी
- समन्वयवादी आलोचना —डॉ॰ पशुपतिनाथ उपाध्याय
- मैथिलीशरण गुप्त : विचार और अनुभूति —डॉ॰ राजशेखर शर्मा
- हिन्दी समीक्षा में रस-सिद्धान्त —डॉ॰ नीरजा टंडन
- डा॰रांगेय राघव के उपन्यासों में युग-चेतना —डॉ॰ प्रभुलाल वैश्य
- पंतजी की छन्द-योजना का शास्त्रीय अध्ययन —डॉ॰ श्याम गुप्त
- कृष्ण काव्य और नायिकाभेद —डॉ॰ राकेशगुप्त
- आ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी : साहित्य, भाषा, शैली —डॉ॰ बिशनकुमार शर्मा
- तुलसी-काव्य-चिंतन —डॉ॰ अम्बाप्रसाद 'सुमन'
- रस-सिद्धान्त —डॉ॰ ऋषिकुमार चतुर्वेदी
- उर्वशी : समग्र अध्ययन —डॉ॰ दयाकृष्ण जोशी
- साहित्य तथा उसकी विविध विधाएँ —डॉ॰ तारिणीचरणदास 'चिदानंद'
- स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में समकालीन राजनीति —डॉ॰ शन्नोदेवी अग्रवाल
- युगकवि जयशंकर प्रसाद —सं॰ डॉ॰ वेदप्रकाश अमिताभ
- स्टडीज़ इन नायक-नायिका भेद —डॉ॰ राकेशगुप्त
- आधुनिक हिन्दी-काव्य में रूप-वर्णन —डॉ॰ रामशिरोमणि 'होरिल'
- शब्दाकर्षण शैली —डॉ॰ रामशिरोमणि 'होरिल'
- आधुनिक काव्य की उपयोगितावादी प्रवृत्तियाँ —डॉ॰ श्यामलाल यादव 'राजेश'
- हिन्दी भाषा और नागरी लिपि —डॉ॰ केशवदत्त रुवाली
- आलोचक डॉ॰ नगेन्द्र —डॉ॰ पशुपतिनाथ उपाध्याय
- श्रेष्ठ वैज्ञानिक कहानियाँ —यमुनादत्त वैष्णव 'अशोक'
- श्रेष्ठ आंचलिक कहानियाँ —यमुनादत्त वैष्णव 'अशोक'
- श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ —डॉ॰ गोपालबाबू शर्मा